राधाकृष्ण मूल्यांकन माला

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यास

सपादिका
सुषमा प्रियदर्शिनी
एम० ए०, पी-एच० डी०

मूल्य

मूल्य

१५ रुपये

प्रकाशक

अरविन्दकुमार

राधाकृष्ण प्रकाशन

२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

'राधाकृष्ण मूल्यांकन माला' में प्रस्तुत ये निबंध-संग्रह एक विशेष दृष्टि से तैयार किये गये है। हिंदी के प्राचीन तथा नवीन कवियों, साहित्यकारो तथा विशिष्ट कृतियों से संबंधित बहुत-सी ऐसी अमूल्य सामग्री हे जो अलग-अलग आलोचना-पुस्तकों, पत्रिकाओ तथा शोध-ग्रंथों में बिखरी हुई है, और जिसे पाने के लिए किसी भी अच्छे विद्यार्थी या पाठक को कई-कई बार पुस्तकालयों मे जाकर उसे खोजना पड़ता है। इस माला के अधिकारी संपादको ने उस उच्चकोटि की गम्भीर और गवेषणापूर्ण उपयोगी सामग्री को चुनकर यहाँ एक-एक जिल्द मे प्रस्तुत कर दिया है। हमे आशा है कि इस सामग्री का एक जगह सुलभ होना इन कृतियों, कृतिकारो एवं विविध विषयो के अध्ययन में विशेष सहायक होगा।

यहाँ हम उन सब लेखकों और प्रकाशको के प्रति आभार प्रकट करना भी अपना कर्त्तव्य समझते है जिन्होने विभिन्न पुस्तकों तथा पत्रिकाओं से अपने निबन्धों के यहाँ लिये जाने की अनुमति देकर हमारे इस प्रयास को सफल बनाने में योग दिया है।

क्रम

उपन्यास शब्द का प्रयोग

श्रीनारायण अग्निहोत्री

उपन्यास नामक साहित्यांग आधुनिक युग की देन है और यद्यपि यह शब्द संस्कृत भाषा का है, तथापि प्राचीन संस्कृत साहित्य मे उस अर्थ मे वह कभी प्रयुक्त नही हुआ जिस अर्थ मे हम आज उसका प्रयोग करने लगे है।

सर मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोश मे 'उपन्यास' के कुछ अर्थ इस प्रकार दिए है—उल्लेख (mention), अभिकथन (statement), सम्मति (suggestion), उद्धरण (quotation), सदर्भ (reference)।

डॉ० मैकडोनल ने अपने शब्दकोश मे उपन्यास के अर्थ किए है—विज्ञप्ति (intimation), अभिकथन (statement), उद्घोषणा (declaration), वादविवाद (discussion)।

इसके अतिरिक्त संस्कृत के नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों मे 'उपन्यास' रूपक की प्रतिमुख सन्धि के उपभेद की संज्ञा है। इस सन्दर्भ मे उसका अर्थ प्रसादन का लिया गया है। इसकी दूसरी व्याख्या भी है, जिसके अनुसार 'अर्थ' को युक्ति-युक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है।[1]

भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं मे भी यह शब्द अन्य अर्थों मे प्रयुक्त होता है। दक्षिण की भाषाओं (तेलुगू आदि) मे यह शब्द उस अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिस अर्थ मे हिन्दी के व्याख्यान, 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित है। 'उपन्यास' का दाक्षिणात्य प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। अमरूक के प्रसिद्ध श्लोक (२३), **निर्यात: शनकैदलीकवचनोपन्यास मालीजन:** मे व्यवहृत 'उपन्यास' बहुत कुछ इसी अर्थ का वाचक है।

उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि यद्यपि 'उपन्यास' शब्द संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से प्रयुक्त होता था, किन्तु फिर भी आज के व्यवहृत उपन्यास शब्द के अर्थ मे उसका प्रयोग नहीं होता था। गद्यबद्ध पर्याप्त लम्बी कथा के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग सर्वथा नूतन उद्भावना है, जो हमें आधुनिक युग मे उपलब्ध हुई

१. **'उपपत्ति कृतोह्यर्थ उपन्यास: संकीर्तित:।**

है। समय-क्रम से आज उपन्यास का प्रधान तथा अधिकतम प्रचलित अर्थ यही है और इस शब्द के प्राचीन अर्थ केवल सस्कृत काव्य-विचार तक ही सीमित है।

दक्षिण की भाषाओं मे (तेलुगू, गुजराती आदि) अंग्रेजी 'नावेल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द रूढि अर्थ मे परिवर्तित कर दिया गया है। यह शब्द है 'नवल'। गुजराती मे इसके साथ कथा शब्द को जोड़कर 'नवल-कथा' कहा जाता है। यह वस्तुत उपन्यास की प्रकृतिगत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है। उपन्यास वस्तुत· 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है, परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने 'कथा आख्यायिका' आदि शब्दो को छोडकर अंग्रेजी 'नावेल' का प्रति-शब्द 'उपन्यास' माना था, उसकी सूझ की प्रशसा किए बिना नही रहा जाता। जहाँ उसने इस नए शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया कि यह साहित्यांग पुरानी कथाओ और आख्यायिकाओ से भिन्न जाति का है, वहीं इसके शब्दार्थ के द्वारा (उप-नि, न्यास—रखना) यह भी सूचित किया कि इस विशेष साहित्यांग के द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि उपन्यास शब्द कथा अथवा आख्यायिका की प्राचीनतम परम्परा के अनुकूल नही है, फिर भी उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के नितांत विरुद्ध भी नही है।[1]

उपन्यास शब्द एव उसकी परम्परा के बंगला के माध्यम से आने के कारण हमें उपन्यास शब्द के प्रारम्भिक प्रयोग एव तद्गत नवीन अर्थ के आविष्कार का क्रम बगला में ढूंढना पडेगा। 'उपन्यास' शब्द का कथा के अर्थ मे सबसे पहला प्रयोग बगला मे मिलता है। सन् १८५६-५७ मे भूदेव मुखोपाध्यायकृत एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'ऐतिहासिक उपन्यास'। बँगला साहित्य के इति-हासकारो ने इसे ही बगला का प्रथम उपन्यास माना है। सन् १८६१ ई० मे राम-सदय भट्टाचार्यकृत एक दूसरी कृति प्रकाशित हुई, जिसका नाम था 'अद्भुत उपन्यास' यद्यपि यह बंगला का दूसरा उपन्यास नही था, क्योंकि 'अलालेर-घरेदुलाल' नाम की इस प्रकार की एक और रचना प्रकाशित हो चुकी थी। फिर भी इससे यह तो पता चलता ही है कि सन् १८६१ ई० तक उपन्यास शब्द इतना चल चुका था कि अन्य लेखको द्वारा भी इसका नवीन अर्थ मे प्रयोग होने लगा था। 'उपन्यास' शब्द से पूर्व कथा, कहानी, आख्यान, उपकथा, उपाख्यान आदि शब्द बंगला मे प्रचलित थे। यह भी निश्चित है कि उस समय तक बंगला के लेखक अंग्रेजी से प्राप्त साहित्य की एक सर्वथा नवीन विधा 'नावेल' से पर्याप्त रूप

१. 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' में उपन्यास को परिभाषा की सीमा में बाँधने का प्रयास इस प्रकार किया गया है—"उपन्यास एक काल्पनिक गद्य-कथा अथवा इतिवृत्त है जो पर्याप्त दीर्घ होता है और जिसके कथानक में उन चरित्रों और कार्य व्यापारों का चित्रण होता है जो वास्तविक जीवन के चरित्रों और कार्य-व्यापारों को निरूपित करने का प्रयास करते है।"

मे परिचित हो चुके थे। सन् १८७६ ई० मे प्रकाशित एक पुस्तक में भूदेव मुखोपाध्याय ने एक स्थल पर लिखाहै कि 'मैने लगभग बीस वर्ष पूर्व अग्रेजी के 'नावेल' के अनुकरण पर बगला मे एक पुस्तक लिखी थी।' स्पष्ट है कि सकेत 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम की रचना की ओर ही है। वस्तुत. इस पुस्तक में एक कथा नही, अपितु 'अंगरि विनिमय' और 'सफल स्वप्न' नामक दो कथाएँ सकलितहै। यद्यपि 'उपन्यास' की आज की परिभाषा के अनुसार इन कथाओ मे औपन्यासिक तत्व प्राय शून्य के बराबर ही है, फिर भी चूँकि लेखक ने 'नावेल' के ढंग पर इसे लिखने का दावा किया है, इसमे सन्देह नही कि कृति के नाम मे 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग 'नावेल' के ही अर्थ मे किया गया है। भूदेव मुखोपाध्याय से पूर्व भी इस शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रयोग होता था या नही, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, क्योकि सन् १८५६-५७ की इस घटना से पूर्व 'नावेल' के अर्थ मे 'उपन्यास' शब्द का उल्लेख अभी तक प्राप्त नही हुआ है। समुचित सामग्री के अभाव मे यह भी नही कहा जा सकता कि 'उपन्यास' को एक नवीन अर्थच्छाया प्रदान करने के बदले स्वय 'आख्यान', 'आख्यायिका' आदि परम्परागत शब्दो के ही अर्थ का विस्तार क्यों नही किया गया।

जहाँ तक पत्र-पत्रिकाओ का प्रश्न है, 'बग-दर्शन' नामक बंगला पत्रिका मे 'उपन्यास' का सबसे पहला प्रयोग कदाचित् सन् १८६४ मे हुआ।

बकिम के युग (१८७२-९३ ई० तक) को बगला साहित्य का निर्माण-युग कहा जाता हे, इस काल मे 'उपन्यास' शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रयोग प्राय सर्व-साधारण मे होना प्रारम्भ हो गया था।

हिन्दी मे 'उपन्यास' शब्द का सबसे पहला प्रयोग सम्भवतः सन् १८७१ मे एक कथा-पुस्तक के नामकरण मे ही—'मनोहर उपन्यास' के रूप में हुआ। डॉ० माता-प्रसाद गुप्त हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासा की सूची मे इसे शीर्ष स्थान प्रदान करते हे। आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, डॉ० वार्ष्णेय आदि प्रमुख इतिहासकारो की कृतियो में इसका उल्लेख नही पाया जाता है। 'मनोहर उपन्यास' के लेखक के नाम से इसके दो सम्पादकों का उल्लेख मिलता है। डॉ० गुप्त के मत मे 'मनोहर उपन्यास' किसी इतर भाषा की कृति का अनुवाद नहीं है। किन्तु क्या वास्तव मे यह अनुवाद नही है ? इसका लेखक कौन है ? इसकी कथावस्तु क्या है ? इसमें उपन्यास के तत्त्व किस सीमा तक है ? आदि प्रश्नों के लिए विस्तृत अनुसधान कार्य की अपेक्षा है। परन्तु इस प्रसंग मे कदाचित् इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सर्वप्रथम सन् १८७१ मे हिन्दी मे उपन्यास शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।

कुछ लोगों का मत है कि उपन्यास शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रचलन मराठी से आरम्भ हुआ, किन्तु यह मत अग्राह्य है क्योकि स्वय मराठी मे उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रचलन के पीछे यह मान्यता रही होगी कि सस्कृत का प्रसिद्ध गद्य-काव्य 'कादम्बरी' पश्चिम के 'नावेल' से मिलती-जुलती चीज है।

उपन्यास: परिभाषा

डॉ० सत्यपाल चुघ

किसी भी साहित्यांग की नियम-निष्ठ (formal) परिभाषा देना कठिन है। उपन्यास को परिभाषाबद्ध करना और भी अधिक कठिन है क्योंकि यह सर्वाधिक रूपांतरणीय रूप है।[1] अपनी विकासावधि की विभिन्न अवस्थाओं में उपन्यास ने इतने साहित्यरूपों का स्वयं में संश्लिष्य किया है कि वह प्रायः सभी कुछ होता हुआ भी उपन्यास है किन्तु और कोई भी उपन्यास नहीं। अतएव जिस किसी ने भी उपन्यास को परिभाषित करने का साहस किया है वह हारा है;[2] क्योंकि समय से सभी कोई हारते हैं और उपन्यास समय का साथ देनेवाला गतिधर्मा-युगधर्मा साहित्य है—नित्य नवल होते रहने वाला 'नावेल' है। स्थूल रूप में 'न्यूज' (समाचार या समाचारांश) का पर्याय होने से नावेल अपने नव्य (recent) और सत्य (true) दोनों अर्थों को व्यंजित करता है।[3] इस तरह उपन्यास का नाम स्वयं में अपनी परिभाषा भी है। अपने विकासेतिहास में भी इसने उपर्युक्त दोनों गुणों की व्यंजक अभिधा को सदैव चरितार्थ किया है। अतएव इसकी युगधर्मिता तथा तदनुकूल लोचपूर्ण रूपांतरणीय क्षमता के आगे नपी-तुली परिभाषाएँ सदैव अव्याप्ति-दूषित सिद्ध हुई हैं। इस वस्तु-स्थिति को हृदय-

१. Joseph T. Shipley, '*Dictionary of World Literary Terms*', p. 283. "Novel, the most protean of literary forms, is the last to formal definition."

२. Walter Allen, '*Reading a Novel*,' p. 13, "I shall not attempt to define the novel, for where everyone else has failed it is improbable that I would succeed."

३. '*Dictionary of World Literary Terms*,' p. 283. "Our word, roughly equivalent to 'News' suggests a new kind of anecdotal narrative that claims to be both recent and true."

गम कर दो विद्वानो ने ऐसी परिभाषाएँ दी है जो स्वयं में इतनी परिभाषा नही, जितनी नित्य नई-नई दी जाती रहनेवाली परिभाषाओ को रोकने का बहाना है। इनमे से पहली है जार्ज मूर की, जिसके अनुसार, "उपन्यास समकालीन इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नही है। वह, जिस युग मे हम जी रहे है, उसके सामाजिक परिवेश का बिलकुल पूर्ण और सही-सही पुनर्निर्माण है।"[1] इससे प्रकारातर से यह व्यंजित है कि युगानुरूप उपन्यास का विषय, सानुकूल, उसका शिल्प बदलता रहेगा तथा स्वभावत: उसकी परिभाषा भी बदलती रहेगी। इसके अतिरिक्त इससे उपन्यास की वास्तविकता या यथार्थवादिता की व्यापक चित्रण-क्षमता भी व्यक्त हुई है और 'पुनर्निर्माण' से उसकी कल्पना-गृहीत फोटोग्राफिक यथार्थ से भिन्नता भी। दूसरी परिभाषा यह कहकर सारा काम पूरा कर देती है कि "उपन्यास की सबसे उत्तम परिभाषा उपन्यास का अशेष इतिहास ही होगा।"[2] प्रमाणतया, हिन्दी मे ही देखे तो उपन्यास के विकासेतिहास के विभिन्न युगो मे अपने-अपने युग के प्रतिनिधि या मुख्य उपन्यासकारो द्वारा दी गई परिभाषाओ के स्वरूप मे अन्तर आता रहा है जो युगानुरूप उपन्यास की परिवर्तनशीलता की परिचायक है। पहले युग मे यदि किशोरीलाल गोस्वामी ने 'उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एव कुछ छिपी हुई कथा' के 'क्रमश: समाप्ति मे स्फुटित'[3] होने की बात कहकर तत्कालीन घटना-प्रधान उपन्यासो की प्रबलता की सूचना दी, तो दूसरे युग मे प्रेमचन्द ने उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र मात्र'[4] कहकर उपन्यास के बदल जानेवाले दृष्टि-केन्द्र को व्यक्त किया। आगे युग के विकासक्रम को देखकर प्रेमचन्द ने 'भावी उपन्यास' के 'जीवन चरित्र'[5] होने का पूर्वानुमान किया और 'अज्ञेय' ने इसे अपने कार्य से साकार[6] तथा कथन से स्वीकार किया, किन्तु कुछ अपने योगदान के साथ—"अपने उपन्यास मे मैं स्वयं हूँ और उसमे विश्लेषण अपने ही व्यक्ति विकास का विश्लेषणात्मक सिहावलोकन है।"[7] इस तरह 'अज्ञेय' के रूप मे उपन्यासकार आत्मविश्लेषक हो उठा किन्तु इसके विपरीत

१. "The novel, if it be anything is contemporary history, an exact complete reproduction of the social surroundings of the age we live in."
२. Edward Wagenknecht, '*Cavalcade of the English Novel,*' 'Introduction', p. xx. "The only quite accurate definition of the novel is the history of the novel."
३. 'प्रणयिनी परिणय' का 'उपोद्घात', पृष्ठ १।
४. कुछ विचार, पृष्ठ ४७।
५. वही, पृष्ठ ६९।
६. द्रष्टव्य, 'शेखर : एक जीवनी'।
७. द्रष्टव्य, डॉ० दशरथ ओझा कृत 'समीक्षा शास्त्र', पृष्ठ १५३।

यशपाल मे "समाजधारा और विचारधारा के आधार से तारतम्य को प्रकट करना"[१] ही उपन्यासकार का 'अभिप्राय' हो गया है। विषय, शिल्प तथा आकार की दृष्टि से भी हिन्दी-उपन्यास ध्रुवातों को छू रहा है— एक ओर चन्द्रकान्ता और उसकी बढती रहनेवाली 'संतति' देखिए और दूसरी ओर पचास छोटे पृष्ठो का 'सोया हुआ जल'। उपन्यास की परिभाषा को इन सबको समेटना है जो असंभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। वस्तुत: उपन्यास के विभिन्न परिभाषाकार अपने-अपने युग से प्रभावित होकर स्वकीय दृष्टिकोण से उपन्यास के भिन्न-भिन्न पक्षो पर बल देते रहे है और उन परिभाषाओं मे उन्होंने यह प्रयत्न भी किया है कि उपन्यास के असीम लचीले विस्तार मे सिमट आनेवाले दूसरे काव्य-रूपो से उसका अन्तर भी व्यजित हो सके। अतएव निरपवादित परिभाषा देने की अपेक्षा विभिन्न परिभाषाओ में प्राय. सर्वमान्य विशेषताओ को देख लेना अधिक सुलभ-सगत होगा; और वे ये है ·

१. उपन्यास का माध्यम गद्य है—यह उसे काव्य से पृथक् करता है।

२. उपन्यास अपेक्षतया बड़े आकार का होता है—यह उसे कहानी से पृथक् करता है।[२]

३. उपन्यास मे कल्पित कथा होती है—यह तत्त्व उसे इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, पत्रकारिता आदि से पृथक करता है तथा उसकी रोचकता का मुख्य आधार है।[३]

४. उपन्यास का दृष्टिकोण यथार्थोन्मुखी[४] है—यह उसे रोमांस से पृथक् करता है और उस काव्य से भी जो इसकी उपेक्षा भी कर सकता है। उपन्यास का उदय भी यथार्थ दृष्टिकोण से हुआ और उसका विकासेतिहास भी उसकी निरन्तर यथार्थोन्मुखता—काव्य के अपेक्षतया स्थायी जीवन के विपरीत नित्य

१. 'साहित्य सन्देश', 'आधुनिक उपन्यास अंक', जुलाई-अगस्त, १९५६, पृष्ठ ७४।

२. यद्यपि दोनों का मूल अन्तर शिल्पगत है, फिर भी कहानीकार थोड़े में अधिक कहने की बात सदैव ध्यान में रखता है और उपन्यासकार पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं।

३. John Wain, '*Essays on Literature and Ideas*', p. 39 "··· the one feature that sets it apart from journalism or biography—the fact that it offers an account of events that did not in fact take place···".

४. *Ibid*, p. 36. "Novels have always come in many shapes and sizes, but only a very slender minority of them have been anything but realistic···"

परिवर्तित जीवन की अंकन-क्षमता[१]—को ध्वनित करता है। परिवर्तनशील जीवन के यथार्थ को पकड़ने के लिए नए-नए शिल्प का आश्रय भी इसीका परिणाम है।[२]

५. उपन्यास में पात्रों का चरित्रांकन अनिवार्य है—चरित्रांकन करनेवाली अन्य विधाओं से उपन्यास में इसकी सर्वाधिक गुंजाइश है[३] अतएव इसका पृथक् उल्लेख आवश्यक है।

६. उपन्यास मे वर्णन अनिवार्य है—इसके अभाव मे वह नाटक हो जाता है।

७ उपन्यास जैसे सर्वाधिक निर्बन्ध काव्यरूप मे उपन्यासकार की एकल दृष्टि (single vision) अपरिहार्य है—यही उपन्यास के समस्त संयोजन की मूल शक्ति है।[४] और यह दृष्टि उसकी अपनी होती है—उसके व्यक्तित्व की परिचायक।[५]

---

१. Caudwell, *'Illusion and Reality'*, p. 207. "Poetry is the product of a tribe where life flows without much change between youth and age; the novel belongs to a restless age where things are always happening to people and people therefore are always altering"

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कहानी और उपन्यास', 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन', पृष्ठ ४४।

"साहित्य में यथार्थवाद वह धारावाहिक प्रयत्न है जो साहित्यिक शिल्प-विधान और जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अन्यान्य साहित्यांगों की अपेक्षा उपन्यास और कहानियों का साहित्य इस सामंजस्य विधान का शायद सर्वोत्तम वाहन है।

३. E. M. Forster, *'Aspects of the Novel,'* "Human beings have their great chance in the novel. They say to the novelists "Recreate us if you like, but we must come in"

४. Virginia Woolf, *'The Novels of E. M. Forster'*, *'The Death of the Moth'*, p. 107-8. "···If there is one gift more essential to a novelist than another it is the power of combination—the single vision."

५. (a) Robert Penn Warren—"When you try to write a book, even objective fiction—you have to write from the inside not the outside—the inside of yourself you have to find what's there."—*'Writers at Work'*, p. 175-6.

(b) Walter Allen, *'Reading a Novel'* p. 22. "···A good novel is always the revelation of the novelist's own self-discovery.".

८. उपन्यास मे किसी न किसी प्रकार की रोचकता भी अनिवार्य है क्योंकि पाठकों के रंजन के बिना और सब कुछ व्यर्थ हो सकता है।[१]

इसके अतिरिक्त उपन्यास का पृथक् वैशिष्ट्य इसमें भी है कि वह सभी साहित्यांगो से सर्वाधिक बहुग्राही एवं सर्वाधिक लचीली विधा[२] है और उनमे से किसी का आश्रय लेकर भी अपना अस्तित्व बनाए रख सकती है। उसमें सबका विलय हो सकता है किन्तु वह किसी में नहीं समा सकती। इन सब विशेषताओं को मिलाकर उपन्यास की स्थूल परिभाषा देने की गलती करें तो कहा जा सकता है कि उपन्यास वैयक्तिक दृष्टि से वास्तवाभासी कल्पित कथा-पात्रों को लेकर जीवन के एकांगी या बहुरंगी गतिशील यथार्थ को अंकित करने मे नित्य नवल रूप धारण करने में समर्थ, अपेक्षतया बड़े आकार का, रोचक वर्णनात्मक गद्य-रूप है।

(c) Sean O' Faolain, *'The Vanishing Hero'*, p. 34." "every writer is to a large degree writing himself and there is, ultimately, no such state of mind for a creative writer as total detachment."

१. Walter Allen, *'Reading a Novel'*, p. 13. "Entertainment, it need hardly be pointed out, can range from having one's ribs rickled to being purged by pity and terror, but unless the reader is entertained, all else fails."

२. Henry James, *'Selected Literary Criticism'*, p. 182. "The novel is of all pictures the most comprehensive and the most elastic."

मूल-तत्त्व विश्लेषण

डॉ० घनश्याम 'मधुप'

पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो की परिभाषाग्रो के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि 'उपन्यास' की कोई सर्वसम्मत व्याख्या नही की जा सकती। बीसवी शताब्दी मे सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्याग होने के कारण उसका स्वरूप अत्यन्त तीव्र गति से बदल रहा है। इस तीव्र गति को पकड पाना शायद आज के आलोचक के लिए कठिन होता जा रहा है। परिणामतः कोई ऐसी परिभाषा अभी तक नहीं बन पाई है जो इस साहित्याग को अपने सम्पूर्ण परिवेश मे बाँधने मे सक्षम हो। उपन्यासविधा के सम्पूर्ण तत्त्वको समझ पाने के लिए उसकी तत्त्वगत विशेषताओ का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है। प्रारम्भ से लेकर आज तक उनमे जो परिवर्तन हुए है उनसे नये उभरते उपन्यास-चित्र की एक आकृति स्पष्ट हो सकेगी।

उपन्यास की कोई सर्वस्वीकृत परिभाषा देना सम्भव नहीं है। व्यापक दृष्टि से वह गद्य-शैली मे लिखा साहित्य का वह अन्यतम रूप है जिसके मूल मे कथा है। नाटक और महाकाव्य का कथातत्त्व, रगमचीयता एवं काव्यात्मकता को छोड़कर उपन्यास के रूप में विकसित हुआ है। इस दृष्टि से पाश्चात्य साहित्य का प्रथम उपन्यास 'पेट्रोनियस' (Petronius) या 'सटायरीकन' (Satyricon) माना जा सकता है, जबकि हिन्दी मे इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' माना जाता है। दोनो में आधुनिक उपन्यास के बीज रूप का दर्शन हो जाता है। समकालीन उपन्यास की चर्चा करते समय उसका तात्त्विक विवेचन प्रासंगिक नही जान पडता। आज औपन्यासिकता ही उपन्यास का सबसे बडा तत्त्व है। कथा, पात्र, कथोपकथन, वातावरण, शैली और उद्देश्य आदि तत्त्वो का इनमे खोजना अनावश्यक ही होता है। "मै यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्य का वातावरण एक उपन्यास का सबसे बड़ा सद्‌गुण है, जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर है,"—हेनरी जेम्स ने अपने इस कथन में सभी तत्त्वों को तिलाजलि दे दी है।

आज कथानकहीन तथा कथोपकथन, वातावरण तथा उद्देश्य से रहित

अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हे। नायक के पतन की घोषणा रूसी उपन्यास कई शताब्दियो पूर्व कर चुके है। समय, कथानक, चरित्र-चित्रण तथा भाषा के नये प्रयोगों ने आधुनिक उपन्यास को जो नया स्वरूप दिया है उसकी तात्त्विक विवेचना नितान्त असम्भव है। फिर भी इस विघटित औपन्यासिक स्वरूप को शास्त्रीय तात्त्विक-विवेचन के आधार पर खोजा जा सकता है। पूर्व-प्रतिष्ठापित तत्त्वो का विवेचन इस दृष्टि से यहाँ अवलोकनीय है।

कथानक

कथानक उपन्यास का मूलभूत अंग है। प्रायः हिन्दी भाषा मे कथानक को अंग्रेजी 'प्लॉट' के पर्यायवाची शब्द-रूप मे ही प्रयुक्त किया जाता है। कथानक का अपने विशिष्ट अर्थ मे अभिप्राय है, "साहित्य के कथात्मक रूपो, लोककथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि का वह तत्त्व, जो उनमें वर्णित कालक्रम से शृंखलित घटनाओं को रीढ की हड्डी की तरह दृढ़ता देकर गति देता है और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेल की भाँति उगती, बढती और फैलती हैं" (हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृष्ठ २०३)। दूसरे शब्दों मे कथानक घटनाओं का वह सगठनात्मक स्वरूप है, जिसके सहारे उपन्यास का सृजन होता है। घटनाओ का संयोजन जिज्ञासा के आधार पर इस प्रकार किया जाता है कि कथावस्तु एक सूत्र मे बँधी हुई अपनी निश्चित दिशा की ओर अग्रसर होती रहती है। अरस्तू के अनुसार "अच्छे 'प्लाट' या कथानक के तीन अंग होते है—प्रारम्भ, मध्य और अंत। प्रारम्भ मे कथा का स्वाभाविक विकास, जिज्ञासा और भविष्य की सामग्री का बहुत हल्का-सा आभास रहता है। मध्य मे कथा के अन्त और आरम्भ का समन्वय तथा अन्त में कथा के प्रारम्भ का प्रतिफलित परिणाम होता है। कथावस्तु जिन उपकरणों से मिल कर बनती है उनमे कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लॉट), प्रासंगिक कथाएँ या अन्तर्कथाएँ (एपीसोड्स), उपकथानक (अन्डर प्लॉट), पत्र, समाचार, प्रामाणिक लेख (डाक्यूमेंट्स), डायरी के पन्ने आदि है" (हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ १४२)।

कथानक के उपर्युक्त उपकरणो में से आज के उपन्यासो में प्रायः अधिकांश प्रयुक्त नही होते। साथ ही आज के, विशेषकर हिन्दी के उपन्यासों मे एक भी ऐसा उपन्यास नहीं है जिसमे उपर्युक्त उपकरणो मे से कोई प्रयुक्त नही होता हो। इस आधार पर डॉ० सुरेश सिन्हा का यह कथन सत्य हो जाता है कि "यह एक भ्रान्तिमूलक धारणा हल होगी कि उपन्यासों में कथावस्तु का होना अनिवार्य नहीं होना है" ('हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास', पृष्ठ १२)। सच तो यह है कि उपन्यास को लेकर आज तक जितने भी प्रयोग हुए है वे मात्र कथानक तक ही सीमित है। शृखलाबद्ध कथानक, टूटा-बिखराया-बेतरतीब कथानक अथवा कथानकहीन उपन्यासों के प्रयोग होते रहे हैं। "जबकि उपन्यास के कथानक के विषय मे यह कहा जा सकता है कि उपन्यास के विभिन्न उपकरणों में से किसी

एक या कुछ तत्त्वो के अभाव मे भी उपन्यास की रचना हो सकती है, परन्तु उसमे किसी न किसी रूप मे कथानक-तत्त्व का होना आवश्यक है" (डॉ० प्रतापनारायण टडन, हिन्दी उपन्यास कला, पृष्ठ १३५)।

कथानक उपन्यास की रीढ़ है जिसके सहारे उसका मूल ढाँचा स्थिर रह सकता है। अत कथानकहीन या कथानकयुक्त किसी भी प्रकार के उपन्यास के लिए कथानक के गुण और विशेषताओं की जानकारी आवश्यक है। एकसूत्रता कथानक की प्रारम्भिक एव मूल विशेपता है। घटनाओ का क्रमवद्ध सचालन अच्छे कथानक मे होना ही है। कभी-कभी उच्छृंखल कथानक भी उपन्यास को कलात्मक बना देता है; किन्तु ऐसा प्रयोग बिरले उपन्यास-शिल्पी ही कर पाते है। कथानक का आधार कहानी है और कहानी मे घटनाओ का सग्रह होता है। घटनाओ का सकलित स्वरूप ही कथानक होता है। ये घटनाएँ यदि कोरी कल्पनाएं होंगी तो उपन्यास 'सिहासन बत्तीसी' या 'किस्सा तोता मैना' बन जायेगा और इसके विपरीत यदि घटनाओ का सत्यके आधार पर क्रमिक विकास दिखाया गया है तो उपन्यास साहित्य की कोटि से हटकर इतिहास बन जायेगा। कुल मिलाकर उपन्यास मे ऐसी घटनाएँ होनी चाहिए जो कल्पना-प्रसूत भले ही हो किन्तु यथार्थ की भावभूमि पर उनके कार्य-कारण का परस्पर सम्बन्ध उचित जान पड़े। उपन्यास का सत्य, व्यक्ति-सत्य न होकर समाज-सत्य होना चाहिए।

कथानक के लिए मौलिकता भी आवश्यक है। विपयवस्तु की मौलिकता तो प्राय बहुत कम उपन्यासो में पाई जाती है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण का वैशिष्ट्य उसकी मौलिकता मानी जाती है। कथानक या घटनाओ की यह मौलिकता लेखक से अपेक्षा करती है कि उसे जीवन का यथार्थ अनुभव हो। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' (उपन्यास) और चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'उसने कहा था' (कहानी) मे कथानक की इसी कमी की ओर कुछ आलोचको ने इशारा भी किया है। वास्तव में जीवन मे गहरी पैठ और गम्भीर सवेदनशीलता के माध्यम से ही कथानक मे मौलिकता प्रस्तुत की जाती है। वैसे कुछ ऐसे उपन्यासकार भी है जो शब्द-शिल्पी और कलात्मक गठन के आधार पर उपन्यास-लेखक है, किन्तु उनके कथानक मे मौलिकता का कही भी पता नही है। "उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तको मे नही, उन मनुष्यो के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारो तरफ मिलते हे। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी आँखो से काम नही लेते।'''पुस्तकों मे नये चरित्र न मिलें, पर जीवन मे नवीनता का अभाव कभी नही रहा" (प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृष्ठ ८५-८६—वाल्टर बेसेट का कथन)। आधुनिक उपन्यास मे कथानक का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। कुछ विद्वानो की धारणा है कि कथानकविहीन उपन्यास सम्भव हे। वे जीवन को क्रमबद्ध नहीं मानते। कथानक मे घटनाओं का क्रमबद्ध विकास होता हे जबकि नीत्से के अनुसार जो बाते पहले निश्चित कर ली जाती है असत्य सिद्ध होती हे। वैसे भी जीवन में घटनाओ का वैसा क्रमिक विकास आज असम्भव

है जैसा उपन्यास मे पाया जाता है। आज जीवन असम्बद्ध और अविचारित घटनाओं का समूह होता जा रहा है। फिर उसकी अनुकृति उपन्यास मे क्रमबद्ध घटनाओं का विकास कैसे सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार आज के उपन्यासो मे कथानक का शास्त्रीय स्वरूप सम्भव नही रह गया है। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि हिन्दी मे एक भी ऐसा उपन्यास नही है जो कथानक से मुक्त हो। यह अलग बात है कि किसी उपन्यास मे कथानक का कोई एक उपकरण प्रयुक्त हुआ हो और किसी मे कोई दूसरा। हा, कथानक का क्रमबद्ध घटनाओ का स्वरूप आज पूरी तरह लुप्त हो गया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल', 'अज्ञेय' का 'शेखर . एक जीवनी', धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवॉं घोडा' आदि ऐसे ही कथानक-विहीन उपन्यास है।

पात्र

कथानक के पश्चात् उपन्यास का द्वितीय प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण अग चरित्र या पात्र है। उपन्यास की घटनाएँ जिनसे सम्बन्धित होती है या जिनको लेकर उनका घटित होना दिखाया जाता है, वे पात्र कहलाते है। इन्ही पात्रों के क्रिया-कलापो से कथानक या कथावस्तु का निर्माण होता है। "कथा की कल्पना मे ही पात्रो की विद्यमानता है" (हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ४८८)। उपन्यासकार जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए ऐसे पात्रों का निर्माण करता है जो हमारे आस-पास की दुनिया के है। यदि कोई उपन्यासकार अपने उपन्यास मे सशक्त और प्रभावशाली पात्रो का निर्माण नही कर पाता तो वह कदापि सफल नही हो सकता।

उपन्यास-कला के प्रारम्भ में साहसी, सुन्दर और दैवी शक्ति से पूर्ण नायक-नायिकाओ का तथा उनके विरोध में भद्दे, लपट और राक्षसी मनोवृत्तियोवाले खलनायकों का चित्रण किया जाता था, जबकि वास्तव मे ससार के महान् से महान् व्यक्ति मे कही-न-कही कोई कमजोरी अवश्य होती है और उसके दूसरी ओर निकृष्ट-से-निकृष्ट व्यक्ति में भी कोई महानता छिपी रहती है। इस विभिन्नता को चित्रित करना ही उपन्यासकार का कर्तव्य है। "मनुष्य वास्तव मे जो है वही उसका सच्चा चरित्र है" (एबट)। स्कॉट मेरेडिथ के शब्दो मे "चरित्र-चित्रण किसी गद्य के पात्रो की वैयक्तिक तथा विशिष्टताओ के पारस्परिक वैभिन्न्य का स्पष्टीकरण करने वाली एक प्रणाली है।" एम० एल० रॉबिन्सन ने लिखा है कि "चरित्र-चित्रण से यह आशय है कि किसी कथा के पात्रों का अकन कुछ इस प्रकार की स्वाभाविकता के साथ किया जाये कि वे निर्जीव पुस्तक के पृष्ठो से परे मूर्त होकर जीवन्त वैयक्तिकता ग्रहण कर ले" (राइटिंग फार यग पीपल, पृष्ठ ११)।

इन सभी विद्वानो के विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपन्यास में चरित्र-चित्रण यथार्थवादी होना चाहिए—अच्छाइयों और बुराइयों का साकार रूप नही। सॉमरसेट मॉम के अपने विचार से "उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रो

की क्रियाएँ उनकी चारित्रिक विशेपताओ से उत्पन्न होनी चाहिए। पाठक कभी यह न कह सके कि 'अमुक पात्र ने ऐसा कभी न कहा होगा' अपितु उपन्यासकार का ध्येय उससे यह कहलवाना होना चाहिए कि 'बिलकुल ठीक यही वह है जिसकी अपेक्षा मै इस पात्र से करता था।' मै समझता हूं यही सर्वोत्तम है यदि पात्र अपने-आप मे दिलचस्प है।" (द नावेल एण्ड देयर ग्राथर्स)।

उपन्यास मे पात्रो का चरित्र-चित्रण दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम, अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् पात्रो के क्रियाकलाप तथा उनके वार्तालाप से। दूसरा, विश्लेषणात्मक रूप से।

अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण पात्रो के स्वगतकथन अथवा कथोपकथन में एक-दूसरे पात्र के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करने से होता है। साथ-ही-साथ चरित्रो के क्रियाकलाप आदि से भी उनके चरित्र का चित्रण किया जाता है। डेविड कॉपरफील्ड के 'मिस्टर मिकावर', गोर्की की 'माँ' तथा प्रेमचन्द की 'साहूकारिन' अपने विशिष्ट स्वरूप मे पाठकों को जीवन भर स्मरण रहते है।

विश्लेपणात्मक विधि मे लेखक अपने पात्रो का चरित्र-वर्णन स्वयं करता है। इस पद्धति के अनुसार लेखक एक विशेप प्रकार (टाइप) के चरित्र निर्मित करता है, और उस चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण प्रस्तुत करता है। इस विधि के चरित्र-चित्रण मे प्राय: एकाध पात्र का चरित्र तो सध जाता है किन्तु अन्य चरित्रो का अकन असफल रहता है। उदाहरणार्थ 'शेखर' और 'सुनीता' के चरित्रो को लिया जा सकता है। विश्लेषणात्मक विधि मे लेखक पात्रो के सम्बन्ध मे स्वय अपना मत प्रस्तुत करता है। वह स्वय पात्र की विशेपताम्रो को पाठक के समक्ष उभारकर रखता है। यह प्रणाली इतनी सरल और सहज है कि प्रारम्भिक सभी उपन्यासो मे इसे ही अपनाया गया है। पात्रो का अपना स्वतन्त्र विकास इससे कभी सम्भव नही हो सकता। किन्तु आज के उपन्यासकार इस पद्धति को आकर्पक बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण परिस्थितियो और सघर्पों के बीच उपन्यास के अन्य पात्रो को इस प्रकार क्रियाशील रखते है कि वे मात्र कठपुतली नही रह जाते। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास मे चित्रलेखा के अतिरिक्त अन्य पात्रो का चरित्र भी उतना ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

कथानक की तरह पात्रो के चरित्र-चित्रण की भी अपनी विशेपताएं होती है। मुशी प्रेमचन्द के शब्दो मे "उपन्यास चरित्रो के विकास का ही विषय है, उसमे विकास-दोष है तो उपन्यास कमजोर हो जायेगा" (कुछ विचार', पृष्ठ १८)। स्वाभाविकता चरित्र-चित्रण का अनिवार्य अग है। लेखक को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि मनुष्य मनुष्य है। वह न तो सिर्फ राक्षस है और न सिर्फ देवता। इन दोनो का सम्मिलित स्वरूप ही इंसान है। एक उर्दू कवि के शब्दों में—

आदमी ही के गुनाहो से इस क़दर परहेज,
आप भी कैसी हिमाक़त की बात करते है।

—ताज भोपाली

अर्थात् आदमी=देवत्व+असुरत्व—यह वर्गीकरण उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का भी होना चाहिए। तोलस्तॉय ने डिकन्स के पात्रो के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'वे मेरे निजी मित्र है।' इससे उनका अभिप्राय यही है कि उनमे स्वाभाविकता का गुण है।

दूसरे अग के रूप मे हम चारित्रिक मौलिकता को ले सकते है। प्रत्येक व्यक्ति पर अपने देश, जाति और वातावरण का प्रभाव पडता है। यदि यह देश, जाति एवं वशगत मौलिकता चरित्र मे लेखक के अपने अज्ञान से नही है तो वह चरित्र एक श्रेष्ठ उपन्यास के योग्य नही है। स्मरण रखना चाहिए कि मौलिकता का अर्थ ऐसे चरित्रो के निर्माण से नही है जिनका अस्तित्व न तो इस ससार मे है और न होगा ही। मौलिकता का अर्थ मनुष्य के विभिन्नत्व मे एकत्व और एकत्व मे विभिन्नत्व में है। मुशी प्रेमचन्द के शब्दो मे "किन्ही भी दो आदमियों की सूरतें नही मिलती, उसी भाँति आदमियो के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियो के हाथ, पाव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते है पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सभी चरित्रो में भी बहुत-कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती है। यही चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व और भिन्नत्व और विभिन्नत्व मे अभिन्नत्व दिखाना उपन्यासकार का मुख्य कर्तव्य है' ('कुछ विचार', पृष्ठ ७२-७३)।

प्रत्येक उपन्यास के लिए कथानक अत्याज्य है; कथानक मे घटनाओ का संकलन होता है तथा घटनाओ का सम्बन्ध चरित्रो से होता है। अतः कथानक और चरित्रो का सीधा एव अनुकूल सम्बन्ध अनिवार्य है। कथानक के प्रतिकूल चरित्रो का विकास उपन्यास को असफलता के कगार पर लाकर खडा कर देता है। महाभारतकालीन कथा पर आधारित उपन्यास में आधुनिक वेशभूषा से सुसज्जित सिपाही का चरित्र न केवल भोंड़ा होगा बल्कि उसका विकास कथानक के विपरीत होगा। इस प्रकार के विरोधाभास से बचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने उपन्यास मे ऐसे चरित्रो का सृजन करे जो कथानक के अनुकूल हों। यह अनुकूलता देश, काल एव वातावरण सापेक्ष होनी चाहिए।

इन सबसे पहले एक श्रेष्ठ उपन्यास के लिए सजीव पात्रो का सृजन आवश्यक है। यह गुण अपने-आप में चरित्र के सभी गुणो को समाहित किये रहता है। आधुनिक उपन्यासकारो की यह विशेषता है। उनके चरित्र सजीव और सहृदय होते हैं। सृजन के पश्चात लेखक उनके स्वच्छंद विचरण में हस्तक्षेप नही करता। समाज के घात-प्रतिघात के आधार पर उनका सहज विकास होता है। मानव-मन की सवेदनशीलता और सहृदयता से युक्त ये पात्र अपनी सजीवता से कथानक के साथ आगे बढ़ते है। वास्तव में उपन्यास में चरित्र-चित्रण की विशेषता उपन्यास के पात्रो की सप्राणता से ही स्पष्ट होती है। असामान्य पात्र अस्थायी दृष्टि से पाठक के मन में कौतूहल वृत्ति को जाग्रत तो करते है किन्तु उनका प्रभाव क्षणिक होता है।

पात्रो के चरित्र-चित्रण मे उनकी अन्तर्द्वन्द्वात्मकता भी अनिवार्य है। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति के क्रियाकलाप उसकी अपनी मानसिक कुंठाओ अथवा अचेतन सें सचालित होते है। एक ही परिस्थिति मे भिन्न-भिन्न पात्र पृथक्-पृथक् व्यवहार करते है, जिसका मूल कारण उनकी अपनी मानसिक स्थिति है। कभी-कभी यह भी होता है कि एक ही पात्र समान स्थिति मे ही विरोधी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इस सबका मूल कारण उस व्यक्ति की अपनी चित्तवृत्ति, परिस्थितियो का प्रभाव और पात्र की मानसिक अवस्था आदि रहते है।

आधुनिक उपन्यासो मे अन्तर्द्वन्द्वात्मकता का विशेष स्वरूप देखने को मिलता है।

कथोपकथन

कथोपकथन का मूल उपयोग पात्रो के मनोवेग, उनकी प्रवृत्तियो, उनकी इच्छा-अभिलाषा, राग-द्वेष आदि को सजीव अभिव्यक्ति प्रदान करना है। "इस तत्त्व के द्वारा हम उपन्यास के पात्रो से विशेष परिचित होते और दृश्य-काव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत-कुछ अनुभव करते है" (डॉ० श्यामसुन्दर-दास : 'साहित्यालोचन', पृष्ठ २०५)। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दो मे उपन्यास की वास्तविकता चरित्रो के कथोपकथनों की स्वाभाविकता पर बहुत-कुछ निर्भर करती है।

सार्थक और सजीव कथोपकथनो का विशेष महत्त्व होता है। पाश्चात्य साहित्यिकों मे सजीव कथोपकथन की दृष्टि से सुकरात का नाम अग्रणी है। वह अपने दार्शनिक विचारो की नीरसता को कथोपकथन के माध्यम से सरस बना देता था। लूसियन ने अपने संवादों मे हास्य और व्यग्य को स्थान दिया है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि लैंफार के अनुसार "प्रत्येक युग मे सर्वश्रेष्ठ लेखको ने कथोपकथन शैली में ही अपने विचारों को प्रकट किया है" (डॉ० प्रतापनारायण टंडन; 'हिन्दी उपन्यास कला', पृ० २२६)।

कथोपकथन की योजना प्राय: उपन्यासो में निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होती है।

सवादो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कथानक से होता है। कथानक का विकास सहज ही संवादो के माध्यम से किया जा सकता है। उपन्यास की प्रत्येक घटना विवरणात्मक होती है। लेखक के लिए उन सबका विस्तार सम्भव नही होता और तब कथोपकथन उस समस्या का निदान उपस्थित करते है। सवादों द्वारा लेखक अतीत की सूचना और भविष्य का निर्देश देता है। कथानक की एकसूत्रता और उसमे निहित जिज्ञासा-भाव का सूत्रपात भी कथोपकथन द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त कथानक मे वैविध्य, रोचकता और स्वाभाविकता के गुणो का समुचित समावेश भी श्रेष्ठ कथोपकथन के द्वारा ही हो पाता है।

कथानक के पश्चात् उपन्यास के द्वितीय मूल तत्त्व—पात्रों से भी कथोपकथन का सीधा सम्बन्ध होता है। आज के उपन्यास अथवा नाटक से स्वगतकथन लगभग समाप्त ही हो गया है। अतः दो पात्रों के बीच वार्तालाप पाठक को उनके समीप पहुँचाता है। किसी-न-किसी पात्र से पाठक का तादात्म्य हो जाता है और वह उसके सहारे उपन्यास के अधिक निकट पहुँच जाता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण मे कथोपकथन सर्वाधिक सहायता देता है। एक पात्र के दूसरे के सम्बन्ध मे विचार, दूसरे के सम्बन्ध मे तीसरे के विचार प्रकट करते हुए लेखक कथानक को अग्रसर करता चलता है। इस प्रकार कथोपकथन पात्र की चारित्रिक विशेषताएँ, उसके अन्तरमन की कुठाएँ खोलकर उपन्यास में रोचकता उत्पन्न करते है। साथ ही पाठक को उपन्यास के समीप ले जाने मे सफल होते है।

उपर्युक्त उद्देश्यो के अतिरिक्त आधुनिक उपन्यासकार कथोपकथन के माध्यम से अपने न होने की क्षति-पूर्ति भी करते है। प्रारम्भिक उपन्यासो मे लेखक अपने-आपको तटस्थ नही रख पाता था। अत. कथानक मे जहाँ भी अवसर आता वह अपनी ओर से दो-चार पक्तियो से लेकर कई-कई पृष्ठ तक का कथानक रखकर पाठक और कथावस्तु के बीच व्यवधान उत्पन्न कर देता था। आज का उपन्यासकार अपने किसी विचार, उद्देश्य आदि का प्रकटीकरण परोक्ष रूप से किसी पात्र के कथोपकथन द्वारा ही करता है। इस प्रकार आज का लेखक नेपथ्य मे रहकर भी अपने मानसिक पात्रो के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है।

उपन्यास मे कथोपकथन अपने सजीव रूप मे इस प्रकार आते है कि वे नाटक के अभिनेता की पूर्ति भी कर देते है।

प्रेमचन्द ने कथोपकथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना कम लिखा जाए, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नही होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को, जो किसी चरित्र के मुँह से निकले उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियो के अनुकूल सरस और सूक्ष्म होना जरूरी है" ('कुछ विचार', पृष्ठ १०३)।

मुशी प्रेमचन्द के इस कथन मे कथोपकथन के सभी गुण आ गए है। उनका घटना और पात्रो के अनुकूल होना प्रथम शर्त है। उनको देश, काल और परिस्थिति के उपयुक्त भी होना चाहिए। साथ ही उसे कथानक से सम्बन्धित तथा सूक्ष्म होना चाहिए। कई उपन्यासो मे अत्यधिक लम्बे विवरण पाठकों मे ऊब उत्पन्न कर देते है—ऐसे पृष्ठो को पाठक सहज रूप से पलटकर आगे बढ़ जाता है। 'भूले बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा), 'सती मैया का चौरा', (भैरवप्रसाद गुप्त), 'मृगनयनी' (वृन्दावनलाल वर्मा) मे कई पृष्ठो के लम्बे विवरणों की भरमार है।

कथोपकथनों की भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए। प्राय. देखा गया है कि

कई उपन्यासो मे गँवार पात्र संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलता है। इस सम्बन्ध मे उदय-शंकर भट्ट का 'सागर, लहरे और मनुष्य' की रत्ना का चरित्र द्रष्टव्य है। मछुआ जाति की युवती अपने घर और समाज मे वही भाषा बोलती है जो उनकी अपनी मातृ-भाषा है और अपनी सखी सरिता से शुद्ध खडीबोली मे बात करती है जो सहज स्वाभाविक है। "कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नही होनी चाहिए वरन् उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए।" (डॉ० गुलाबराय, 'काव्य के रूप', पृष्ठ १७२)

आधुनिक उपन्यासो मे कही-कही कथोपकथन की न्यूनता प्रकट होने लगी है। ऐसे उपन्यासो में डायरी, पत्र आदि का प्रयोग होता है। कुछ उपन्यास उत्तम पुरुष मे लिखे गए है, जिनमें कथोपकथन नही के बराबर है। कामू का 'पतन' (The Fall) तथा 'प्लेग' आदि उपन्यास इसी प्रकार के है। हिन्दी मे 'सूरज का सातवाँ घोडा' इस प्रकार के उपन्यासो की कोटि मे आता है।

इस प्रकार के कथोपकथन-हीन उपन्यासो की रचना लेखक अपने शिल्प तथा औपन्यासिक कौशल से ही कर पाते है।

वातावरण और देश-काल

दोस्तोएव्स्की के शब्दो मे "पात्र इतने यथार्थ हो कि हम उनमें अपने-आपको रख सके और वातावरण इतना यथार्थ हो कि हम उसमे चल-फिर सकें।"

उपन्यास की स्वाभाविकता की दिशा मे वातावरण या देश-काल की रक्षा का प्रमुख स्थान होता है। देश-काल के अन्तर्गत किसी भी राष्ट्र या समाज की वेशभूषा, रीति-रिवाज एवं सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियां आदि सम्मि-लित है। आज का उपन्यास चूँकि यथार्थ की भाव-भूमि पर खडा है अत: कथानक को अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए उचित वातावरण आवश्यक होता है। डॉ० गुलाबराय के विचार से "कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहते है। यदि वे भगवान् की भाँति देश-काल के बन्धनो से परे हो तो वे भी हम लोगो के लिए रहस्य बन जायेगे। इसलिए देश-काल का वर्णन आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नही देता उसी प्रकार बिना देश-काल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नही होता और घटना-क्रम के समझाने के लिए भी उसकी आवश्यकता होती है" ('काव्य के रूप', पृष्ठ ७३)।

उपन्यास मे वातावरण का प्राय. कथा-काल और कथा-प्रकारानुसार चयन किया जाता है। सामाजिक उपन्यासो की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासो मे देश-काल का विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त आंचलिक उपन्यासो के लिए तो देश-काल अथवा वातावरण जीवनी तत्त्व है। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' इसका उदाहरण है। बरसोवा एक मछुवारी बस्ती है—झोपड़ियाँ और, उनके आगे सूखती मछलियो की टोकरियाँ, समुद्र, जाल, नावें, औरतों का पुरुषों

के साथ बीड़ी और शराब पीना, पुरुषो और स्त्रियों का समान रहन-सहन और वेशभूषा इन सबसे पाठक के सामने बम्बोवा सजीव हो उठता है। इसी प्रकार रेणु, नागार्जुन तथा रांगेय राघव के उपन्यासो में वातावरण प्रधान तत्त्व के रूप मे प्रकट हुआ है।

कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गए है, जिनमे पात्रो अथवा कथानक की महत्ता नही है। सम्पूर्ण उपन्यास में वातावरण ही प्रधान है। थैकरे का 'वैनिटी फेयर' पाश्चात्य साहित्य मे इसी प्रकार का उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास साहित्य मे 'अज्ञेय' का 'अपने-अपने अजनबी' इस श्रेणी मे आता है। वैसे हिन्दी के उपन्यास-कारो मे देश-काल एव वातावरणका सर्वाधिक सफल चित्रण करनेवालों मे उपेन्द्र-नाथ 'अश्क' का नाम अग्रणी है।

इसके बाद भी आज अधिकांश ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे है जिनमे वाता-वरण या देश-काल नही है, अथवा न्यून है। जिस प्रकार हिन्दी मे देश-काल और वातावरण का स्वाभाविक विकास सर्वप्रथम हम प्रेमचन्द के उपन्यासो मे पाते है उसी प्रकार देश, काल और वातावरण का सर्वप्रथम ह्रास हम जैनेन्द्र के उपन्यासो मे पाते हैं। जैनेन्द्र के 'सुनीता' और इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' में पाठक पात्रो की घटनाओं मे रमा रहता है। पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य मे फ्रांसो मारिया का 'दैट व्हिच वाज लास्ट' तथा ऑन्द्रेजी का 'तंग दरवाजा' इसी प्रकार के उपन्यास है।

इसी प्रकार आज के नये हिन्दी उपन्यासो मे वातावरण या देश-काल का ह्रास होता जा रहा है। उदाहरणार्थ जैनेन्द्र, उषा प्रियंवदा, कमलेश्वर आदि के उपन्यासों मे इसे देखा जा सकता है। ऐसा नही कि इन उपन्यासों मे वातावरण या देश-काल का पूर्णतः लोप हो चुका है, वरन उनमे इसकी प्रधानता नही है। प्रथम दो-तीन अध्यायों मे लेखक उसकी आवश्यकता अनुभव करता है और आगे चलकर केवल पात्र और उनकी घटनाएँ उपन्यास का मुख्य अंग रह जाते है।

इसी प्रकार देश-काल या वातावरण उपन्यास मे एक आवश्यक अंग होते हुए भी आज सम्पूर्ण उपन्यास विधा के लिए अपरिहार्य अंग नही रह गए है।

शैली

"प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ या इति है" (बर्नार्ड शा)।

साहित्य की किसी भी विधा का बाह्य स्वरूप अभिव्यक्ति का माध्यम होता है और उस माध्यम का स्वरूप ही शैली है। विचारों के अनुकूल भाषा और भाषा के अनुकूल साहित्यिक विधा का गठन उपन्यास का पाँचवाँ प्रधान तत्त्व है। उपन्यास में आज जीवन की प्रतिछवि अंकित नही की जाती वरन् जीवन को अपने मौलिक रूप मे दर्शाया जाता है। इस प्रकार जीवन की गम्भीरता और जटिलता के अनुरूप ही उपन्यास की भाषा-शैली में विविधता के दर्शन होते है।

प्रारम्भ काल मे लगभग सभी भाषाओं के उपन्यासों मे एक ही प्रकार की

शैली प्रयुक्त होती रही है—अन्य पुरुष की वर्णनात्मक शैली। इस शैली मे उपन्यासकार को अपने विचारों की अभिव्यक्ति मे सहजता प्रतीत होती है। सीधे-सादे मन के विचारो को प्रकट करनेवाली यही सबसे पुरानी और आज तक चली आ रही शैली है।

आधुनिक उपन्यास विधा विभिन्न शैलियो मे लिखी जा रही है, जिनमे से प्रमुख इस प्रकार है—(१) वर्णनात्मक शैली; (२) मनोविश्लेपणात्मक शैली; (३) पत्र-शैली; (४) डायरी शैली; (५) आत्मकथात्मक शैली तथा (६) कथा शैली।

वर्णनात्मक शैली—वर्णनात्मक शैली मे उपन्यासकार एक कथाकार के रूप मे घटनाओ का वर्णन करता चलता है। उपन्यास मे पात्रो के चरित्र-चित्रण, वातावरण, देश-काल के निर्माण तथा कथानक के उद्देश्य की ओर बढने मे इस शैली से अत्यधिक सहायता मिलती है। इसका यह अर्थ नही है कि वर्णनात्मक शैली मे उपन्यास सहजता से लिखा जा सकता है। "एमिल जोला जैसे कुशल उपन्यासकारों के हाथ मे भी वर्णनात्मक प्रसग अकसर बोझिल हो जाते है जैसा कि उसके प्रसिद्ध उपन्यास—'नाना' मे देखा जा सकता है" (डॉ० प्रतापनारायण टण्डन, 'हिन्दी उपन्यास कला', पृष्ठ २५९)। वर्णनात्मक शैली को ऐतिहासिक शैली भी कहा जाता है। इतिहास-लेखन इसी शैली मे होता है। विश्व के सभी उपन्यासों मे किसी-न-किसी रूप मे हम इस शैली को देख सकते है। फिर भी विशेष रूप से ऐतिहासिक एव रोमाटिक उपन्यासों मे यह शैली अत्यधिक सफल रही है।

मनोविश्लेषणात्मक शैली—आधुनिक युग के तीन महान् विचारको—फ्रायड, मार्क्स तथा डार्विन ने आज के बुद्धिजीवियो को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मनुष्य के चेतन, अवचेतन तथा उसकी कुंठाओ का विश्लेपण कई उपन्यासों मे हुआ है। व्यक्तिपरक तथा यथार्थवादी उपन्यासों मे यही विश्लेषण तर्क-प्रधान होकर प्रकट होता है। मानसिक द्वद्वो तथा सघर्ष से युक्त पात्रो का चरित्र-चित्रण मनोविश्लेपणात्मक शैली मे ही किया जाता है। इस शैली की विशेषता है कि यथार्थ की खोज करते-करते लेखक कभी-कभी काल्पनिक कथानक की सृष्टि भी कर देता है, जैसे आल्डस हक्सले के 'एप एण्ड एसेन्स' तथा जैनेन्द्र के कई उपन्यास किसी एक विचार को यथार्थ मानकर चलते है तथा उसकी पूर्ति के लिए काल्पनिक कथानक का निर्माण करते है। इस प्रकार लेखक विश्लेपणात्मक शैली मे घटना-निर्माण मे थोडी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है। अस्तित्ववादी उपन्यासकारो ने इस शैली का अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया है। कामू का 'आउट साइडर' इसी प्रकार का तर्क-प्रधान उपन्यास है। 'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय का इसी शैली में लिखा श्रेष्ठ उदाहरण है। इस शैली के उपन्यासों मे कथानक प्रायः बुद्धिजीवियों से सम्बन्धित रहता है। ये बुद्धिजीवी समाज, परम्परा, ईश्वर या अपने-आप से विद्रोह करते है। इस प्रकार इस शैली मे मानसिक द्वन्द्व

तथा तर्क की प्रधानता रहती है।

पत्र-शैली—पाश्चात्य साहित्य में 'पामेला' (१७४०) और 'क्लारिस्सा हार्लो' (१७४७-४८) सर्वप्रथम अंग्रेजी उपन्यास है जो पत्र-शैली में लिखे गए थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यह शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। गेटे का प्रसिद्ध लघु उपन्यास 'सारोज ऑफ़ वर्थर' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इस शैली मे घटना-क्रम पत्रो द्वारा विकसित होता है। कुछ पत्र घटना घटित होते समय लिखे जाते है तथा कुछ पूर्व मे लिखे पत्रो से घटनाओं की सूचना दर्शायी जाती है। बाद मे इस शैली का ह्रास होता चला गया। हिन्दी मे सम्भवतः पत्र-शैली का सर्वप्रथम उपन्यास पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चन्द हसीनों के खतूत' (१९२३) है। साथ ही अभी हाल ही मे प्रकाशित नानकसिह का उपन्यास (पजाबी) 'पुर्नमिलन' इस शैली का नव्यतम प्रयोग है। इस शैली की अपनी कई कमियां भी है, जैसे कथानक का ठीक विकास न होना, घटनाओ की पुनरावृत्ति का अन्देशा होना तथा लेखक की प्रधानता होना। चूँकि पत्र एक ही व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न पात्रो के लिए या विभिन्न पात्रो की ओर से एक ही को लिखे जाते है अत: एक विशेष प्रकार की एकरसता आ जाती है जिसके कारण पात्रों के स्वाभाविक विकास तथा घटना की उत्तरोत्तर गति मे बाधा पड़ती है।

हिन्दी भाषा मे इस शैली के अधिक उपन्यास नही लिखे गए है। हां, यह विधा निबन्ध-लेखन मे अवश्य प्रयुक्त हुई है।

डायरी-शैली—प्रथम पुरुष में लिखी गई भिन्न-भिन्न दिनों की घटनाएं इस शैली का आधार होती है। प्रायः उपन्यास का प्रमुख पात्र जीवन को दैनिक रूप से डायरी में लिपिबद्ध करता रहता है। यही डायरी के पन्ने उपन्यास का स्वरूप धारण कर लेते है। गेटे का 'सारोज ऑफ वर्थर' इसी प्रकार का डायरी-शैली का उपन्यास है।

डायरी-शैली का प्रयोग कहानी और निबन्धों मे अधिक हुआ है। कई पाश्चात्य तथा भारतीय लेखकों ने डायरी-शैली मे कहानियां लिखी है जो सफल रही है। इधर कुछेक साहित्यकारों ने आलोचना तथा साहित्य सृजनात्मक क्षणो को पकड़ने के क्षेत्र में भी डायरी का सफल प्रयोग किया है। 'काफ़्का' की डायरी इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार हिन्दी में गजानन माधव मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' भी है।

डायरी-शैली का प्रयोग उपन्यासों मे दो प्रकार से होता है—अशत: तथा पूर्णत:। प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकारो ने अपने कई उपन्यासों में इस शैली का प्रयोग अशत: किया है। पूर्णत: इस शैली पर लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास डॉ० नवलकिशोर देवराज का 'अजय की डायरी' है।

'अजय की डायरी' मे अजय प्रमुख पात्र है। उसी की डायरी उपन्यास के कथानक को आगे बढाती है। वैसे उपन्यास के अन्तिम भाग मे कुछ अन्य पात्रों की डायरी भी उद्धृत की गई है।

इसी शैली का एक और उपन्यास महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' भी है। 'एक पति के नोट्स' कथ्य, शिल्प और स्वरूप मे एक नया प्रयोग है।

डायरी का सबसे बडा दोष यह है कि यद्यपि शिल्प की दृष्टि से कथाकार उपन्यास से दूर रहता है किन्तु एक व्यक्ति द्वारा लिखी गई विभिन्न दिनों अथवा पात्रो की डायरी में शैथिल्य अथवा एकरसता की सम्भावना बढ जाती है। फिर भी 'अजय की डायरी' तथा 'एक पति के नोट्स' हिन्दी की सफल कथाएँ है।

आत्मकथात्मक शैली—उपन्यासकार जब अपने वैयक्तिक अनुभवो को प्रथम पुरुष के रूप मे प्रकट करता है तब उसे आत्मकथात्मक शैली कहते है। वह ऐसा इसलिए करता है कि कथावस्तु अधिक वास्तविक प्रतीत हो।

आज के युग मे अधिकाश कथा-साहित्य इसी शैली मे लिखा जा रहा है। इस शैली मे लेखक प्रथम पुरुष 'मै' के रूप मे कथा-वर्णन करता है अथवा किसी पात्र द्वारा कथा-सूत्र को आगे बढ़ाता है।

उर्दू की प्रसिद्ध कृति 'उमरावजान अदा', मराठी का 'पण लक्ष्यात घेतो' (हरिनारायण आप्टे) उपन्यास इसी शैली के है। हिन्दी मे इस शैली मे लिखा गया सर्वप्रथम उपन्यास बृजनन्दन सहाय द्वारा लिखित 'सौन्दर्योपासक' है।

'दी ट्रायल', 'दी फाल' आदि पाश्चात्य तथा 'बचपन, किशोरावस्था और जवानी' (लियो तोलस्तॉय का रूसी उपन्यास) इसी कोटि के है। इस शैली का आधुनिक युग मे हिन्दी का एक उपन्यास जैनेन्द्रकुमार का 'त्यागपत्र' है। 'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय का उपन्यास इस शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है। आत्मकथात्मक--शैली के उपन्यास भी दो प्रकार के होते है। एक तो वे, जिनमे प्रमुख पात्र अपनी आत्मकथा स्वयं कहता चलता है। दूसरे वे जिनमे विभिन्न पात्र अपनी आत्मकथा कहते है। मराठी का 'अश्रु' (वि० स० खाडेकर) तथा हिन्दी मे ऋषभचरण जैन का 'हिज हाईनेस' दूसरी कोटि के उपन्यास है, जबकि 'शेखर : एक जीवनी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रथम कोटि के उपन्यास है।

आत्मकथात्मक-शैली का एक और भेद किया जाता है—संस्मरणात्मक-शैली। मूलतः यह कोई पृथक् शैली नही है, फिर भी कुछ विद्वानो ने सस्मरणात्मक उपन्यासो की कोटि मे ऐसे उपन्यासो को रखा है जो बाह्य जीवन की घटनाओ से सम्बन्ध रखते है, जबकि आत्मकथात्मक उपन्यासों मे जीवन का आन्तरिक पक्ष अधिक प्रबल रहता है।

कथा शैली—प्राचीन काल से मनुष्य कथा कहने और सुनने में रुचि लेता रहा है। 'पचतत्र', 'हितोपदेश' आदि इस रूप मे हमारे सामने है। हिन्दी उपन्यासो मे भी इस स्वरूप का प्रयोग किया गया है। कोई एक पात्र सम्पूर्ण अथवा अंशत. कथानक को अन्य पात्रों के समक्ष कथा-रूप मे कहता है।

कथा-शैली के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों मे धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोडा', हरिशंकर परसाई का 'रानी नागफनी की कहानी' तथा शैलेश मटियानी, का 'मुखसरोवर के राजहंस' आदि है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में माणिक

मुल्ला कई कहानियाँ कहता है और कई कहानियो से मिलकर उपन्यास का निर्माण होता है।

कथा शैली का अंशत: प्रयोग प्राय. कई उपन्यासो मे होता रहा है। किन्तु पूर्णरूपेण इस शैली पर लिखे गए उपन्यास हिन्दी में अत्यल्प है।

उपर्युक्त शैलियो के अतिरिक्त उपन्यासो की कई अन्य शैलियो भी विवेचित की गई है। इनमे आचलिक शैली, नाटकीय शैली तथा पलैशबैक शैली प्रमुख है।

आज के उपन्यासो मे प्राय. उपर्युक्त सभी शैलियो मे से अधिकांश का प्रयोग होता है; विशुद्ध रूप से किसी एक शैली के अत्यधिक कम उपन्यास लिखे जाते हैं। जो ऐसे उपन्यास है भी, वे किसी-न-किसी रूप मे शिल्पगत प्रयोग के अन्तर्गत आते है।

उद्देश्य

उपन्यास का अन्तिम तत्त्व उद्देश्य है। अरस्तू ने काव्य का उद्देश्य आनन्द माना है जबकि उपन्यास के क्षेत्र में मनोरजन, उपदेशवादिता या समाज-सुधार उसके प्रारम्भिक उद्देश्य रहे है। विश्व की सभी भाषाओ के प्रारम्भिक उपन्यासो मे मनोरंजन का तत्त्व प्रमुख रहा है। किन्तु धीरे-धीरे यह तत्त्व जीवन के यथार्थ चित्रण की ओर उन्मुख होता आया है। क्लोरार ने बताया है कि उपन्यास यथार्थ जीवन और व्यवहार का तथा उस काल का, जिसमे वह लिखा गया है, एक चित्र है।

स्तांदाल द्वारा निरूपित यथार्थ चित्रण की शैली को फ्रांस मे बालजाक, फ्लाबेयर और विक्टर ह्यूगो द्वारा पुष्ट आकार मिला। (अजितकुमार : 'उपन्यास की विकास-यात्रा', 'आलोचना'—१३)

कुछ विद्वानो ने शिल्पको ही कला का उद्देश्य माना है। इस प्रकार का आदोलन 'फार्मलिज्म' के नाम से साहित्य मे आया। किन्तु आइरिश उपन्यासकार जार्जमूर उपन्यास को 'समकालीन इतिहास' ही मानते है। यूरोपीय उपन्यास-साहित्य को आधुनिकतम मोड देने वाली कुमारी वर्जीनिया वुल्फ ने नये साहित्य के बारे मे कहा है कि "भले ही यह असम्बद्ध और अप्रासंगिक जान पड़ता हो किन्तु नये लेखक उस पटल का अन्वेपण करना चाहते है जिस पर प्रत्येक दृश्य और घटना अंकित होकर हमारी चेतना को प्रभावित करती है।"

हिन्दी-उपन्यास मे प्रारम्भिक युग का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन या समाज-सुधार रहा है। प्रेमचन्द युग मे उपन्यासो का उद्देश्य एक ओर आदर्श समाज की कल्पना रहा है, जैसे 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' आदि मे, दूसरी ओर यथार्थ का चित्रण। स्वय प्रेमचन्द ने इस उद्देश्य को लेकर ही 'गोदान' उपन्यास तथा 'कफन' कहानी आदि का सृजन किया था।

पाश्चात्य-प्रभाव तथा सामाजिक यथार्थ से वैयक्तिक खोज की ओर उन्मुख कथा की स्वाभाविक विकासधारा के परिणाम है 'परख', 'सन्यासी' या 'घृणा-

मयी'। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी व्यक्तिवादी उपन्यासकार है। उनके उपन्यासो का उद्देश्य व्यक्ति के मन की मनोवैज्ञानिक खोज है।

दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी लिखे गए जो सामाजिक यथार्थ को अधिक संगठित रूप से सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे चित्रित करते है। 'मैला आँचल', 'बलचनमा', 'कब तक पुकारूँ', 'बाबा बटेसरनाथ' आदि ऐसे ही उपन्यास है।

उद्देश्य के सम्बन्ध मे डॉ० देवीशकर अवस्थी के अनुसार प्रेमचन्द-युगीन कथा-साहित्य का उद्देश्य यथार्थ का चित्रण था। परवर्ती काल मे यथार्थ की खोज और आज के युग मे यथार्थ का 'यथार्थ-वत्' अकन ही कथा-साहित्य के उद्देश्य है।

इस प्रकार उद्देश्य उपन्यास का अन्तिम और सर्वप्रथम तत्त्व है। लेखक के समक्ष सर्वप्रथम क्या ? और क्यो ? के रूप मे यही आता है और तब लेखक कथा-कहानी का सृजन करता है।

आज के युग मे जबकि जीवन अपने समग्र स्वरूप मे कही दीखता तक नही उसके प्रतिरूप उपन्यास का कोई अन्तिम उद्देश्य निश्चित नही रह गया है। पुरानी परम्पराएँ हमसे छूटती जा रही है और नई परम्पराएँ विकसित नही हो पा रही है। हमारी इकाइयो में उबलती हुई भावना विद्यमान है पर उस भावना के सामूहिक उफान के अवसर नही आ पाते। आज वर्तमान की यही सकुल पृष्ठ-भूमि हमे प्राप्त है। इस पृष्ठभूमि के आगे तेजी से बनते हुए इतिहास की साक्षी मे, हम जो कुछ देख रहे है, जो कुछ अनुभव कर रहे है, जैसे जीना चाहते है और जैसे जी रहे है—इस सबका चित्रण आज के उपन्यास मे नही तो और कहाँ होगा (मोहन राकेश . 'उपन्यास और यथार्थ चित्रण', 'आलोचना' —१३)।

इस प्रकार जीवन की खडित मूर्ति और परम्परा के विकृत स्वरूप के युग मे किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर उपन्यास लिखना न केवल असभव है वरन हास्यास्पद भी। जैसे आज के युग मे कोई कवि महाकाव्य का सृजन करना चाह कर भी नही कर सकता, उसी प्रकार निश्चित उद्देश्य की धारणा-युक्त उपन्यास लेखन संभव नही है।

इधर एक नई प्रवृत्ति इस संबंध मे देखने मे आई है। जीवन की कोई एक समस्या अथवा जीवन का कोई एक कोण उपन्यास का उद्देश्य बनता जा रहा है। कामू का 'पतन', रेणु का 'जुलूस', उषा प्रियवदा का 'बचपन खबे लाल दीवारे' तथा कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी' आदि इसी प्रकार के उपन्यास है।

उपन्यास के उपर्युक्त तत्त्व-विवेचन के पश्चात् यह और समझ लेना चाहिए कि आधुनिक उपन्यास के लिए अब ये तत्त्व आवश्यक नही रह गए है। "एक अन्य उद्धरण यहा मै सीरिल कोनोली का देना चाहूँगा कि (उपन्यासकार) अब अधिक समय तक चरित्र, परिस्थिति अथवा कथावस्तु को विकसित नही कर सकता। फ्लाबेयर, हेनरी जेम्स, प्रूस्त, ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ ने उपन्यास को समाप्त कर दिया है। अब सब-कुछ प्रारम्भ से पुनराविष्कृत करना पडेगा". (डॉ० देवीशकर अवस्थी · 'आलोचना और आलोचना', पृष्ठ ११६)।

हिन्दी-उपन्यास का वर्गीकरण

श्रीनारायण अग्निहोत्री

उपन्यास नये युग की नयी अभिव्यक्ति का नया रूप है। साहित्य के रूपों के उद्भव के सम्बन्ध मे यह एक अखंड सत्य है कि वे व्यक्ति और युग के शाश्वत और सामयिक रसायन का परिणाम होते है। उपन्यास भी अपना स्वरूप साहित्य की प्राणवती विधा के रूप मे अपनी प्रगति, तत्सम्बन्धी प्रयोग, तत्कालीन प्रवृत्ति, प्रस्तुत विषय, सामयिक चेतना तथा लेखन एवं प्रकाशन के व्यवसाय के अनुरूप बदलता रहा है। हिन्दी उपन्यास ने अपनी यात्रा मे सस्कृत आख्यायिकाओं के अनुवाद, तुलसी की आध्यात्मिकऔपन्यासिकता, ऐयारी तथा तिलिस्मी किस्से, जासूसी और ठगी के वृत्तान्त, सामाजिकता तथा राष्ट्रीयता पर आधारित सुधारवादी रचनाएँ, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी व्यक्तिगत एव वर्गगत समस्याओं से युक्त गाथाएँ तथा ऐतिहासिक रोमांस की प्रेम-कथाएँ तथा मनोविज्ञान की पहेलियों से जटिल कहानियाँ आदि सभी प्रकार के प्रसंगों को अपने मे समेटने का प्रयास किया है।

इन सबका वर्गीकरण प्रस्तुत करने के लिए हमे सर्व प्रथम शास्त्रीय वर्गीकरण का सिद्धान्त ही स्थिर करना पडेगा।

वर्गीकरण का सिद्धान्त : इन विभिन्न परिस्थितियो मे उपन्यास के नये प्रकारो का जन्म हुआ। हम अपनी अध्ययन की सुविधा के लिए इनके वर्गीकरण का भी अध्ययन करेंगे, परन्तु वैसा करने से प्रथम हमे वर्गीकरण के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

पूर्वीय साहित्य-परम्परा मे वर्गीकरण का सिद्धान्त प्रत्येक लक्षण-ग्रन्थ की विशेषता है।[१] पश्चिम मे आधुनिक ढंग के वर्गीकरण का सिद्धान्त सर्वप्रथम क्रोचे[२] ने आरम्भ किया।

कोई साहित्यिक प्रकार नाम का ही नहीं होता क्योंकि साहित्य-सौन्दर्य-शास्त्र की परम्परा उस विशिष्ट प्रकार का स्वरूप निर्धारित करती है। इस

१. 'साहित्यदर्पण'—विश्वनाथ, काव्यप्रकाश—मम्मट—काव्यादर्श-दण्डीआदि।
२. Croce Aesthetic (tr. Ainslie) London, 922. Ch. IX and XV.

परम्परा का अनुसरण लेखकों को करना पड़ता है और कभी-कभी लेखक स्वय नयी परम्परा और पुरानी परम्परा को तोड़कर या मोड़कर ही बनाता है।[१]

वर्गीकरण का सिद्धान्त शास्त्र-क्रम का सिद्धान्त होता है। इसमें साहित्य अथवा साहित्यिक इतिहास का वर्गीकरण समय (काल-क्रमानुसार) अथवा स्थान (राष्ट्रीयता) के विचार से नही किया जाता, वरन् वह विशिष्ट रूप से साहित्य के संगठनात्मक अथवा संघटनात्मक प्रकारो के विचार से होता है।[२] ऐतिहासिक वर्गीकरण से भिन्न कोई भी आलोचनात्मक अथवा मूल्यांकन करने वाला अध्ययन किसी रूप मे उस प्रकार के संगठन पर ही विचार करने की अपेक्षा करता है।

अन्य साहित्यांगो को देखते हुए उपन्यास शब्द हिन्दी के लिए नया है। उसका जन्म भारत मे छापे की मशीन के साथ हिन्दी गद्य की उत्पत्ति के समय हुआ है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे गद्य (विशेषत. खडीबोली गद्य) साहित्य का प्रारम्भ पद्य के बाद हुआ और गद्य साहित्य मे उपन्यास की बारी देर से आई। पर उतने ही थोड़े समय मे इतने अधिक उपन्यासो की रचना हुई है और उन रचित उपन्यासो मे इतने प्रकार है कि उन्हे सहसा सरल ढग से वर्गीकरण के नियमो मे बाधा नही जा सकता। समय के परिवर्तन के साथ-साथ उपन्यासो के प्रकार भी परिवर्तित होते जाते है। अत: उपन्यासों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न दृष्टियो से किया जा सकता है जिनमे से ये प्रमुख है—

१. वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण

(अ) तिलिस्मी, जासूसी और साहसी उपन्यास।
(ब) ऐतिहासिक उपन्यास।
(स) पौराणिक तथा धार्मिक उपन्यास।
(द) अन्य कथा-प्रधान उपन्यास।
(य) सामाजिक उपन्यास।
(र) राजनीतिक उपन्यास।

या

(१) काल्पनिक कथा-प्रधान उपन्यास।
(२) सामाजिक कथा-प्रधान उपन्यास।
(३) ऐतिहासिक कथा-प्रधान उपन्यास।

१. "The literary kind is not a name, for the aesthetic convention in which a work participates shapes its character. Literary kinds may be regarded as institutional imperatives which both coerce and are in turn coerced by the writer" N. H. Pearson, *'Literary Forms and Types.'*...English Institute Annual 1904, (1941) p. 59—et, especially p. 70

२. A Thibaudet, *'Physiologie dela Critique'*, p. 184.

(४) मनोवैज्ञानिक कथा-प्रधान उपन्यास।
(५) राजनीतिक कथा-प्रधान उपन्यास।
(६) पौराणिक कथा-प्रधान उपन्यास।

२. ढाँचे की दृष्टि से वर्गीकरण

(क) कथा के रूप से।
(ख) आत्मकथा या डायरी-रूप मे।
(ग) चिट्ठी-पत्री के रूप मे।

३. क्रिया-कलाप की दृष्टि से वर्गीकरण

(क) घटना-प्रधान उपन्यास।
(ख) चरित्र-प्रधान उपन्यास।
(ग) वातावरण-प्रधान उपन्यास।
(घ) भाव-प्रधान उपन्यास।

४. उपन्यास-संघटन की दृष्टि के अनुसार वर्गीकरण

(१) घटना और चरित्र-प्रधान उपन्यास।
(२) नाटकीयता-प्रधान उपन्यास।
(३) जीवन के इतिहास खंड के रूप से या इतिवृत्तात्मक क्रम के रूप से।
(४) सामायिक उपन्यास।

५. चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वर्गीकरण

(१) चरित्र प्रधान।
(२) मनोवैज्ञानिक।

६. शैली की दृष्टि से वर्गीकरण

(१) वर्णनात्मक।
(२) विश्लेषणात्मक।
(३) पत्रगत।
(४) स्वगत।

७. उद्देश्य की दृष्टि से वर्गीकरण

(१) मनोरजन-प्रधान।
(२) हास्य-प्रधान।
(३) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद।
(४) यथार्थवादी।
(५) समस्यामूलक।
(६) प्रयोगवादी।
(७) अनूदित।

८. जीवन के प्रति दृष्टिकोण के विचार से

(१) रोमानी।
(२) आदर्शवादी रोमानी।

(३) यथार्थवादी।
(४) आदर्शवादी।

९. साधारण जन-दृष्टि से वर्गीकरण
(१) सामाजिक।
(२) मध्यवर्गीय।
(३) मनोवैज्ञानिक।
(४) स्थानीय चित्रणयुक्त (आंचलिक)।
(५) अपराध चित्रण।
(६) भावावेग-पूर्ण।

१०. ऐतिहासिक दृष्टि से
(१) प्रेमचन्दपूर्व।
(२) प्रेमचन्दयुगीन।
(३) प्रेमचन्दोत्तरकालीन।
(४) आधुनिक काल, आदि।

तिलिस्मी, जासूसी, ऐयारी तथा रहस्य-प्रधान उपन्यास

डॉ० मक्खनलाल शर्मा

हिन्दी मे जब उपन्यास चल निकला तो लोगो का ध्यान इस विषय की अन्य सभावनाओ की ओर गया। सम्राट् अकबर का मनोरंजन करने के लिए अबुल फजल व फैजी ने फारसी मे 'तिलिस्मी होशरुबा' नामक चमत्कारपूर्ण कथा सत्रह हजार पृष्ठो मे लिखी थी। इस ग्रथ का अनुवाद १८८४ ई० में होना प्रारम्भ हो गया था। इस ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहण कर १८९१ ई० मे देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' नामक तिलिस्मी उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही हिन्दी भाषा-भाषी लोगो मे ही नही, अहिन्दी भाषा-भाषियो मे भी खलबली मच गई। जो हिन्दी जानते थे उन्होंने तो इसे पढ़ा ही, वरन् जिन्हें हिन्दी की वर्णमाला भी पूर्ण अपरिचित थी, उन्होने भी इस उपन्यास को पढने के लिए हिन्दी सीखी और इसका रसास्वादन करके अपने को धन्य माना। उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' चार भागो मे, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' चौबीस भागो मे तथा 'भूतनाथ' (अपूर्ण) (जिसे उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूर्ण किया) लिखकर अपार यशार्जन किया और हिन्दी की चिरस्मरणीय सेवा की।

'तिलिस्म' शब्द का विकास 'टैलिस्मन' से हुआ है; इसका अर्थ है चमत्कार-पूर्ण कल्पना, खजाने की रक्षा के लिए नियुक्त भयंकर आकृति अथवा खजाने पर बाँधा हुआ ऐसा यन्त्र जो नक्षत्रों की गणना करके तैयार किया गया हो। ऐयार शब्द अरबी मे तीव्र, दूरगामी एव चपल व्यक्तियो के लिए व्यवहृत होता है।[1]

'चन्द्रकान्ता' और इस तरह की अन्य रचनाओं का कथानक प्रायः एक-सा होता है। "कोई प्रेमी राजकुमार किसी सर्वगुणसम्पन्न अनिंद्य सुन्दरी राजकुमारी के प्रेम मे विकल हो उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है। राजकुमार मध्यकालीन शौर्य, साहस और प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है। राजकुमार को उसकी प्रेमिका से मिलाने का प्रयत्न उसके ऐयार जासूस करते है। ऐयारी के बटुए और कमन्द को

१. हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २५।

लिये ये ऐयार दुर्गम-से-दुर्गम स्थान पर पहुँच सकते हैं और आश्चर्यचकित कर देनेवाले करिश्मे दिखला सकते है। घोड़ो की तरह तेज दौड़ने और रूप बदलने मे ये अपना सानी नही रखते। वयस्क ऐयार रंग-रोगन की सहायता से सुन्दरी बाला या किसी भी युवक का ऐसा स्वाग रच सकता है कि उसका बाप भी पहचान न पाये। जिसको चाहा जडी सुँघाकर बेहोश कर दिया, कपडे मे बाँध गठरी बनाया, पीठ पर लादा और फिर आवश्यकतानुसार दस-पाँच कोस पर ले जाकर कैद कर दिया। बेहोशी दूर करने के लिए इनके पास 'लखलखा' नाम की दिव्यौषधि बराबर रहती है। राजकुमार का राजकुमारी से मिलन कराने के लिए ऐयार प्रयत्न तो करते है, पर प्रेमी राजकुमार का प्रतिस्पर्द्धी, सकल दूषण-दूषित एक दुष्ट पात्र नाना युक्तियो से इसकार्य मे बाधा डालता रहता है, क्योकि वह स्वय उस राजकुमारी को प्राप्त करना चाहता है। प्रायः मध्ययुगो के ढग पर वह (अपने ऐयारो की सहायता से) राजकुमारी को धोखे से या जडी सुँघाकर पकड मँगवाता है और तिलिस्म में कैद कर देता है। इन तिलिस्मो मे अपार धन-राशि गड़ी रहती है। उनकी बनावट को देखकर आज का बडे-से-बडा वैज्ञानिक भी विस्मय-विमूढ हो जाएगा। उसके भीतर रासायनिक द्रव्यो का बना बगुला आदमी को निगल जाता है, पुतले तलवार चलाते है, पत्थर का बना आदमी किसी मनुष्य को सामने पाकर दोनों हाथो से बुरी तरह जकड लेता है, नकली शेर दहाडते है। इस तिलिस्म के किवाड जादू के बने, ताले ऐन्द्रजालिक और कोठरिया रहस्यागार होती हैं। एक पटरा हटा कि नीचे नौ सीढियाँ दिखलाई पडी। नीचे उतरिये तो दाएँ, बाएँ, आगे या पीछे एक दरवाजा मिला। फिर सीढ़ियाँ, कुएँ, दरवाजे, कमरे, आँगन और बगीचे।...हाँ, तिलिस्मो मे प्रायः मीठे पानी का सोता और मेवे के दरख्त जरूर होगे, वैसे होने को पहाड, जंगल क्या नही हो सकता! लेकिन तिलिस्म का तोडना जिसके लिए लिखा होगा वही उसे तोड सकता है और वहाँ की धन-राशि को स्वायत्त कर सकता है। तिलिस्म तोड़ने का ढंग एक किताब मे पहले ही से लिखा कहीं रखा होगा। फिर वह किताब आखिरकार उसी व्यक्ति के हाथ पडेगी, जिसके नाम तिलिस्म का टूटना लिखा होगा। फिर तिलिस्म टूटता है, प्रतिपक्षी दुष्ट पात्र 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार दडित होते है और राजकुमार-राजकुमारी का विवाह सपन्न होता है।"[१]

इन उपन्यासों पर मध्यकालीन प्रेम और वीरता की कथाओं का सीधा प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। इन उपन्यासो मे पात्र एक नीति का पालन करते है। यदि कोई ऐयार अकेला हो तो उसे जान से कभी भी नही मारा जाता—कैद कर लिया जाता है। किसी राजकुमारी को चुराने पर उसके साथ कोई बदतमीजी नही की जा सकती। राजकुमारी भी एक बार जिसे अपना बना लेती

१. 'आलोचना' · उपन्यास-अंक, पृष्ठ ७१।

है, कितनी ही कठिनाइयाँ या विषम परिस्थिति आ जाने पर अपने निश्चय को नही बदलती। राजकुमारो के सामने चाहे जितनी कठिनाइयाँ आयें, किन्तु वे अपनी प्रेयसी को पाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते है, किसी भी आकर्षण में फँसकर अपने उद्देश्य से च्युत नही होते। उनके संस्कार और मन के भाव इतने दृढ होते है कि कई पुश्तो पश्चात् यदि अवसर मिलता है, तब भी अपने खानदान का बदला लेने मे नही चूकते।

इन उपन्यासो मे अधिकतर प्रेम की कथाओ का वर्णन रहता है। इस प्रेम मे शारीरिक आकर्षण और सौन्दर्य की प्रधानता रहती है और उसका खुला वर्णन भी किया जाता है। चरित्र-चित्रण के लिए यद्यपि इन उपन्यासो में स्थान नही रहता, फिर भी अवसर मिलने पर चरित्र की विशेषताओ का आभास दे दिया जाता है। घटनाओ की बहुलता और जटिलता मे इसके लिए अवकाश भी नही होता, किन्तु भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे पड़ने पर पात्रो के चरित्र स्पष्ट हो उठते है।

इन उपन्यासो के लिखने का उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करना होता है। खत्रीजी ने 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका मे अपने उपन्यासो का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़नेवाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा।"

तिलिस्मी उपन्यासों में काव्यात्मक-न्याय (poetic justice) का ध्यान सदैव रखा जाता है। कोई भी बुरा और दुष्ट पात्र बिना दंड पाए नही छूट सकता और प्रत्येक सच्चरित्र और नेक पात्र को उसके प्रशंसात्मक कृत्य के बदले मे पुरस्कारस्वरूप कुछ-न-कुछ अवश्य मिलता है।

तिलिस्मी उपन्यास की पहचान बताते हुए लिखा गया है—

> "जिस उपन्यास मे आश्चर्यजनक कारनामों की भरमार होगी, जहाँ पात्रो के लिए कुछ भी करना असम्भव न होगा, जहाँ पात्र मौत की घाटी से भी किसी चमत्कार के कारण लौटकर सही-सलामत घर आ जाएगा, विघ्न-बाधाओ के जंगल मे घिरे रहने पर कैंची की तरह मार करता हुआ बाल-बाल बच निकलेगा, वह तिलिस्मी-उपन्यास कहा जाएगा।"[1]

इन उपन्यासों की भारी उपयोगिता और साहित्यिक महत्त्व है—

"जगत् के दुःख-ताप, असतोष-हाहाकार के नीरस वातावरण से भागकर इस अद्भुत लोक मे क्षणिक विश्राम की प्रवृत्ति से ही ये उपन्यास प्रेरित होते हैं। ये जीवन के चित्र नही, इच्छाओ के काल्पनिक मूर्ति-विधान हैं। इनमें मानव के मूलभूत भाव, राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का प्रयास नही होता। काव्य की वास्तविक महत्ता सुन्दर चरित्र-सृष्टि मे ही है। चरित्र-सृष्टि का अर्थ है रागो और मनोवेगो के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों की सृष्टि,

१. 'हिन्दी-साहित्य कोश', पृष्ठ १५१।

मानव-पात्रो की ऐसी सृष्टि इन उपन्यासो मे नही मिलती। तेजसिंह, बद्रीनाथ या चपला का ऐयारी का बटुआ ही हमे आकर्षित करता है। वे काव्य के अमर सजीव पात्र नही, जिनमे विशाल वैचित्र्यपूर्ण भावना ससार के सार की प्रतिष्ठा हो। ये बाजीगर मात्र है जो अपने विधाता और नियामक के इशारे पर नया-नया तमाशा दिखाते चलते है। 'अब वे क्या करेगे?' इसी की ताक मे हमारी जिज्ञासा उद्बुद्ध रहती है। यह औत्सुक्यतृप्ति ही इनका एकमात्र उद्देश्य है, अथवा मानवता के मानसिक उत्पादन मे इनका कोई योग नही।"[१]

इन उपन्यासो के पात्रो को आप अलग-अलग रूपो मे नही देख सकते। वे तो सदैव और सर्वत्र एक-से लगेगे, क्योकि उनके काम एक-से है और व्यक्तित्व की विशेषताओं आदि का कोई जिक्र ही नहीं होता है। ये पात्र एक टाइप है। राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, ऐयार आदि चाहे जिस नाम और धाम को बदल कर आये, विशेषताएँ पूर्व से ही निश्चित है। उनमे कोई अन्तर नही पडेगा, अत उनके चरित्र का विकास आदि दिखाना न इन उपन्यासों मे सभव होता है और न इनका इष्ट ही है।

तिलिस्मी उपन्यासो की भाषा ऐसी सरल और जनसाधारण के अनुरूप है कि कोई कम पढा-लिखा व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सकता है। उसकी तद्भव शब्दो की व्यापकता और चलते हुए फारसी और उर्दू के शब्दों के आशिक प्रयोग से जिस शैली की आयोजना इन उपन्यासों मे की गई है, वह उनके उद्देश्य मे बाधक न होकर साधक सिद्ध हुए है। इस शैली की प्रशसा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

"ये वास्तव मे घटना-प्रधान कथानक या किस्से होते है, जिनमे जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही। इससे वे साहित्य की कोटि मे नही आते। पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे बाबू देवकीनन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए, उतने किसी ग्रन्थकार ने नही। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ चुकने पर वे 'चन्द्रकान्ता'-सी किसी की कोई किताब ढूँढने मे परेशान-से रहते थे। शुरू-शुरू मे 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गए। 'चन्द्रकान्ता' पढकर वे हिन्दी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तके भी पढ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।"[२]

जासूसी उपन्यासों का प्रारम्भ गोपालराम गहमरी ने किया। तिलिस्मी उपन्यासो मे यह कठिनाई होती थी कि तिलिस्मो का रहस्यात्मक वर्णन पढकर पाठकों को विश्वास कम और कौतूहल अधिक होता था। उनके मन में यह जिज्ञासा सदैव जगी रहती थी कि क्या यह सम्भव है? ये तिलिस्म कहाँ होते

१. हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ३७।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३९९।

ह ? इन्हे कोई क्यो बनवाता है ? और क्या हम उन्हे देख सकते हैं ? इस प्रसग के हजारो पत्र देवकीनन्दन खत्री के पास आते थे, जिनका उल्लेख उन्होंने किया है। गहमरीजी ने तिलिस्मो की इस भ्रमोत्पादक कल्पना को अपने उपन्यासों मे से हटा दिया और यथार्थ जीवन की समस्याओ को स्वीकार करके उन्ही मे के रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। हमारे दैनिक जीवन मे नित्य सैकड़ो हत्याएं होती है और अपराधी शान से मूँछे मरोडते हुए निकलते हे। इन सारे अपराधियों को इतनी आसानी से पकडना सम्भव नही होता। इसके लिए आवश्यक है कि सभी सम्भावित उपायो से अपराधी का पता चलाया जाए और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा न्याय की रक्षा के लिए उसे सजा दिलाई जाए। इन अपराधियो का पता चलाने और उसके अपराधोके केन्द्रस्थल-अड्डो का पता चलाने के लिए छिपकर कार्य करना पडता है। कभी-कभी इन खोजो मे बड़े-बडे रहस्यो का भडाफोड होता है। बड़े-बडे सफेदपोश और छुपे रुस्तम अपराधी सिद्ध होते हैं तथा न्यायाधीशों के सामने न्याय-हेतु प्रस्तुत किये जाते है। इन उपन्यासो का घटनाचक्र और योजना सासारिक तथा दैनिक जीवन के अनुरूप होती है। हत्या, चोरी, डाके और बच्चों को उठा ले जानेवाले गिरोहो की खोज करना खुफिया पुलिस का कार्यक्षेत्र है, अत इन उपन्यासों मे जासूस अधिकाशतः किसी खुफिया पुलिस अधिकारी को ही बनाया जाता है, जिससे सम्भाव्य-औचित्य की रक्षा होती रहे और पाठको को घटना के सत्य होने का विश्वास हो जाए। गहमरीजी ने १८९८ ई० मे 'हीरे का मोल' नामक बंगला उपन्यास का अनुवाद किया और इसी के साथ जासूसी उपन्यासों का प्रारम्भ हुआ। हिन्दी जगत् ने इसका भारी स्वागत किया। गहमरीजी ने अपनी प्रेरणा के सम्बन्ध मे लिखा है—

" 'हीरे के मोल" का पसन्द किया जाना और बम्बई मे ही महालक्ष्मी के मदिर मे एक खूनी धोबी का, जो महंत बना बैठा था, मेरी प्राइवेट मुखबिरी से पकड़ा जाना, इन दोनो के प्रभाव से मेरी रुचि जासूसी उपन्यास लिखने मे बढ़ी और तब से कोई १५० छोटे-बडे उपन्यास (जासूसी) लिखे और अनुवाद किये।"

१९०० ई० मे गहमरीजी ने 'जासूस' नामक मासिक का सपादन भी प्रारम्भ किया था जो तीस वर्ष तक निकलता रहा और उसके द्वारा जासूसी उपन्यासों की एक ऐसी परम्परा का प्रादुर्भाव हो गया जो आगे चलकर यथेष्ट शक्तिशाली सिद्ध हुई।

जासूसी उपन्यासों के रचना-कौशल का वर्णन करते हुए गहमरीजी कहते है :

"पहले जानने योग्य बात, घटना को जवनिका में छिपा रखना और इधर-उधर की जो बेसिलसिले और बेजोड न हों, पहले कहना और घटना पर घटना का तूमार बाँधकर असल भेद जानने के लिए पाठकों के हृदय मे कुतूहल बढ़ाना और रहस्य-पर-रहस्य सजाकर ऐसा उपन्यास गढ़ना कि पूरा पढ़े बिना पूरा

स्वाद न मिले'''। जिसका उपन्यास पढकर पाठक ने समझ लिया कि सोलहो आने सच है, उसी की लेखनी सफल-परिश्रम हुई समझना चाहिए।"

जासूसी उपन्यासो की तकनीक और निर्माण-शिल्प की विशेषताओ के सम्बन्ध में 'हिन्दी साहित्यकोश' की टिप्पणी है—

"यदि आपको एक सुसगठित वस्तुवाला उपन्यास पढ़ना हो तो जिसके आदि, मध्य और अवसान बिन्दु स्पष्ट हो, जो कारण और कार्य की शृंखला मे बधा हो तो आप जासूसी उपन्यास पढ़ें। हत्या हुई, अपराधी की खोज मे जासूस प्रवृत्त हुए, एकाधिक लोगो पर शंका हुई, प्रमाणो की नापतोल कर सच्चे अपराधी का पता लगा और उसे दडित किया गया। यह जासूसी उपन्यास का प्रधान सूत्र है और इसमे कथा सघटन के सब तत्त्व वर्तमान है।

"जासूसी उपन्यास के निर्माण का सूत्र सीधा है। पर एक सफल जासूसी उपन्यास की रचना सहज नही। अपराधी और जासूस दोनो को रगमंच पर मुख्य अभिनेता की तरह उपस्थित रहना चाहिए। पर यदि अपराधी किसी तरह भी पाठक की थोडी सहानुभूति पा गया तो वह अपराधी की फाँसी को पसन्द नहीं करेगा। अपराधी को उपन्यास के प्रारम्भ मे ही उपस्थित नही करना चाहिए, नही तो पाठक मानवोचित दुर्बलता के कारण प्रथम परिचय की सहानुभूति देने लगेगा। हत्या के लिए अथवा डकैती के लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण अवश्य होने चाहिए, परन्तु उसके औचित्य का चित्रण इतने गाढ़े रूप मे नही होना चाहिए कि पाठक को अपराधी का दडित होना खटकने लगे। यदि अपराधी का चित्र अत्यधिक गाढी काली स्याही से चित्रित कर उसे शैतानियत का पुतला बना दिया गया तो उसका पता लगा लेना पाठक के लिए सहज होगा और सारा उपन्यास ही बीच में समाप्त हो जाएगा। उसे पढने की प्रेरणा ही नष्ट हो जायेगी।

"जासूसी उपन्यासो की समाप्ति पर पाठक के हृदय मे यह धारणा बननी चाहिए कि सचमुच ही बडी पेचीदा गुत्थी को सुलझाया गया है जो साधारण तथा सहज सभव न थी। गोस्वामीजी के उपन्यास 'जिन्दे की लाश' मे एक लडकी को षड्यन्त्रकारियो ने मृत समझकर दफना दिया है, पर वास्तव मे वह मरी नही है। बाद मे वह जासूस की सहायता से निकाल ली जाती है। प्रारम्भ मे थोड़ा कौतूहल अवश्य जागता है। पर समस्या बड़े ढंग से हल हो जाती है, ऐसा नही लगता कि एक बड़ी कठिन समस्या से पाला पडा था।

"इधर जासूसी उपन्यासों मे एक बड़ा परिवर्तन आ रहा है और यह हुआ है यथार्थवाद के नाम पर। इसमें उस समाज का चित्रण हुआ है जिसमे न्यायालय के कमरे में दर्जनो शराब की बोतलें रखनेवाला न्यायाधीश किसी को एक औंस शराब रखने के लिए जेल की सजा दे सकता है। एक सीधा-सा लगनेवाला धार्मिक पुरुष भ्रष्टाचार के केन्द्रो का संचालक हो जाता है। आज के युग मे ऐसे व्यक्तियो के अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास करना कठिन नही है। इस तरह के

उपन्यासो मे अपराधी के पता लगाने पर जोर नही दिया जाता। अपराधी का पता तो सबको है ही। उसको अपराधी साबित करना कठिन होता है। अतः जासूस को या वकील को सम्बन्धित व्यक्ति को अपराधी प्रमाणित करने तथा इस कार्य के खतरो का सामना करने मे ही लेखक की प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है।"

हिन्दी मे जासूसी उपन्यासो की परम्परा का प्रारम्भ गहमरीजी की रचनाओ के साथ हुआ। दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी 'रक्त मडल', 'सफेद शैतान', 'प्रतिशोध' और 'लाल पंजा' आदि उपन्यास लिखे। हिन्दी मे मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अग्रेजी आदि से अनुवाद भी कम नही हुए। ब्लैक सीरीज, शरलक होम्स सीरीज आदि अनेक सीरीज निकली है।

आज रेलवे बुक-स्टालो, सस्ते पुस्तक भंडारों और जनता पुस्तकालयों मे सर्वाधिक संख्या सस्ते प्रकार के जासूसी उपन्यासो की मिलेगी। यदि कोई आदमी यात्रा कर रहा है तो दो-तीन घंटे का समय काटने के लिए सबसे पहले उसे एक जासूसी उपन्यास की आवश्यकता अनुभव होगी। इससे उसे यात्रा भारस्वरूप प्रतीत न होगी। जासूसी उपन्यासो मे घटना-वैचित्र्य और मानव-मन की जिज्ञासा वृत्ति को उभारकर उसे अधिकाधिक जाग्रत करना आदि की विशेषताएँ अन्य प्रकार के साहित्य की अपेक्षा अधिक होती है। जो लोग इन जासूसी और रहस्य-मय कृतियों को 'व्यर्थ के लिए कागज खराब करना' मानते है, उन्हें मानव-मन की मनोवैज्ञानिक शोधों का नियमपूर्वक पारायण करना चाहिए और समझना चाहिए कि मानव की जिज्ञासा-वृत्ति ही सारे ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की जननी है। इस आदि प्रवृत्ति को सबसे अधिक समाधान (और वह भी समाज के एक बड़े समुदाय को) जिस साहित्य से मिलता हो, उसे किस प्रकार व्यर्थ कहा जा सकता है?

जासूसी साहित्य केवल मनोरंजन ही नही करता, वरन् लोगो के मन में प्रविष्ट होकर उन्हे बदलता भी है। सामान्यतया जितने कौशल की आवश्यकता है, उसे बताता है और लोगों को जागरूक होकर कार्य करने और छद्म चोरों और सामाजिक शत्रुओ से सचेत रहने की प्रेरणा देता है। हम जहाँ है और जैसे है, उससे ऊपर उठकर—सक्रिय और सचेत होकर समाज की अधिक सेवा कर सकें, जासूसी उपन्यास हमे ऐसा योग्य बनाने मे सहायक सिद्ध होते है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

डॉ० रामदरश मिश्र

मनोविज्ञान का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों से ही आरम्भ हो गया था किन्तु आलोचकों ने प्रेमचन्द के मनोविज्ञान को उतना महत्व नही दिया जितना उनके सामाजिक यथार्थ को। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे सामाजिक जीवन अपने समस्त सम्बन्धों, जटिल प्रश्नो और समस्याओं, आशा-काक्षाओं के साथ उभरा है; इसीलिए उनके पात्र विशेषत: सामाजिक या वर्गीय पात्र है। लेखक इन पात्रों की वर्गीय विशेषताओं को खूब उभारता है, उनसे उनका व्यक्तित्व निर्मित करता है और परिस्थितियों के प्रवाह में उठते-गिरते उन पात्रो की मन:स्थितियो का आकलन करता है। अत: स्पष्ट है कि प्रेमचन्द इन पात्रों के सामाजिक रूप और सामाजिकता से जुड़े मन:सत्यों के उद्घाटन पर ही विशेष बल देते थे। कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द अवचेतन की अपेक्षा व्यक्ति के चेतन, स्वरूप को प्रधानता देते थे। इसीलिए इनके पात्रों का एक निश्चित व्यक्तित्व दिखाई पडता है यद्यपि वह व्यक्तित्व समय और परिस्थिति के अनुसार कुछ नयी-नयी छायाएँ ग्रहण करता रहता है किन्तु सारे परिवर्तनो में एकसूत्रता रहती है। एक चेतन संगति रहती है, इन पात्रों के परिवर्तनों में भी इनके पूर्व-रूप को और नयी परिस्थितियो मे इनमें होनेवाले परिवर्तनों को हम पहचान सकते है। एक तारतम्य स्थापित कर सकते हैं। अत: प्रेमचन्द मे पात्रों का मनोवैज्ञानिक विवेचन खूब मिलता है, किन्तु उस अर्थ में नही जिस अर्थ मे मनोविश्लेपणवादी उपन्यासों में लक्षित होता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहनेका तात्पर्य उन उपन्यासो से है जो मूलत: मनो-विश्लेपण पर आधारित है। मनोविज्ञान साहित्य के लिए नयी वस्तु नही है, वह आदिकवि वाल्मीकि से लेकर आज तक के सभी कवियों और साहित्यकारो की कृतियों मे लक्षित होता है, किन्तु मनोविश्लेपणवाद अपने सीमित अर्थ मे आधुनिक चीज है। मनोविश्लेपणवाद मस्तिष्क के चेतन, उपचेतन और अवचेतन—तीन विभाग कर अवचेतन को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। यही अवचेतन हमारे व्यक्तित्व, हमारे सारे कार्य-व्यापारो, हमारे सारे नैतिक आचारों का निर्माता और नियंता है। चेतन तो हमारे मस्तिष्क का बहुत छोटा भाग है। उसके

द्वारा हम सामाजिक सम्बन्धो का बोध प्राप्त करते है। मनुष्य का व्यक्तित्व बहते हुए हिम-शैल की तरह है जिसका छोटा-सा अंश चेतना की सतह पर लक्षित होता है और शेष नीचे छिपा रहता है। यह शेष भाग अवचेतन है और यह केवल विस्तृत ही नही, शक्तिशाली भी है। चेतना मे जो अंश प्रकट होता है वह अवचेतन से ही होकर आता है, जहाँ वह जन्म लेता है। अवचेतन को चेतन के विषय का निर्धारक कहा जा सकता है। पहले का तात्पर्य यह है कि मनुष्य मूलतः वह नही है जो ऊपर-ऊपर सतह पर दिखता है बल्कि वह है जो अपने भीतर अनभिव्यक्त रूप से छिपा हुआ है। और उसका जितना अंश बाहर दिखता है वह भी चेतन की उपज नही है, उस पर भी अनजाने ही परोक्ष रूप से अवचेतन का नियंत्रण और प्रभाव है। अवचेतन मे मनुष्य की कुछ आदिम वासनाएँ रहती है। फ्रायड इन्हें यौन-वासनाएँ, एडलर इन्हे हीनता की भावनाएँ, युग इन्हें जीवनेच्छाएं मानता है। अवचेतन में जो आदिम वासनाएँ पैदा होती है वे अपनी प्रकृति में बड़ी ही अपरिष्कृत और उद्दंड होती हे, स्वार्थी होती है, सामाजिक सम्बन्धों को समझने और निभाने वाला चेतन इन उठती हुई वासनाओं को बार-बार दमित करता है और ये वासनाएं फिर अपनी जगह पर लौट आती है और वे बाँध दी गई नदी के समान अवचेतन में एक प्रकार के दलदल की सृष्टि करती है जिसे ग्रन्थियाँ (कम्प्लेक्स) कहते है। ये ग्रन्थियाँ हिस्टीरिया, नर्वसनेस, उन्माद और प्रेतबाधाओं को जन्म देती है। ग्रन्थियों को प्रकाश मे लाने और उन्हें बाहर कर देने से वे बीमारियाँ छूट जाती है जो कि वासनाओं के निरन्तर दमन से उद्भूत हुई है। फ्रायड का विचार है कि चेतना की सारी वस्तुएँ अवचेतन के परिशोधित तत्त्वों को अवश्य किसी-न-किसी मात्रा मे धारण किये रहती है। यह सिद्धान्त केवल मनुष्य के भावात्मक और वासनात्मक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं, वरन् यह उसके विश्वासों और विचारों पर भी लागू होता है। मनुष्य की कला-रुचि और धर्म के प्रति विश्वास अवचेतन से उसी प्रकार निश्चित होते हैं जिस प्रकार उसकी किसी नारी-सौन्दर्य के प्रति रुचि या अपने चरित्र के प्रति विश्वास। फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क के वास्तविक कर्म तर्क से नहीं, प्रवृत्ति और आवेग से संचालित होते है। मस्तिष्क स्पंदनों, विचारों, बोध, ज्ञान और तार्किक क्रमों या कुछ निश्चित आध्यात्मिक सारों का समुच्चय नही हे बल्कि वह एक गहरा उर्मिल सिन्धु है जिसके रहस्यमय तत्त्व उसके चेतन स्तर या तर्क में उपलब्ध नहीं होते बल्कि पूर्ण अव-चेतन और प्रवृत्तियों की गहराई मे ही प्राप्त होते हैं।

एडलर के अनुसार व्यक्ति संसार में कमजोर, महत्त्वहीन और असहाय रूप में आता है। प्रकृति से लड़ने में वह असमर्थ होता है और भोजन, वस्त्र तथा शरण के लिए अपने बड़ों पर अवलम्बित रहता है। दूसरी ओर वह देखता है कि उसके बड़ों के पास अधिक शक्ति है, वे विश्व के प्रति अधिक ज्ञान रखते है और जैसे चाहते हैं, रहते हैं। इन सब कारणों से वह बड़ों की शक्ति से अभिभूत हो उठता है और वह एक हीनता की भावना अनुभव करने लगता है। अपनी हीनता की

क्षतिपूर्ति के लिए वह अपने वातावरण को प्रभावित करना चाहता है। वह अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए, साथियो की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए, प्रयास करता है। किन्तु जब वह अपनी कोशिशों के बावजूद अपने वातावरण से कोई उत्तर नही पाता तो उसे कष्ट होता है और कल्पना की शरण लेता है। उस लोक में वह उन लोगों पर रौब जमाता है जो उस पर हँस चुके होते है। इस प्रकार एडलर के कथनानुसार हीन-भावना की यह अनुभूति बच्चों के प्रयत्नों को जन्म देने वाली प्रेरक-शक्ति है। बच्चा अपनी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए जिन मार्गों को ग्रहण करता है वह उसके लक्ष्य का निश्चय करता है और जो उसके वयस्क जीवन के समस्त व्यापारो का निर्देश करता है।

बचपन की हीन भावनाओं की भिन्नताओ के कारण मनुष्य-मनुष्य के जीवन के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हुआ करते है। वे स्पष्टतः दृष्टिगत नही होते। यहाँ तक कि वे जीवन के व्यवहारो के सम्बन्धो का भी निर्माण करते है। ऐसे साँचे गढ़ते है जिनमे हमारे जीवन के समस्त अनुभव अपना स्थान बना सके। इस तरह एक विशेष परिस्थिति मे एक मनुष्य को आनन्द मिल सकता है, दूसरे को ऊब आ सकती है। बचपन मे हमारे व्यवहारों का जो साँचा बन जाता है उसमें यदि कोई अनुभूति या आवेग नही अँट पाते तो उन्हें हम स्वीकार करने से इनकार कर देते है।

युंग जीवनेच्छा को मूल प्रेरक शक्ति मानता है, जीवनेच्छा में लोक, वित्त और पुत्र तीनों एषणाएँ समाविष्ट हो जाती है। मनुष्य जीना चाहता है। वह चाहता है कि उसका अस्तित्व अमर रहे। इसी इच्छा की पूर्ति के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। साहित्य-निर्माण उन प्रयत्नो में प्रमुख है, क्योंकि साहित्य द्वारा हम अपने को भली-भाँति व्यक्त कर सकते है और व्यक्त करना जीवनेच्छा का ही एक रूप है। युंग के जिजीविषा वाले सिद्धान्त मे फ्रायड और एडलर के सिद्धान्त समाविष्ट हो जाते है। युग व्यक्तित्व और अवचेतन के साथ सामूहिक अवचेतन भी मानता है और दोनों मे अन्तर दिखाता है।

इस प्रकार इन तीनों मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से मन के अवचेतन भाग को ही समर्थ, प्रेरक और महत्त्वपूर्ण भाग माना है। अवचेतन मे दमित वासनाएँ हमारे जीवन के हर कार्य को प्रभावित करती रहती है। वे दमित वासनाएँ ग्रन्थियाँ निर्मित करती है और ये ग्रन्थियाँ बचपन से ही बनने लगती है। इसलिए बच्चों का जीवन जो ऊपर से बड़ा ही सरल, भोला-भाला दिखाई पड़ता है, वास्तव मे बड़ा जटिल होता है। यदि बच्चो की मनःस्थितियो और उनकी आवश्यकताओ को ठीक से न समझकर उनका ठीक से विकास न किया जाए तो बच्चों का मन ग्रन्थियों का भंडार बन जाता है और उन्ही ग्रन्थियों को लिये-दिये बच्चा आगे बढ़ता है जो उसके हर कार्य, हर व्यापार और आचरण में प्रेरक-शक्ति के रूप में कार्य करती है। अत: मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने बच्चों के मन की व्याख्या करके मानव-मन के उन मूलवर्ती सत्यों का पता लगाया है जो

मन की गहराई में अवस्थित होकर, ऊपर से अदृश्य रहकर, जीवन की हर गति को प्रभावित करते रहते है। फ्रायड लिबिडो को मानव प्रकृति का मूल प्रेरणा-स्रोत मानता है। उसके अनुसार छोटे-छोटे बच्चों को आत्मरति से सुख मिलता है। बच्चो का अँगूठा चूसना आत्मरति का ही एक रूप है। मल-मूत्र त्याग करने मे भी उन्हे रति का सुख मिलता है। इससे एक कदम और आगे बढ़कर फ्रायड इडिपस कम्प्लेक्स (लड़के का अपनी माँ की ओर आकृष्ट होना) और इलेक्ट्रा कम्प्लेक्स (लड़कियों का अपने पिता की ओर आकृष्ट होना) की कल्पना करता है। फ्रायड की इन व्याख्याओ के अनुसार मनुष्य स्वयं अपने कार्यों के प्रति जिम्मेदार नही है, क्योंकि वह तो स्वत चालित प्रवृत्तियो से प्रेरित होता है। वे प्रवृत्तियाँ बचपन से ही उसमे अपना स्वरूप बना लेती है, कुछ ग्रन्थियो का निर्माण कर लेती है। चेतन स्तर पर व्यक्तित्व-निर्माण की शक्ति को यह सिद्धान्त अस्वीकार करता है। अत. इन सिद्धान्तो को स्वीकार करने वाले उपन्यासकार स्मरणीय शक्तिशाली चरित्रो की सृष्टि मे विश्वास नही करते। वे तो इन पात्रों की अवचेतन-स्थित मूल प्रवृत्तियों और चेतन के साथ उनके संघर्षों की उधेड़बुन मे ही अपने को प्रवृत्त रखते है।

इन मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तो ने साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया। इन्होने साहित्य की सर्जना और विवेचना दोनों दृष्टियो को बहुत-कुछ बदला और सच बात तो यह कि मनोविश्लेषणवाद ने जीवन के समस्त स्वीकृत मूल्यो और यथार्थ के स्तरो को अस्वीकृत कर नये सिरे से जीवन-सत्यों और मूल्यो के बारेमे सोचने को बाध्य किया। मानव-चरित्रो के स्वीकृत प्रतिमानों को खंडित कर उनके भीतर स्थित नगी वास्तविकता को अनावरित कर दिया। इसीलिए साहित्य की सर्जना और विवेचना भी इस सिद्धान्त से काफी प्रभावित हुई। इस प्रकार की सर्जना और विवेचना का एक अलग ही स्कूल बन गया। इस सिद्धान्त ने साहित्य-सर्जन के—विशेषतया उपन्यास-सर्जना के मूल्यों मे जो अन्तर उपस्थित किये है, वे ये है—

चरित्रों की महत्ता की समाप्ति : मनुष्य मूलत. अच्छा है; क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है। वह माया के चक्कर में पड़कर खराब हो गया है किन्तु उसके भीतर शुद्ध आत्मा निवास करती है। जब उसे आत्मबोध होता है तब उसके भीतर की समस्त उज्ज्वलता प्रकाशित हो जाती है। सत् के प्रकाशित होते ही व्यक्ति समस्त विकल्पो (जो कि माया के परिणाम हे, विनाश की जड़ें है) से परे हो जाता है और संकल्पात्मक विवेक से मंडित होकर समस्त असत् से लड़ता है सत् की प्रतिष्ठा के लिए। इस व्यक्ति का एक स्पष्ट व्यक्तित्व होता है जो उसकी विवेक-चेतना से निर्मित होता है। यह व्यक्तित्व हमेशा सत् के लिए असत् से लड़ता दिखाई पड़ेगा, इसके ठीक प्रतिकूल कुछ मायाग्रस्त असुर होते हैं जो निर्विकल्प भाव से अन्धकार के पक्षपाती होते है, वे भी अपने व्यक्तित्व में बड़े स्पष्ट होते है। कुछ लोग बीच मे भी होते हैं जो अपने सामान्य गुण-धर्म मे भी स्पष्ट होते है।

विकासवाद के सिद्धान्त ने इस मान्यता को पलट दिया अर्थात् उसने यह सत्य उद्घाटित किया कि मनुष्य ब्रह्म का अंश नहीं है वरन् वह पशु का ही विकसित रूप है। वह ऊपर से नीचे को अवतरित नहीं हुआ है वरन् नीचे से ऊपर को उठ रहा है। नीचे से ऊपर इसलिए उठ रहा है कि उसमें प्रबल इच्छा-शक्ति है, अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य के जीवाणु में अधिक जिजीविषा थी। अतः वह अपनी समस्त पशु-सुलभ सीमाओं से संघर्ष करता हुआ सभ्यता-संस्कृति के इस धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ है। यह सिद्धान्त भी इसी बात की ओर संकेत करता है कि मनुष्य में एक इच्छा-शक्ति है, निर्णय-विवेक है, सिसृक्षा की क्षमता है, मूल्य-चेतना है जो उसकी समस्त सहज पाशविक भावनाओं और वृत्तियों से लड़ती हुई आ रही है। जिसके पास ये शक्तियां जितनी ही अधिक होंगी वह उतना ही बड़ा मानव होगा, उसका व्यक्तित्व उतना ही अधिक ऊंचा होगा। यह नहीं कि उसमें कमजोरियां नहीं होंगी, होंगी, किन्तु उनसे लड़ने की बलवान इच्छा और शक्ति होगी। इसी प्रकार कुछ ऐसे पात्र भी होंगे जिनमें प्रमुखतः पशुता ही बलवान होगी—जो स्वार्थ-भावना और संकुचित वासना से प्रेरित होंगे तथा सामाजिक विकास के मार्ग में, मानवीय यात्रा के उत्कर्ष में बाधक ही सिद्ध होंगे। कहने का अर्थ यह है कि इन दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण अविस्मरणीय मानव-चरित्रों की सृष्टि की सम्भावनाएँ थीं इसीलिए नायकों और अन्य व्यक्तित्वमय पात्रों की सृष्टि होती रही है जो अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के बावजूद बहुत कुछ 'टाइप' होते रहे है। 'टाइप' होने का अर्थ यही रहा है कि हम अपनी चेतना से मानव-चरित्रों के दोषों और गुणों को गढ़ते आये हैं यानी हम एक अच्छे पात्र को उन सभी विशेषताओं से विभूषित देखना चाहते रहे है जिनकी उपलब्धि हमने सामाजिक प्रगति के साथ की है और हमारा विवेक जिन्हें मानव-मूल्य मानता रहा है। अतः ये विशेषताएँ (और दुर्गुण) भी बहुत-कुछ सामान्य या टाइप-रूप में दिखाई पड़ती है। ये चारित्रिक विशेषताएँ भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियों के अनुसार सामाजिक विवेक से कल्पित हो गई है। यह अवश्य है कि समय के प्रवाह के साथ इन विशेषताओं में अन्तर आता गया है। भिन्न-भिन्न देशों और समयों की चारित्रिक विशेषताओं में अन्तर लक्षित होता है परन्तु कुछ ऐसे चरित्र-मूल्य है जो थोड़े-बहुत अन्तर से सर्वत्र और सदैव पाए जाते रहे है।

मनोविज्ञान की नयी खोजों और प्रयोगों ने चरित्र-सम्बन्धी सारी पूर्व धारणाएँ बदल दीं। यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य का चरित्र उसके चेतन से नहीं, अवचेतन से निर्मित और संचालित होता है। अवचेतन में मनुष्य की वे आदिम वृत्तियाँ होती है जो भली-बुरी होने की चिन्ता किये बिना होती है और यही सत्य है। और यह भी सत्य है कि ये ही हमारे सारे व्यक्तिगत और सामाजिक आचारों के मूल में होती है। अतः इन अवचेतन स्थित वृत्तियों में ही मनुष्य-चरित्र को खोजना चाहिए। इस वृत्ति ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को जन्म दिया, जिनमें अविस्मरणीय, प्रभावशाली सशक्त नायकों और पात्रों की सृष्टि करने के स्थान पर ऐसे

पात्रो की सृष्टि की गई जो व्यक्तित्वहीन है, सामाजिक उद्देश्य-विरहित है, मगर सत्य है। हिन्दी मे प्रेमचन्द और उनकी परम्परा मे आनेवाले उपन्यासकारो ने अविस्मरणीय, वर्गीय पात्र दिये है जो सामाजिक गुणों और दोषों से पूर्ण है, जो चेतन से सचालित है, जो इच्छा-शक्ति वाले है, निश्चय-वृत्ति वाले है, जो सामाजिक सत् और असत् से निर्मित है और जो इनसे लडते है। इसी प्रकार इंग्लिश मे विक्टोरिया उपन्यासों तक स्मरणीय चरित्रो की अवतारणा होती रही है किन्तु आधुनिक कालमे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों (जेम्स ज्वायस, डी० एच० लारेंस, वरजीनिया वुल्फ, हक्सले आदि) के उपन्यासों मे ऐसे पात्रों की सृष्टि की गई है जिनमें नाम तक याद रखना कठिन जान पड़ता है।

इस प्रकार के मनोवृत्ति-गत अन्तर का कारण स्पष्ट करते हुए जी० ई० एम० जोड ने *लिखा है*—*The Edwardian writers, for example,* were concerned less with man and woman than movements and causes, their aim was, often, avowedly propagandist and they introduced individual men and women into their stories only in so for as they served to expound a creed, to point a moral or to illustrate an abuse. Even in those novels which are not directly written with a purpose, the element of propoganda is still present...Inevitable in such books the individuals tended to be types rather the individuals, their value from the novelist's point of view lies not, as did that of the victorian characters, in their differences from but in their resemblances to others similarly situated in their typicality rather than in their idiosyncrasy

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो से इतर जो सामाजिक उपन्यास हैं उनके पात्रों की कुछ चुनी हुई विशेषताएँ होती है। हम उनके बारे मे इतने विश्वस्त होते है कि कह सकते है कि लेखक इन पात्रों को अनिश्चित विकास के जंगल मे छोड़ नहीं देता, उन्हें कुछ विशेष व्यक्तित्व देकर उनका प्रत्याशित विकास करता चलता है। वह इन व्यक्तियों की कुछ विशेषताओं को चुन लेता है और उन्ही से इन पात्रो का निर्माण और विकास करता है।

किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य पात्रों का वैज्ञानिक शोध करना है। मनुष्य वास्तव मे कैसा है इसका पता लगाना ही उन उपन्यासों का कार्य होता है। वास्तव मे यथार्थ आदमी भले या बुरे नहीं होते, वे आधुनिक मनोविज्ञान की खोजो के अनुसार नदी की तरह होते हैं—कभी तेज दौड़ते हुए, कभी मन्द चलते हुए, कभी टेढ़े बहते हुए, कभी सीधे बहते हुए, कभी उथले और स्वच्छ, कभी गहरे और अगम्य। आदमी गुणों की गठरी नही है। इसी प्रकार व्यक्तियों के सम्बन्ध भी जटिल, विविध और अगम्य तथा सरल, स्वच्छ और परिचित-से लगते

है । अतः यथार्थ आदमी का चित्रण करने का अर्थ है उसके व्यक्तित्व की सारी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों, जटिल संवेदनाओं, विषम मन स्थितियों का वैविध्य चित्रित करना । मनोविज्ञान मनुष्य के चेतन व्यक्तित्व की अपेक्षा अवचेतन व्यक्तित्व को विशेष महत्त्व देता है और वह अवचेतन व्यक्तित्व बड़ा ही जटिल, उलझा हुआ, रहस्यमय और असामान्य है । अतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में सामान्य व्यक्ति की असामान्य मनोदशा और आचारों का आकलन होता है, असामान्य व्यक्ति की असामान्य अवस्था भी चित्रित होती है ।

आधुनिक जीवन बहुत जटिल है । वह जटिलता व्यक्ति के भीतर भी है और व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों में भी । अतः यथार्थवाद का आग्रह करनेवाला उपन्यास जीवन को उसी रूप में लेता है जिस रूप में वह जीवन जीनेवालों को अनुभूत होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य मनोविज्ञान की खोजों और उपलब्धियों से बहुत प्रभावित हुआ है । वह व्यक्ति के भीतरी जीवन की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुआ है । वह व्यक्ति के बाहरी कार्यों, व्यापारों आदि के प्रवाह में बहने के स्थान पर उसके मन की आन्तरिक स्थितियों के विवेचन में प्रवृत्त हुआ है । सक्रिय जीवन ही केवल जीवन नहीं है, बल्कि वह बहुत महत्त्वपूर्ण जीवन भी नहीं है, वास्तविक जीवन तो विचारों और अनुभूतियों का आन्तरिक जीवन ही है । इसलिए मनोविज्ञान वास्तविक जीवन का चित्रण करने में साहित्य का सहायक होता है ।

मन सहस्रों प्रभाव ग्रहण करता है । ये प्रभाव चारों ओर से आते हैं, अनवरत आते हैं और एक क्षण का प्रभाव या एक दिन का प्रभाव दूसरे क्षण या दिन के प्रभाव से भिन्न होता है । वर्जीनिया वुल्फ के शब्दों में "जीवन तरतीब से व्यवस्थित दीपों की माला नहीं है, जीवन एक प्रकाशमय प्रभामण्डल है, एक अर्द्ध-पारदर्शी आवरण, जो चेतना के आदि से अन्त तक हमें घेरे रहता है ।" क्या उपन्यासकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह इस परिवर्तनशील, अज्ञात चेतना को यथासम्भव कम-से-कम बाहरी तत्त्वों का मिश्रण कर प्रेरित करे, यह चेतना चाहे जितनी भी जटिल क्यों न हो ? जैसे बाह्य जगत् में घटनाएँ घटती हैं उसी प्रकार मनोजगत् में भी । और चूँकि घटती हैं अतः उनका महत्त्व है ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक क्षणों का बहुत महत्त्व है । सत्य की प्राप्ति जीवनों में नहीं, मन के विषयों में नहीं, इसके विकास में नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक क्षणों में होती है । डॉ० जोड के शब्दों में "व्यक्ति की जब हम परीक्षा करते हैं, तो वह व्यक्तित्व नहीं होता, वह केवल उन क्षणिक व्यक्तियों का अनुक्रम होता है जिनमें से प्रत्येक एक मनोवैज्ञानिक क्षण के लिए सहन करता है ।"[1]

1. For here modern psychology makes itself felt—an individual is not, when you examine him, a personality at all; he is merely a succession of fleetingh persons each of whom endures for a psychological moment.

इस प्रकार यह विचारधारा व्यक्तित्व की एकसूत्रता को, अनवरतता को अस्वीकार करती है। व्यक्तित्व के बारे मे इस मान्यता को कि चेतना अनवरत बहती हुई अत्याज्य धारा है जो हमारी सारी अलग-अलग चित्तवृत्तियों के बीच बहती हुई आपस मे अनुस्यूत कर उन्हे एक सम्पूर्ण रूप देती है, इस क्षणवादी विचार ने असत्य सिद्ध किया। इसने चेतना की अलग सत्ता को अस्वीकार कर दिया। चेतना उस कुड के समान है जिसमें मनोवैज्ञानिक घटनाएँ, चित्तवृत्तिया, इच्छाएँ आदि मछलियो की तरह तैरती रहती है और इन मछलियो के न रहने पर भी इस कुड का अस्तित्व होता है यानी चेतना विचारो, इच्छाओ आदि से अतिरिक्त एक अलग सत्ता है, यह विचार खडित हो गया। क्षणवादी विचार ने स्पष्ट घोषित किया कि मनुष्य क्रमबद्ध व्यक्तित्व नही है। वह अलग-अलग मनोवैज्ञानिक क्षणिक मनुष्यो की एक श्रेणी है। उसी तरह जीवन या समय भी क्रमबद्ध धारा नही है, वह भी अलग-अलग एक के बाद एक घटित होनेवाले अस्थायी क्षणो की श्रेणी है।

अत मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्र-निर्माण से सम्बन्धित सारी प्रमुख धारणाएँ बदल गई। एक सुसम्बद्ध व्यक्तित्व के अभाव मे मनुष्य की भली या बुरी, सत् या असत् कार्य-शृखला के प्रति विश्वास ही हट गया। मनुष्य क्षणों मे जीता है, एक क्षण मे वह बहुत भला और एक क्षण में बहुत बुरा, एक क्षण मे ऊँचाई को चूमता हुआ, एक क्षण मे पाताल का स्पर्श करता हुआ लक्षित हो सकता है। उसकी आन्तरिक जीवन-सत्ता को उसकी समस्त विविधता और जटिलता मे व्यक्त करना ही उपन्यासकार का कर्तव्य है। इसका एक परिणाम और हुआ है कि जीवनी-प्रधान उपन्यासो का चलन शुरू हो गया है। जीवनी-प्रधान उपन्यासो मे पहले के उपन्यासो या सामाजिक उपन्यासो की-सी जटिल, एक-दूसरे से गुथी, परस्पर अनुस्यूत होकर अन्त तक चलती हुई कथाएँ नही होती वरन् उनमें एक व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ होती है, इतिहास होता है। उस व्यक्ति के जीवन मे एक के बाद एक आनेवाली घटनाओ की शृंखला होती है। जीवन मे घटित होनेवाली हर चीज साहित्य मे उसी रूप मे गृहीत हो सकती है। एक का दूसरे से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। यथार्थवादी स्वरूप देने के लिए लेखक एक-एक क्षण का, एक-एक मन स्थिति का, एक-एक मुद्रा का उसी रूप मे ईमानदारी से चित्र अकित करता है, जिस रूप में ये जीवन मे घटित होती है। इस प्रकार दैनिक जीवन मे घटित होनेवाली हर चीज उपन्यास मे ली जा सकती है और इस प्रकार डॉ० जोड के विचार से उपन्यास प्रभावो और घटनाओ-रूपी वस्त्रखंडों का थैला बन जाता है। ये घटनाएँ और प्रभाव आपस मे यदि सूत्रित दीखते हैं तो केवल नायक के विकसित होते हुए चरित्र द्वारा।[1] जेम्स ज्वायस का

१. Everything, the view seems to have been, is suitable for literary treatment, everything has its place in the novel, just

'गुरीसस', जे० डी० बेरेसफोर्ड का 'जैकब स्टेल', कोम्पटन मैकेंजी का 'सिनिस्टर स्ट्रीट', ह्यू वेलपोल का 'फोर्टीच्यूड'—ऐसे उपन्यासो के उदाहरण है। हिन्दी मे अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' इस दिशा मे महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस सदर्भ मे इतना और कहना आवश्यक होगा कि यद्यपि लेखक बिना किसी शृंखला के जीवन मे घटित होनेवाली सारी घटनाम्रो और प्रभावो को चित्रित करता चलता है फिर भी उसके पीछे सर्जन न्याय तो होता ही है और वह सर्जन-न्याय यही है कि वह उन्ही घटनाम्रो और प्रभावो को लेता है जो नायक के चरित्र का कोई मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित करने मे समर्थ होते है या उसके उद्घाटित मन.सत्य का विकास करने मे सक्षम होते हे। उपन्यासकार को यह बोध तो होता ही है कि वह उपन्यास लिख रहा है, जीवनी नही। अत: परोक्ष रूप से चुनाव का प्रश्न तो यहाँ भी होता ही है। चुनाव का प्रश्न न हो तो 'शेखर एक जीवनी' का आकार कई हजार पृष्ठो का हो जाए क्योकि उसका घटना-काल बीसियों वर्षों का है। और सच पूछिए तो चुनाव का प्रश्न जीवनी मे भी होता है। जीवनी-प्रधान उपन्यासो मे घटनाएँ और प्रभाव एक के बाद एक आते हे, छूटते जाते हे, अत: उनका नियोजन अन्य प्रकारके उपन्यासो की घटनाम्रो और प्रभावो के नियोजन से भिन्न प्रकार का होता है। जीवनी-प्रधान उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का एक प्रकार है। समस्त मनोवैज्ञानिक उपन्यास जीवनी-प्रधान उपन्यासों की तरह नही होते। शेष के पात्रों, घटनाम्रो आदि का नियोजन अन्य उपन्यासो की तरह ही होता हे। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मनोवैज्ञानिक होते हुए भी वस्तु-संघटन में प्रेमचन्द आदि के उपन्यासो की तरह ही है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' भी इसी तरह का है।

चरित्र-विघटन के संदर्भ मे चेतना-प्रवाह की चर्चा आवश्यक है। चेतना-प्रवाह (stream of consciousness) की चर्चा सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल ऑफ साइकोलॉजी' मे की। चेतना-प्रवाह मस्तिष्क का प्रवाह हे जो नैरंतर्ययुक्त हे और निरन्तर बदलता रहता है। चेतना उन सारे सत्यो का मिश्रण हे जिन्हें हमने अनुभव किया है और कर रहे है। प्रत्येक विचार व्यक्तिगत चेतना का अंग है। प्रत्येक विचार सतत परिवर्तनशील तथा विशिष्ट होता है। हम लोग अपने विचारों का चुनाव करते प्रतीत होते है—कुछ पर विशेष बल देते हे, कुछ की सर्वथा उपेक्षा कर जाते हे, कुछ को स्वीकार करते है, कुछ को बिलकुल छोड़ देते हे। जब कोई विचार मस्तिष्क मे उठता है तब वह बिलकुल वही नहीं होता जो पहले था, वह नया होकर अपने साथ नवता की ताजगी तथा वह नया संदर्भ लिये आता हे जिसमें से वह निकलता है। "अनुभव

as it has in life. Hence the novel tended to become a rag-bag of incidents and impressions linked together by nothing but the developing personality of hero

हमे प्रत्येक क्षण पुनर्निर्मित करता है और किसी वस्तु के प्रति हमारी प्रतिक्रिया वास्तव मे हमारे उस अनुभव का परिणाम होती है जिसे हमने उस दिन तक ससार के विषय मे प्राप्त किया है।"[१] विचार गतिशील होते है। स्पष्ट दीप्त अनुभव केन्द्र के चारों ओर विचारों की मन्द दीप्त झालर या परिधि लिपटी होती है। विचारो को उनके प्रवाह में पकड पाना कठिन होता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की इस प्रवृत्ति के कारण उनके आस्वाद का रूप भी बदल जाता है। परम्परावादी उपन्यासकार सब-कुछ जानता है और सब की कहानी कहता है। लियोन इडल के शब्दो मे, "प्राचीन उपन्यासो मे हम प्रायः सर्वदा लेखक के आमने-सामने बैठे रहते है। वही खिडकी के बाहर देखता है और जो कुछ देखता है उसकी कहानी कहता है। हम वही देख पाते हैं, जिसे देखने को वह कहता है या जिसका वह वर्णन करता है। हम लोग अपनी रुचि के अनुसार खिड़की के बाहर झाँक नही सकते क्योंकि सर्वज्ञाता लेखक चुनी हुई सीट पर बैठा हुआ है। ..वह अपने चरित्रों के समस्त अतरंग रहस्यो को जानता है, वह जानता है कि वे किस क्षण क्या सोचते है और एक समय मे ऐसा क्यों करते है। कभी वह अपने नैतिक विचारो और निर्णयों को अपने पात्रों पर लादता है। किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे लेखक कही भी सामने नहीं आता। हम लोग एकाएक खिड़की के पास बैठ जाते है और लेखक खिड़की के बाहर, ऊपर, नीचे कहीं भी, रंगमच-निर्देशक या अभिनेता के रूप मे उन सबकी व्यवस्था कर रहा है जिन्हें हमें देखना है। वह निरन्तर हमारे सामने एक ऐसा भ्रमजाल निर्मित करता रहता है जिससे हमें यह महसूस हो कि सामने जो कुछ घटित हो रहा है उसे हम अनुभव कर रहे है और इस क्रम मे वह हमे सभी प्रकार की असम्बद्ध और विचित्र वस्तुओ को देखने को कहता है मानो हम अपने ही स्वप्न मे हों जिसमें असम्भव और असत्याभासक घटनाएँ घटित हो रही हों! ...पुराने उपन्यासो के श्रोता हम लोग इन उपन्यासों मे वास्तविक सहभागी बन जाते है।"[२]

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हमे ऐसा लगता है कि हम जीवन जी रहे है, जीवन की कहानी नही सुन रहे। चूँकि यह आतरिक जीवन की यात्रा है इसलिए इसमे अनिवार्य भाव से बिम्बो और प्रतीकों की योजना होती है। अन्तश्चेतन का सत्य इतना असम्बद्ध, निरन्तर परिवर्तनशील तथा अनेक क्षणों और व्यक्तियो का अनियोजित पुज होता है कि उसे कहा नही जा सकता। बिम्बों द्वारा ही उसके उलझे और असम्बद्ध रूप को उद्घाटित किया जा सकता है। चूँकि

१. "Experience is remoulding us every moment and our mental reaction on every given thing is really a resultant of our experience of the whole world up to that date."

—The Psychological Novel, p. 20—Leon Edel

२. The Psychological Novel, pp. 138-39.

आत्मप्रधान-उपन्यासों में विचार क्रम से सुनियोजित नहीं होते, इसलिए ये उपन्यास असम्बद्धता का प्रभाव पैदा करते हैं और विभिन्न प्रकार के पाठक इसे विभिन्न प्रकार से धारण करते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों को वही समझ और सराह सकते हैं, जिन्हें कविता पढ़ने का संस्कार हो। इन उपन्यासों में समय-क्रम नहीं मिलता, वरन् ऐसे बोधों की बेमेल श्रेणी प्राप्त होती है जो आगे-पीछे के पृष्ठों में कही गई बातों के संदर्भों से न जुड़कर अपने-अपने गहन क्षणों में स्थित रहते हैं किन्तु उन्हें पूरा पढ़ने के बाद एक काव्यात्मक संश्लिष्टता प्राप्त होती है।[१]

१. "The attentive reader must somehow teach himself to read the *prose fiction as if it were poetry. Such novels*— the works of Dorothy Richardson or of Virginia Woolf-belong to that category of fiction of which T. S. Eliot spoke when he said that only sensibilities trained on poetry can wholly appreciate them. By this he meant (what we know in the *testimony of the two women poets about Dorothy Rechardson*) that the novel is read not as a time-sequence but as a heteroge neous series of perceptions each catching its moment of intensity without reference to what lies on the succeeding pages, but the entire reading of which conveys a poetic *synthesis."—The Psychological Novel*, p. 137; Leon Edel.

समाजवादी और सामाजिक उपन्यास

डॉ० रामदरश मिश्र

'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रान्त अर्थ लेनेवाले भी कम नहीं है। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई पड़नेवाली निर्जीव और पतनोन्मुख समाज की विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठे है। ऐसा माननेवालो मे दो वर्ग है। एक तो आदर्शवादी है जो वास्तविक जगत् को छोडकर हमेशा ऊपर-ऊपर उड़ने की कोशिश करते है। वे इन विकृतियो को ही यथार्थ मानकर घृणा करने लगते है। दूसरे वे व्यक्तिवादी है जो इन्ही विकृतियो को ही समाज का यथार्थ मानकर उनका चित्रण करने लगते है और सबसे बड़ा यथार्थवादी होने का दम भरते है। मार्क्सवादी दृष्टि इस प्रकार की सतही यथार्थ-जन्य भ्रान्तियों में न फँसकर बुनियादी सत्य को देखती है। बुनियादी सत्य क्या है। प्रत्येक युग में और पदार्थ मे दो शक्तियों का द्वन्द्व चलता रहता है—मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवन्त शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियो मे शोषक लोग होते है और नवीन शक्तियो मे शोषित गरीब किसान मजदूर होते है। नवीन जीवन्त शक्तियाँ पुरानी शक्तियों को नष्ट कर एक नवीन जन-मंगलकारी समाज की स्थापना की कोशिश करती है। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियां उतराई रहती है लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे-धीरे उन्हे काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नही, समाज की होती हैं, उनमें पीडा और अभाव के साथ-ही-साथ जिन्दगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है। इन अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करनेवाला ही सच्चा यथार्थवादी है।' ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि और भावी युगों के साहित्यों के लिए प्रेरणास्रोत होता है। "प्राचीन काल में लिखी गई पुस्तकों जो अपने काल के जीवन की सतह का ठीक चित्रण करती थीं और जो आज हमारे अनुभवसिद्ध जीवन के बारे में हमें कुछ नही बताती, साहित्य के नाते मृत है, चाहे ऐतिहासिक लेख-पत्र के रूप में उनका महत्त्व भले ही हो। तथापि अतीत मे जिस पुस्तक ने जीवन की सतह के नीचे काम करनेवाली शक्तियों को प्रतिबिम्बित किया है, वह बहुत सम्भव है, हमारे आज के बुनियादी यथार्थों के बारे में भी महत्त्वपूर्ण बाते बता सके। सतह के ऊपर गति नीचे से अधिक क्षिप्र होती है और

जितनी गहराई से किसी लेखक की अन्तर्दृष्टि सतह भेदकर नीचे पहुँचेगी उतने ही अधिक दीर्घकाल तक उसकी कृति परिवर्तनशील यथार्थ जगत् के प्रति बासी (पुरानी) नही पड़ेगी।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत पुरानी शक्तियो के अत्याचार और कुरूपताएँ तथा उनमे युद्ध करती नवीन शक्तियो के दुख-दर्द, सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था—ये सारी बाते मिले-जुले रूप मे आती है। प्रगतिवाद (जिसका दर्शन मार्क्सवादी है) भिन्न-भिन्न युगो के साहित्यो की उन युगो की वास्तविकताओ के आधार पर परीक्षा करता है। भिन्न-भिन्न युगो के संघर्षो और सामाजिक सम्बन्धो की रूप-रेखाएँ भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक युग का जीवन्त साहित्य अपने युग के सामाजिक सम्बन्धों और जनविश्वासो को व्यक्त करता है। वह युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओ को चित्रित करता है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन सम्बन्धो को छोडकर हवा मे शाश्वत का महल बनानेवाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियो से युद्ध करती है। विभिन्न युगो की ये ही सामाजिक मानवता की भावनाएँ परम्परा का निर्माण करती है।

आज के युग मे बुनियादी शक्तिया वे है जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करनेवाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों, मजदूरो के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूँजीवादी (और सामन्तवादी भी) शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर विसगतिमय प्रवृत्तियो पर चोट करता है। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य नाश और निर्माण दोनो को साथ लेकर चलता है। (१) वह सडी-गली, रूढ-जर्जर, शोषक और मानवताघाती पुरानी जीवन-दृष्टियो, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सास्कृतिक परम्पराओं तथा मान्यताओं का ध्वस करता है। उसके ध्वंस का तरीका संघर्षात्मक होता है। (२) वह पुरानी व्यवस्थाओ के स्थान पर नया निर्माण करता है। यह नया निर्माण नवीन युग और नवीन समाज की आवश्यकताओ, आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए होता है। समाजवाद की स्थापना मे ही समूची मानवता के हित की भावना निहित होती है। सच पूछिये तो इसी निर्माण के महोद्देश्य के लिए ध्वस जरूरी होता है। बिना निर्माण के स्वप्न के ध्वस का कार्य अराजकता है। प्रगतिवाद सुधारवादियों की भाति जर्जर व्यवस्था के सड़े-गले कपड मे पैबन्द जोड़ने का पक्षपाती नही है और न तो वह गला फाड-फाड़कर निरुद्देश्य ध्वंस की पुकार मचानेवाला व्यक्तिवादी विद्रोह है। वह आमूल क्रान्ति चाहता

१. साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, 'हंस', प्रगति अंक—एडवर्ड अपवर्ड

है। ग्रामूल क्रान्ति का तात्पर्य, ग्रार्थिक, सामाजिक ग्रौर राजनीतिक सभी प्रकार की क्रान्तियों से है। राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी क्रान्ति तब तक पूरी नही होती जब तक सामाजिक समता ग्रौर स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती। इसलिए 'दादा कामरेड' (यशपाल) का हरीश एक ग्रोर अराजकतावादियों के जन-जीवन-विच्छिन्न ध्वंसात्मक विद्रोह का विरोध करता है तो दूसरी ग्रोर केवल राजनीतिक ग्रान्दोलन छेड़कर स्वराज्य मात्र पाने के लिए प्रयत्नशील कांग्रेस का। कांग्रेस केवल राजनीतिक ग्रान्दोलन छेड़कर स्वराज्य पाना चाहती थी किन्तु यह स्वराज्य किसका होगा इसे या तो सोचती नही थी या जो सोचती थी उसका ग्रसली रूप ग्राजादी के बाद सामने ग्राया। 'दादा कामरेड' मे कांग्रेसी लाला ध्यानचन्द मजदूरो के ग्रान्दोलन के समय मजदूर ग्रान्दोलन के विरुद्ध ग्रौर धनपतियो के स्वार्थ के हित मे सोचते है। इससे भी इन कांग्रेसियों के बूर्ज्वा विचारों का सही-सही ग्रन्दाज मिल जाता है। वास्तव मे प्रगतिवादी दृष्टि में ग्राजादी की सही लड़ाई केवल राजनीतिक लडाई लड़ने मे नही थी वरन् जीवन के हर क्षेत्र में लड़ने में थी। शैल जब हरीश से कहती है—"देखो तुम चाहते हो केवल शासन में क्रान्ति परन्तु परिवार ग्रौर समाज की व्यवस्था के बन्धन में ग्रव-रुद्ध प्राण कैसे छटपटाते है यह क्यो नही सोचते ? क्या व्यक्ति को जीवन में कामना की पूर्ति का ग्रधिकार नही चाहिए ? मै तो सबसे ग्रधिक इसी को ग्रनुभव करती हूँ।" तब इसी सत्य की ग्रोर संकेत करती है।

प्रगतिवाद ने सौन्दर्य को नए दृष्टिकोण से देखा। उसने जनजीवन में सौन्दर्य खोजा। हमारा सौन्दर्य-बोध परिस्थितियों ग्रौर सामाजिक सम्बन्धों से बनता है। प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर ग्राधारित है। ग्रत: वह सौन्दर्य को इसी जीवन की वस्तु मानता है, उसे व्यक्ति-व्यक्ति की निजी रुचि ग्रौर शाश्वतवाद के हवाले नही करता। वह वर्तमान जनजीवन में सौन्दर्य खोजता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारे हार्दिक ग्रावेगो ग्रौर मानसिक चेतना दोनो से होता है। इन दोनों का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धो से होता है। नये समाज मे चलनेवाला ग्रथवा उसके साथ चलने का प्रयास करनेवाला नये उठते हुए समाज में सौन्दर्य देखेगा। वह संघर्षों से भागकर किसी ग्रतीत-लोक या कल्पना-लोक के निष्क्रिय सौन्दर्य में मुँह नही छिपायेगा। प्रसिद्ध मार्क्सवादी रशियन दार्शनिक एन० जी० चरनी-शव्स्की के शब्दो मे "मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है इसीलिए सौन्दर्य की यह परिभाषा ग्रत्यन्त संतोषजनक मालूम पड़ती है—"सौन्दर्य जीवन है। सुन्दर वस्तु है जिसमे हम वह जीवन देखते है जो हमारी धारणा के ग्रनुकूल हो। सुन्दर वह चीज है जो जीवन को ग्रभिव्यक्त करती है या हमें जीवन का स्मरण दिलाती है।" जो कलाकर जीवन अभिव्यक्त करने वाली वस्तु में सुन्दरता देखता है उसी के पास वास्तविक सौन्दर्य-दृष्टि है।

इस प्रकार सौन्दर्य के बारे में यह धारणा कि वह शाश्वत है, ग्रखंड है, ग्रबोध

है, आदि बातें गलत साबित हो जाती है। सौन्दर्य का सम्बन्ध वास्तविक जगत् से है और वास्तविक वस्तु जगत् का सौन्दर्य शाश्वत नही होता किन्तु शाश्वत नही होने से किसी सौन्दर्य का मूल्य घटता नही है, न वह चीज सुन्दर कहलाने से वंचित की जा सकती है। फूल खिलता है, जितनी देर के लिए खिलता है वह अपनी उत्फुल्ल सुन्दरता की चरम सीमा पर होता है। अत वह शाश्वत न होकर भी सुन्दर है। यौवन बीत जाता है तो भी वह सुन्दर है। विशेष वस्तु की सुन्दरता व्यतीत हो जाती है किन्तु उस प्रकार की वस्तुओ की सुन्दरता की परम्परा चलती रहती है। अत' किसी सौन्दर्य की शाश्वतता और निरंतरता न तो सभव है, न वांछनीय। पदार्थ के साथ चेतना जुड़ी हुई है अत पदार्थो के साथ चेतना का बदलाव होता रहता है। सौन्दर्य की स्थिति जीवन अभिव्यक्त करनेवाली वस्तुओं मे होती है और ये वस्तुएँ यानी परिस्थितियाँ बदलती रहती है। इसलिए सौन्दर्य की स्थितियाँ भी स्थानान्तरित हुआ करती है और इन्ही परिस्थितियो के बदलाव और उनके साथ संपृक्ति-असपृक्ति के कारण सौन्दर्य-दृष्टि में भी परिवर्तन आया करता है। इसलिए जो चीज कल सुन्दर दिखाई पड़ती थी, वह आज असुन्दर दिखाई पडने लगती है। कल की परिस्थितियो मे वह चीज अधिक जीवनमयी थी आज उसका अस्तित्व निर्जीवता का प्रतीक बनकर रह गया है; क्योंकि जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली नयी चीजों का उदय हो गया है। इस प्रकार हम देखें तो पायेंगे कि समाज के विषम सम्बन्धों की अमानवीय असमानता की रचना करनेवाली शोषक शक्तियो के विरुद्ध संघर्ष करने वाली सामूहिक चेतनाएँ और शक्तियाँ जीवन की अभिव्यक्तियाँ है और वे ही सुन्दर हैं तथा इनमे सौन्दर्य देखने वाली दृष्टियाँ ही वास्तविक सौन्दर्य-दृष्टियाँ है। शोषक का और उनके विरुद्ध संघर्ष करनेवाली सामाजिक शक्तियों और चेतनाओं का (अर्थात् असौन्दर्य और सौन्दर्य दोनो का) रूप बदलता रहता है, किन्तु उनमे प्रकारान्तर से एक निरंतरता भी रहती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपों में लक्षित शोषक शक्तियाँ सदा कुरूप रही है और भिन्न-भिन्न रूपो मे लक्षित सघर्षशील सामाजिक चेतनाएँ सौन्दर्य की एक अनवरत परंपरा का निर्माण करती है। परिस्थितियों के बद-लाव के साथ एक समय मे सुन्दर वस्तु दूसरे समय मे असुन्दर हो जाती है। वह असुन्दरता उसकी सुन्दरता के साथ जन्म से ही लिपटी होती है। इसलिए सामंत-वाद की जड रूढ़ियो के विरुद्ध व्यक्तित्व चेतना का उन्मेष लेकर आनेवाला पूँजी-वाद सुन्दर था किन्तु आगे चलकर उसकी असुन्दरताएँ उजागर हो गई और जीवन-चेतना के सौन्दर्य का अस्तित्व संघर्षशील किसानो और मजदूरो की जिन्दगी में स्थानान्तरित हो गया। इस प्रकार अतीत और वर्तमान के वे सारे अभिजात लोग मूल्य, मान्यताएँ, सम्बन्ध असुन्दर और निष्प्राण दिखाई पडने लगे जो हमारे कल की या आज की जिन्दगी की सामाजिक संघर्षशीलता और रचनात्मक संघ-चेतना से विच्छिन्न है या रहे है और दूसरी ओर वह खुरदरी बेलौस जिन्दगी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी। जिसने इन अभिजात संभ्रान्त व्यक्तिवादी चेतना के

शोषक विसंगतिमय रूपों के विरुद्ध आवाज बुलन्द कर एक सामाजिक जीवन-रचना मे सक्रिय सहयोग दिया है। गोर्की के 'माँ' उपन्यास की माँ जब अपने पुत्र और उसके दोस्तों के क्रांति-कर्म को समझती हुई उसमे सहयोग देने लगती है तब वह परम सुन्दर हो उठती है और इवानोविच एक प्रसग मे प्रसन्न होकर कहता है—"बहुत खूब, माँ! यह एक बडा ही जबरदस्त काम होगा, अद्भुत! तुम इस संसार में सबसे सुन्दर हो, माँ!"

सौन्दर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समग्र जीवन उसकी व्याप्ति मे आता है, किन्तु उसका सम्बन्ध प्राय यौन-सम्बन्धों से जोड़ दिया जाता है। यौन-सम्बन्ध जीवन की बहुत आकर्षक वस्तु है अत उससे अभिभूत कलाकार उसी को सौन्दर्य का मूल विषय मान लेते है और अपनी कृतियों मे उसी को आवश्यक-अनावश्यक विस्तार के साथ चित्रित करते है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रूप और प्रेम-सम्बन्ध सौन्दर्य का पर्याय बन जाते है। यह सच है स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रूप और प्रेम-सम्बन्ध ससार के सुन्दरतम पदार्थ है किन्तु समाजवादी दृष्टि मे ये भी परिवर्तनशील हैं। समाजवादी उपन्यासों ने रूप और प्रेम दोनो को ही शाश्वत वस्तु न मानकर परिवर्तित परिस्थितियो में परिवर्तनशील माना। यह बात लक्षित करने की है कि समाजवादी और सामाजिक उपन्यासकारों ने नारी-जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया किन्तु यह नारी अभिजात कुलो की महिमामयी नारी या रीति परम्परा की विलासिनी नारी नही थी वरन् सदियों से सामाजिक और पारिवारिक दमन के दुहरे चक्र में पिसती, बेबसी, अपमान और प्रतारणा के जाल में छटपटाती, समाज के लिए अपना सर्वस्व लुटाती नारी थी। जाहिर है कि समाजवादी उपन्यासकारों ने नारी के शारीरिक रूप की अपेक्षा उसके समूचे व्यक्तित्व को पहचानने की कोशिश की - इस व्यक्तित्व में उसकी विवशता भी है और नयी ऊर्जा भी है। इस व्यक्तित्व में एक ओर अभिजात नारियो का निष्क्रिय विलास वैभव है, दूसरी ओर सामान्य और श्रमशील नारियों का जटिल संघर्ष और चेतना है। मध्य या उच्च घरों की स्त्रियाँ या लड़कियाँ अपने रूप-सौन्दर्य मे यहाँ सार्थक और प्रासंगिक तभी होती है जब वे नवीन संघर्ष-शील सामाजिकता की चेतना लिए हुए हों। 'दादा कामरेड' की शैल, 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा, 'झूठा सच' की तारा, 'बूँद और समुद्र' की कन्या आदि अपने पारिवारिक और वर्गीय-संस्कारों से लडती हुई नवीन मानवता की चेतना प्राप्त करने के लिए रत है। उनकी यह समझदारी ही उनके नारी रूप को अत्यधिक सजीव बनाती है कि उनके परिवारो और उनके माध्यम से उनके वर्गों की शोषक विसगतियाँ कहाँ है, कैसी है और उनके विरुद्ध उन्हें क्या करना चाहिए? इस 'क्या है' और 'उन्हे क्या करना चाहिए' के बीच की छटपटाहट, टूटन, सघर्ष और एक निश्चय की कहानी बन जाती है ये नारियाँ। नारी-जीवन के सभी वर्गों में यह छटपटाहट और टूटन है किन्तु उनकी स्थितियाँ और परिणतियाँ थोड़ा भिन्न-भिन्न है। 'दादा कामरेड' की शैल यदि अपने बाप के

अनुसार चलती तो उसे कोई छटपटाहट नही होती। अपने धनी बाप की लाडली बेटी को स्वच्छन्दता और भौतिक सुखों का अभाव नही था किन्तु वह अपने बाप की छाया बनने की अपेक्षा अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व पाना चाहती है—नयी सामाजिक चेतना से सम्पन्न एक व्यक्तित्व। इसीलिए टकराहट प्रारंभ होती है। 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा की भी छटपटाहट स्वतंत्र चेतना के ही कारण उत्पन्न छटपटाहट है। उसकी स्वतंत्र सामाजिक चेतना अपने उच्च परिवार की आतरिक असुन्दरताओ को देखती है और आहत होती है तथा कम्युनिस्ट पार्टी मे जुडी होने के कारण वह एक नये तरह की जिन्दगी चाहती है जिसकी कोई गुजाइश उसके परिवार मे नही है। किन्तु निम्नवर्गीय सोमा की छटपटाहट की स्थिति कुछ दूसरे प्रकार की है। वह अपनी ससुराल के लोगो के अत्याचार से पीडित एक विधवा लडकी है—पहाडी, अबोध, गँवार। उसकी पीडा का स्रोत भौतिक और दैहिक है और उसकी परिणतियाँ भी भौतिक और दैहिक ही है। निम्नवर्गीय परिवारों की वे स्त्रियाँ भी रेखाकित की गयी जो अपनी समूची वेबसी, पीडा और पिछड़ेपन के अभिशाप को झेलती हुई भी सामाजिक जीवन की गति मे सहायक हो रही है, पुरुष की शक्ति सिद्ध हो रही है। वे अपनी सामाजिक और मानवीय संवेदना मे अधिक गहरी हैं इसलिए ये स्त्रियाँ निम्न वर्ग सुलभ सारी कमजोरियों से घिरी होकर भी भीतर-भीतर अधिक साफ-सुथरी और ऊर्जावान है इसलिए सुन्दर लगती है। इनमें से कोई पढ़ी-लिखी निकल जाती है तो अपनी बौद्धिक चेतना मे भी अत्यधिक उदग्र हो उठती है तथा एक निखालिस सामाजिकता उसके व्यक्तित्व में उभर उठती है। उदाहरण के लिए 'वरुण के बेटे' की मधुरी, 'सागर', लहरे और मनुष्य' की रत्ना को लिया जा सकता है। वैसे, निम्नवर्गीय नारियो में बौद्धिक चेतना के स्तर पर यह उभार अपवाद ही है, इसलिए उपन्यासकारो ने ऐसे पात्रों को बहुत कम लिया है।

सामाजिक विषमता का मूल आधार है आर्थिक विषमता। इस विषमता का शिकार या मुख्यता निम्न मध्यवर्ग और निम्नवर्ग हो रहा है किन्तु नारियाँ तो सभी वर्गों की शोषित है। कहा जा चुका है कि नारियो का शोषण दुहरा है। एक तो अभावग्रस्त वर्गों के लोग शोषित है, दूसरे इन वर्गों की स्त्रियाँ इन शोषित वर्गों के पुरुषों से शोषित हो रही है। इसके साथ आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त वर्गों की स्त्रियाँ भी उनके पुरुषो से शोषित है, उन्हे भी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नही है। 'दादा कामरेड' की शैल बड़े बाप की इकलौती बेटी है। उसे पैसे-रुपये खर्च करने की स्वाधीनता तो है किन्तु जहाँ वह बाप की मर्जी के प्रतिकूल मजदूरों के आन्दोलन मे भाग लेना शुरू करती है बाप का पुरुषत्व सामने आकर उसे आर्थिक भार से आहत करने लगता है और शैल आर्थिक दृष्टि से उसी प्रकार असहाय हो उठती है जैसे कोई अभावग्रस्त परिवार की नारी। क्या धनी परिवार, क्या निर्धन परिवार—सभी परिवारों के पुरुष नारी को आर्थिक आधार पर असहाय बनाकर छोड देते है। सामाजिक उपन्यासकारों ने इस वास्तविकता को बहुत सावधानी से रेखांकित

किया है।

और प्रेम ? प्रेम स्थायी नही होता। वह किसी पुरुष का नारी के प्रति या नारी का पुरुष के प्रति ऐसा भाव नहीं है जो चिरतन और आत्मिक होता है। वह भाव विशेष परिस्थितियो मे सम्पर्क से आये स्त्री-पुरुषों में बन जाता है और यदि इस सम्बन्ध के बनने का आधार समानधर्मिता नही है तो वह बनता-बिगडता रहता है। और समानधर्मिता का भी आधार समानवर्ग होता है। सभी वर्गो की कुछ विशेषताएँ कुछ संस्कार होते है। दो भिन्न वर्गो के विषम सस्कारों के कारण उनके पात्रों मे समानधर्मिता नही आ सकती। इसलिए बहुत से उच्च-वर्गीय और मध्यवर्गीय स्त्री पुरुष विचारो से समाजवादी होकर भी आचरण में बूर्ज्वा और दकियानूस ही रह जाते है। इस बूर्ज्वा संस्कार को तोडने के लिए समाजवादी संघर्ष मे सक्रिय भाग लेना पडता है। इसीलिए 'मनुष्य के रूप' में कामरेड भूषण मनोरमा के प्रति मधुर अवश्य है किन्तु वह वर्गीय असमानता को प्रेम के मार्ग मे बाधक समझकर उससे शादी करना स्वीकार नही करता। किन्तु जब मनोरमा अपना सब कुछ छोड-छाडकर पार्टी-दफ्तर मे काम करना शुरू कर देती है और वहाँ की जिन्दगी से एक नया सस्कार निर्मित करती है और फिर भूषण को पाने का प्रयत्न करती है तो भूषण भी वर्ग-असमानता वाली स्थिति को बीच मे न पाकर उसकी ओर झुकता है। इसी प्रकार 'दादा कामरेड' में शैल हरीश की सहकर्मिणी बनकर ही सच्चा प्यार अनुभव कर पाती है।

इस कर्मजन्य सहधर्मिता पर जो प्रेम आधारित नही है वह वास्तव में न तो सही अर्थों मे प्रेम होता है, न टिकाऊ होता है। वह एक सुविधा होता है। सुविधा जहाँ से मिल जाती है वही प्रेम पैदा हो जाता है। दूसरी बेहतर सुविधा पाते ही पहला प्रेम बदल जाता है। 'मनुष्य के रूप' मे मनोरमा सोमा के प्रति चिन्तित है। वह प्रेम को आदर्श मानती है। वह समझती है कि धनसिह के न लौटने पर सोमा का बुरा हाल होगा। इस संदर्भ मे भूषण बहुत व्यावहारिक ढग से सोचता है। वह मनोरमा को उत्तर देते हुए कहता है—"और सब चीजों की तरह जीवन मे प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है। यदि प्रेम बिलकुल छिछला या उथला रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है और यदि जीवन में प्रेम या आकर्षण का संयम विवेक से न हो वह जीवन के लिए घातक भी हो सकता है।" इसी बात को आगे बढ़ाता हुआ वह सोमा के बारे में कहता है—"इसका धनसिह से प्रेम कुछ परिस्थितियों का परिणाम है और कुछ परिस्थितियों का कारण भी है यदि इसका पति जिन्दा होता, शायद यह प्रेम हो ही नहीं सकता और होता तो तुम उससे सहानुभूति न करती। प्रेम जीवन मे शरीर की अनुभूति और आवश्यकता से पृथक् क्या वस्तु है ?" कहना न होगा इस उपन्यास में सोमा के प्रेम को इसी गतिशील और परिस्थिति-सापेक्ष रूप में देखा गया है। प्रेम के स्वस्थ स्वरूप की शक्तियों और उसके विकृत रूप की विसंगतियो का चित्रण इन उपन्यासों में सर्वत्र प्राप्त होता है।

प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नही कर देना चाहिए। सोद्देश्यता का अर्थ है किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। प्रचार का अर्थ है बहुत स्पष्ट रूप से किसी सिद्धान्त की, दृष्टिकोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना। सोद्देश्यता रचना की शक्ति को या उसकी रचनात्मकता को बल भी प्रदान करती है और आग्रह से बहुत ग्रस्त होने पर रचना को कमजोर भी बना सकती है, किन्तु प्रचार रचनात्मकता से असम्बद्ध होने के कारण कृति को कमजोर ही बनाता है। प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी-गली, विसगति-ग्रस्त शक्तियो का पर्दाफाश हो और नई सामाजिक शक्तियो के सघर्षों, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। साहित्य जनता का जनता के लिए चित्रण करता है, यह दृष्टिकोण प्रगतिवादी साहित्य के सर्जन के मूल मे काम कर रहा था। प्रचार साहित्य को हलका बनाता है और सिद्धान्त के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन के मनीषियो और साहित्य-चिन्तकों ने साहित्य मे प्रचार का विरोध ही किया है। यदि हम उपर्युक्त आधारों पर समाजवादी उपन्यासोका आकलन करे तो उनकी विशेषताएँ कुछ इस प्रकार की होंगी—

उसकी दृष्टि मार्क्सवादी है, और विषय सामाजिक जीवन। वह यथार्थवाद का चित्रण करता है किन्तु इसका यथार्थ प्रकृतिवाद के जैविक यथार्थ के विपरीत सामाजिक यथार्थ है। वह आतकवाद से भी अलग है। वह सामाजिक परिवेश का चित्रण करने मे ही सौन्दर्य देखता है। प्रगतिवादी उपन्यासकारो ने मनुष्य के सामाजिक परिवेश को ही विशेष महत्त्व दिया, उसमे भी उसके आर्थिक पहलू को। आर्थिक साधनों के बदलने से समाज के सम्बन्ध बदलते है और समाज के सम्बन्धो के बदलने से समाज की सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य मे नवीनता आती है। इन समाजवादी उपन्यासकारो ने इसी दृष्टिकोण से समाज के यथार्थ को चित्रित किया। शोषक और शोषित—दो वर्गों मे समाज बँट गया। युग-युग से भिन्न-भिन्न रूपो में आर्थिक शोषण का चक्र चला आ रहा है। इसलिए जब ये समाजवादी उपन्यासकार इतिहास की ओर गए तो वहाँ भी उन्होने शोषित जनता और शोषक अधिकारियों के बीच का सघर्ष ही देखा। इसी आर्थिक चक्र के चारों ओर जीवन के सारे व्यापार अपने-आप घूमते नजर आये। यशपाल के 'दिव्या', रागेय राघव के 'मुर्दों का टीला', राहुलजी के 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति' आदि ऐतिहासिक उपन्यासो मे इसी प्रकार की सामाजिक जनचेतना का चित्र मिलता है। समाजवादी उपन्यासों मे सदैव सामान्य पिसी हुई जनता और जीवन की नवीन शक्तियो के प्रति सहानुभूति तथा उन्हे स्थापित करने का भाव तथा परोपजीवी, असंगतियो से ग्रस्त, झूठी शान से गर्वीले लोगो और सड़ी-गली प्राचीन जिन्दगी के ठेकेदारों के प्रति कठोर आक्रोश दिखाई पड़ता है। आज के जमाने मे नये सामाजिक यथार्थों के उदय से कितने ही नैतिक, धार्मिक, साम्प्र-

जिक मूल्य मसक गए किन्तु समाज के स्वार्थी लोग है जो केवल अपने छोटे स्वार्थ के लिए उन्हे ओढे हुए हे और उनकी आड़ में व्यापक सत्यो का गला घोटना चाहते हे। प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने किसान, मजदूर और मध्यवर्ग के सभी वर्गों से अपनी कहानी चुनी। नवीन मनोविज्ञान के प्रभाव से इन उपन्यासकारों ने जिन पात्रों का निर्माण किया वे सीधे-सादे, जीवन ढोनेवाले पात्र नही थे, वरन् आधुनिक काल की जमीन से पैदा होनेवाली सारी द्वन्द्व चेतना से बने हुए पात्र थे। उनमे किसानो और मजदूरो के जो चित्र थे वे भी भोले-भाले, गरीब, निश्छल किसान-मजदूरो के चित्र नही थे बल्कि पुरानी चेतनाओ तथा बद्ध संस्कारो से ग्रस्त, नई जिन्दगी के लिए सामूहिक प्रयासो मे भाग लेनेवाले, अपने कार्य से सामाजिक जीवन की नीव मजबूत करनेवाले तथा अपने निजी जीवन में छोटी-छोटी स्वार्थवृत्तियो और हीन वासनाओ से अस्थिर हो जानेवाले किसान-मजदूर थे। इन प्रगतिवादी उपन्यासो मे आप उपन्यासकारो की सहानुभूति अवश्य पायेगे इनके प्रति, किन्तु वास्तव मे ये उपन्यास इन पात्रों की पूरी जिन्दगी की वास्तविकताओं को उनके समूचे आर्थिक और सामाजिक परिवेश के साथ उद्-घाटित करते चले है।

मध्यवर्ग एक अजीब वर्ग है। वह अपनी झूठी शान, काल्पनिक गरिमा और आर्थिक खोखलेपन के बीच अजब हारा हुआ-सा, कुंठित-सा दिखाई पड़ता है। द्वन्द्व का सबसे बड़ा शिकार वही होता हे। जीवन की असगतिया और काम-कुठाएँ वही अधिक दिखाई पडती हे। यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतराय, रागेय राघव, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकार प्रधानरूप से इस दिशा में योग देते हुए ज्ञात होते हे। किन्तु मूलतः इसी धारा को न स्वी-कारते हुए भी इसमे योग देनेवाले उपन्यासकार हैं भगवतीचरण वर्मा और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'। समाज की कुरीतियो तथा बँधी हुई मान्यताओ का कठोरता से पर्दाफाश करना भी प्रगतिवादी उपन्यासो की एक विशेषता हे, उग्र इस क्षेत्र में बहुत आगे बढे हुए हैं। पर्दाफाश करने की यह प्रवृत्ति कही-कही अश्लीलता की कोटि तक पहुँच जाती है।

ये उपन्यास मिथ्या आदर्श से सक्रान्त नहीं मालूम पड़ते। साथ-ही-साथ जो राजनीतिक चेतना समाज मे समय-समय पर जाग्रत होती गई, या कोई भयकर अकाल पड़ा, कोई साम्प्रदायिक दंगा हुआ, उन सबका समावेश भी इन उपन्यासों मे हुआ और इन नवीन परिस्थितियो के कारण जो मूल्यों में तनाव, टूटन और परिवर्तन आये, उन्हे भी इन्होने पकडने का प्रयास किया। 'झूठा सच' को लेकर यह बात समझी जा सकती हे। देश-विभाजन के पश्चात् जो विभीषिकाएँ और भयानक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई, उनके कारणो, उनकी स्थितियों और उनसे उत्पन्न अकल्पनीय मानवीय यातनाओं का तो व्यापक और गहन चित्रण यह उपन्यास करता ही है; साथ ही साथ सम्बन्धों और मूल्यों की टूटन और उनसे उत्पन्न नये सम्बन्धो, मूल्यों, आस्थाओं और जीवन शक्तियों के उदय की गहरी

पहचान भी कराता है। इस हलचल मे व्यथित होकर पात्र अपने-अपने असली रूप मे तो आ ही जाते है, किंतु कुछ ऐसे है जो भीतर निहित जिजीविषा को लेकर अपनी व्यथामयी जिन्दगी के भीतर से एक और जिन्दगी शुरू करते है। जहाँ प्रगतिशील बनने वाला पुरी धीरे-धीरे अपनी अन्तर्निहित बूर्ज्वा भावनाओं की परतें उघाड़ता हुआ नेता सूद के सम्पर्क मे आकर दुनियावी अर्थ मे बडा आदमी बन जाता है, वहाँ तारा तथा कनक जैसी यातनाभोगी स्त्रियाँ पुरुषो की चुनौती स्वीकार कर स्वतत्र व्यक्तित्व बनाने की सामयिक माँग को पहचानती है। वास्तविकता के प्रति आग्रही लेखक ने नारी-पुरुप के अनेक रूपो को देखा है। जहाँ बसी अपने पति से परित्यक्त होकर उसकी दलहीज पर सिर पटक-पटककर रोती है और मर जाती है वही तारा और कनक स्वाभिमानवश अपने-अपने पतियो को छोडकर नये ब्याह कर लेती है।

कुल मिलाकर हमारे सामाजिक सत्य के नये स्तरो को उभारने वाले प्रमुख समाजवादी और सामाजिक उपन्यासकार है—यशपाल, 'अश्क', अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, अमृतराय, रागेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त और नरेश मेहता। इस सामाजिक परम्परा को नये परिवेश मे आगे बढ़ानेवाले उपन्यास है आँचलिक उपन्यास।

ऐतिहासिक उपन्यास

डॉ० शशिभूषण सिहल

इतिहास के स्वरूप का विशद विश्लेषण करने के उपरान्त उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार सामने आती हैं—

(१) इतिहास मानव-जीवन के अध्ययन एवं स्पष्टीकरण में सहायक है। इसके अन्तर्गत विगत और वर्तमान की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया देखी जाती है।

(२) इतिहास मनुष्य की भौतिक उपलब्धि तथा उसके सांस्कृतिक विकास का साक्षी है। उसकी गति साभिप्राय है।

(३) इतिहास समाज और राष्ट्र का अध्ययन है। व्यक्ति का महत्व उसकी दृष्टि में केवल एक कण के रूप में है। व्यक्ति जिस समय सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, तभी और केवल उतना ही, इतिहास को स्वतन्त्र रूप से ग्राह्य है।

(४) सहृदयों द्वारा इतिहास का अवगाहन रसात्मक हो सकता है।

(५) इतिहास का अध्ययन निरन्तर गतिशील है। उसमें प्रयोग और पुनर्विचार की सम्भावनाएँ निहित रहती हैं।

(६) इतिहास विगत घटनाओं को अर्थ प्रदान कर, उनका मूल्यांकन करता है। इसके अध्येता में अन्तर्दृष्टि तथा तटस्थता, इन दोनों तत्त्वों का समुचित सामंजस्य होना अपेक्षित है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचना में इन सभी प्रवृत्तियों को सहज भाव से ग्रहण करता है और अपनी रुचि एवं प्रतिभा के अनुसार इनका उपयोग करता है। इतिहास मुख्य रूप से उसके लिए रस-सृष्टि का अचूक साधन है। वह, उसके द्वारा, पाठक के चित्त को एकाग्र कर लेता है। साथ ही, इतिहास के आश्रय द्वारा अपने वृत तथा कथ्य को प्रामाणिकता प्रदान करता है। वह रचना को भरपूर ऐतिहासिक रंग देकर, उसे वर्तमान के लिए अधिकाधिक ग्राह्य बनाता है तथा कथ्य को युग-विशेष की परिधि से ऊपर उठाकर सार्वकालिक, मानवीय सत्य का रूप देने का प्रयत्न करता है। सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का अध्ययन, उसकी कला को सप्राण बनाता है। प्रचलित-अप्रचलित तथ्यों का अन्तर्दर्शन कर, उन्हें नित-

नूतन प्रयोगो से मडित करना उसे सर्वाधिक प्रिय है। इन बातो मे ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहासकार के सन्निकट है।

ऐतिहासिक उपन्यास में व्यक्ति-चित्रण

ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी बिम्बात्मक शैली तथा कल्पना-प्रयोग की दृष्टि से इतिहासकार से भिन्न है। उसका कलाकार घटना के अकन-विवेचन से आगे बढकर चित्रण द्वारा उसे बिम्बात्मक रूप प्रदान करता है। बिम्ब की छाप पाठक के हृदय पर छोडना, उसका उद्देश्य रहता है। बिम्बाकन के लिए वह घटना मे समाज और राष्ट्र को गौण स्थान देकर व्यक्ति को प्रमुखता का स्थान देता है। उपन्यास के रगमच पर व्यक्ति उभरकर, अपनी लीला प्रदर्शित करता है और समाज उसकी पृष्ठभूमि का कार्य करता है। उपन्यासकार पात्रो के व्यक्तित्व खड़े करके, उनके अन्तर में पैठकर, उनके मनोविज्ञान को प्रत्यक्ष करता है। मानव चरित्र-चित्रण की इस प्रक्रिया मे वह प्राप्य ऐतिहासिक तथ्यो के कंकड़ो को हृदयंगम कर—चूर कर, गीला कर—प्रयोगाई बनाता है। फिर उस चिकनी लचीली मिट्टी को कल्पना के हाथों और डोरी से मोड़कर-तोड़कर, काटकर-छाँट-कर मनोरम कथा के रूप मे ढाल देता है। इतिहासकार प्रामाणिक तथ्यो के संग्रह तथा विवेचन, व्याख्या तक सीमित रहता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यों के मध्य रिक्ताशो को भरने, उनमे कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करने तथा उन्हे मानव-चरित्र-सापेक्ष बनाने के लिए जीवन-सुलभ कल्पना का आश्रय लेने को स्वतन्त्र है। वह उपन्यास मे वैज्ञानिक की भाँति परिस्थितियाँ उत्पन्न कर, उन पर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक प्रयोग करता है। वह पात्रो को सहज मानव की दृष्टि से अपनाता है। मनुष्य—व्यक्ति—के वास्तविकजीवन का अधि-काश, इतिहास मे अव्यक्त रहता है। उपन्यासकार, उसके जीवन के अनपेक्षित व्यक्त को त्यागकर, उल्लेखनीय अव्यक्त को व्यक्त करता है।

मानव-चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की दृष्टि से, उपन्यासकार का इतिहास से अपेक्षित स्वतन्त्रता लेना सहज-स्वाभाविक है। वह इतिहास के महारथियों को व्यक्ति—मानव—के रूप मे देखता है और घटना के परिणामो पर केन्द्रित होने की अपेक्षा उसके मूल कारण पर प्रकाश डालता है।[1] ऐसा कलाकार पूर्ण अर्थों में

1. Tolstoy in his appendix to 'War and Peace' writes : "An historian and an artist describing an historic epoch has two quite different tasks before them. As an historian would be wrong if he tried to present an historical person in his entirety, in all the complexity of his relations with all sides of life, so the artist would fail to perform his task were he to represent the person always in its historic significance.

ऐतिहासिक उपन्यासकार है, किन्तु वर्तमान से मुक्ति पाने अथवा अतीत में पलायन मात्र के उद्देश्य से रचा गया उपन्यास इतिहास के साथ न्याय नहीं करता। वह लेखक इतिहास का आधार मात्र देकर अपनी कल्पनाजन्य रचना को अतिरिक्त आकर्षण भले ही प्रदान कर दे, किन्तु उसकी कृति इतिहास की गहन प्रगतिशील प्रवृत्तियों के प्रभाव से वंचित रहेगी।[1] ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित होने वाली अधिकांश रचनाएँ अपने मूल उद्देश्य की उपेक्षा कर अन्य मार्ग ग्रहण कर लेती हैं। ऐसी रचनाओं को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्तमान से पलायन मात्र कराती हैं, प्रचार करती हैं या शिक्षा देती हैं। ये तीनों प्रवृत्तियाँ इतिहास के उपयुक्त अध्ययन, विश्लेषण के मार्ग की बाधाएँ हैं। इनमें कथाकार अतीत का भ्रम उत्पन्न कर, पाठक को आकृष्ट करता है। अतीत के प्रामाणिक अध्ययन के अभाव में यह प्रक्रिया, रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रसात्मक बोध के विविध रूपों के अन्तर्गत प्रतिपादित 'स्मृत्याभास' तथा 'अनुमानित प्रत्यभिज्ञान रूप कल्पना' के समीप आ पहुँचती है।[2] इसमें इतिहास के तत्त्व का अभाव हो जाता है।

उपन्यासकार और ऐतिहासिक पात्र

ऐतिहासिक उपन्यासकार प्रामाणिक तथ्यों तथा पात्रों को ग्रहण करने के उपरान्त उनके अन्तर में झाँकता है। पात्रों के अन्तर के विश्लेषण-कार्य में, वह

The historian has to deal with the results of an event, the artist with the fact of event...Either from his own experience, or from his letters, memoirs and accounts, the artist realises a certain event to himself and very often (take example of a battle) the deductions the historian permits himself to make as to the *activity* of such and such armies prove to be the very opposite of artist's deductions.

१. ...''रस की सृष्टि ही उद्देश्य है, अतएव उसको उत्पन्न करने के लिए जिस मात्रा में ऐतिहासिक उपकरणों की आवश्यकता होती है—कवि लोग उतनी ले लेने में कुछ सकोच नहीं करते। ...उपन्यासकार एकमात्र इसी ऐतिहासिक रस के लालची होते है। उन्हें सत्य की कुछ विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही सन्तुष्ट न हो और उसमें से अखंड इतिहास को निकाले तो वह व्यंजन में साबित जीरे, धनिये, हल्दी और सरसों को ढूँढेगा।''—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'साहित्य', पृ० १२४-१२५।

२. 'चिन्तामणि', भाग-१ में संग्रहीत रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध 'रसात्मक बोध के विविध रूप'।

सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की भाति पूर्ण स्वतन्त्र नही होता। उसे अपनी असाधारण प्रतिभा तथा अनवरत साधना के बल पर ऐतिहासिक पात्र के प्रकट स्वरूप एव गुह्य आत्मा से साक्षात्कार प्राप्त करना होता है। एक सुन्दर कविता में रॉबर्ट ब्रेज ने, रोचक ढंग से, इस तथ्य पर बल दिया है। उसने लेखक को ऐतिहासिक चरित्रों की समाप्ति पर जाकर उनके साक्षात् दर्शन की अपूर्व प्रेरणा दी है। उसका आशय है कि लेखक पात्र की चाल-ढाल, बोलचाल, वेश-भूषा, भावनाओं, आकांक्षाओ, आशा-निराशाओ से हार्दिक तादात्म्य स्थापित कर अपने कल्पना-नेत्रों मे उसकी सजग, साकार प्रतिमा प्रतिष्ठित कर ले। तभी लेखक पात्र से एकात्म हो उसे पुनर्जन्म प्रदान करने मे समर्थ होगा।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के कर्तव्य-कर्म पर, निष्कर्ष रूप में विचार करते समय, हिन्दी के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा का अपनी उपन्यास-कला के सम्बन्ध मे व्यक्त किया गया मत यहाँ उल्लेखनीय है। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास की सफलता, पाठको के मन मे वर्तमान समस्याओ के प्रति प्रत्यक्ष उदासीनता, तटस्थता उत्पन्न करने तथा उन्हे तत्सम्बन्धी अप्रत्यक्ष प्रेरणा देने की कला मे निहित मानी है। इस प्रसंग मे, उन्होने अतीत के स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए, भूत और वर्तमान के पारस्परिक सम्बन्ध को भली-भाँति स्पष्ट किया है। उनका वक्तव्य है—" उपन्यास और कहानी आपको आज भी दैनिक समाचार-पत्र के अपेक्षा किसी दूसरे समय और वातावरण मे उठा ले जाती है। आप अपने तत्कालीन क्षण को भूल जाते है और कहानी के क्षणो मे विचरने लगते है। मै आप लोगों को कभी सैकडों वर्ष पीछे ले जाता हूँ और कभी उससे भी अधिक परन्तु इतिहास की उदासीनता मे आपको फिर भी जकड़े रहता हूँ। किसी देश का इतिहास भूत और वर्तमान से अलग रहकर नही चलता। भूत में ग्राह्य और अग्राह्य दोनों ही है। भूत के ग्राह्य को लेना और अग्राह्य को छोड़ देना वर्तमान के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भविष्य के लिए वर्तमान की सुरुचिता और सुघडता का। मै गौरवगाथा द्वारा वर्तमान को भुलाता नही हूँ और न पाठक को पलायनवादी बनाता हूँ। मै उसको उत्तेजित करके भविष्य के लिए प्रबल बनाता हूँ। मै ताश के सुन्दर पत्ते बनाता हूँ। आप उनमे तुरुप, ब्रिज, चाहें जो खेले, परन्तु खेले सहानुभूति, ईमानदारी और खिलाडीपन के साथ। मै केवल लकडी का खेल नही सिखाता जिससे केवल हाथ-पाँव तोडे जायँ या खोपड़ी का भंजन किया जाये। वर्तमान समस्याओं का हल अचेत मन पर हमला करने मे ज्यादा आसान होगा और सचेत मन पर हमला करने से कम। जब मै शताब्दियों पहले के वातावरण मे पाठकों को उठा ले भागता हूँ, तब वे वर्तमान का कोई भी आग्रह या दुराग्रह साथ नहीं ले जा पाते। फिर वहीं उनके अचेत मन में प्रवेश करके जो कुछ करना चाहता हूँ, कर डालता हूँ। वे जब उपन्यास को समाप्त करने के बाद वर्तमान में लौटते है तब अपने-आपको कुछ अधिक सशक्त, स्फूर्तिमय और बढ़ा हुआ पाते है। उनको मैं पुराने वातावरण मे ले जाकर

पुरातन की ग्राह्य और अग्राह्य दोनों मूर्तियाँ दिखाता हूँ जिससे वे वर्तमान में लौटकर पुरातन के सड़ियलपने को वहीं छोड़ आएँ और सत्तत्व को अपने साथ रखकर वर्तमान की समस्या से भिड़ने में अपने-आपको समर्थ पाएँ।"[१]

ऐतिहासिक उपन्यास—अतीत की सीमा-रेखा

ऐतिहासिक उपन्यास की रचना के प्रसंग में, 'अतीत' तथा 'वर्तमान' शब्दों का बारम्बार प्रयोग किया गया है तथा उन्हें पृथक् रखकर, विद्वानों ने, उनके पारस्परिक प्रभाव को आँकने का प्रयास किया है। इन दोनों महत्वपूर्ण शब्दों के अर्थ एवं प्रयोग के प्रश्न को लेकर भ्रम उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। जो इस समय वर्तमान है, वह क्षण-भर बाद अतीत बन जाता है, यह प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी है। ऐसी स्थिति में, ऐतिहासिक उपन्यासकार किसे अतीत माने और किसे वर्तमान? उदाहरण के लिए, सन् १९४२ के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, भारतीयस्वतन्त्रता-प्राप्ति, भारत के देश-विभाजन आदि की उल्लेखनीय घटनाएँ विगत हो चुकी हैं और इतिहास का विषय बन गई है। फिर भी, हम यशपाल के भारतीय विभाजन पर आधारित उपन्यास 'झूठा सच' को सामाजिक अथवा किसी अन्य कोटि का उपन्यास मानते हैं, किन्तु उसके ऐतिहासिक उपन्यास होने की सम्भावना की कल्पना तक भी नहीं करते। इस समस्या के उत्तर के लिए, हमें इतिहासकार की कार्य-प्रणाली पर विचार करना होगा। इतिहासकार अपने अध्ययन के विषय का स्वयं द्रष्टा नहीं होता, वरन विषय पर प्रकाश डालने वाली सामग्री के सूत्र अन्य स्रोतों से प्राप्त करता है। वह घटना का स्वयं साक्षी न होकर, प्राप्य साक्ष्य-तन्तुओं पर अपना निर्णय देता है। उसकी तुलना एक निर्णायक तथा न्यायाधीश से की जा सकती है। न्यायाधीश विचाराधीन विगत घटना से दूर बैठकर, तर्क के आधार पर, उसके कार्य-कारण-क्रम की संगति-असंगति पर विचार कर, किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ठीक इसी प्रकार इतिहासकार अपनी विवेच्य घटना का प्रत्यक्ष साक्षी नहीं होता। वह घटना-सम्बन्धी प्राप्य साक्ष्यों को एकत्र कर, उनके कार्य-कारण-क्रम पर विचार करने के फलस्वरूप कुछ निष्कर्ष प्राप्त करता है। अप्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा प्राप्त ये निष्कर्ष, उसके अध्ययन की देन है।

ऐतिहासिक उपन्यास तथा अन्य किसी प्रकार की कथा में मौलिक अन्तर है—प्रत्येक निरीक्षण के प्रश्न को लेकर। ऐतिहासिक उपन्यासकार जिन बाह्य साक्ष्यों के आधार पर जिस युग और उसके निवासियों का पुनर्सृजन करता है, वह स्वयं उनका अंग नहीं होता। वह तटस्थ द्रष्टा-तथा विवेचक के रूप में, प्राप्य विभिन्न पूर्ण अथवा आंशिक तथा परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का व्याख्याता होता है। यशपाल 'झूठा सच' में घटित घटनाओं के, स्वयं द्रष्टा अथवा साक्षी होने के

१. पत्रिका—'सरगम', मासिक, बम्बई, ९ मार्च, १९५१ के लेख 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा' से।

कारण अपनी कृति को ऐतिहासिक उपन्यास की सज्ञा नही दे सकते । वे उपन्यास में चित्रित युग के स्वयं एक अनुभूतिशील अंग रहे है । यदि वे उपन्यास मे प्रस्तुत किये गए वृत्तों, पात्रों तथा समाज को अन्य स्रोतो एवं साक्ष्यो से प्राप्त कर, उनके औचित्य एव प्रामाणिकता पर विचार कर, अपने निष्कर्ष रूप मे, उन्हें प्रस्तुत करते, तो यह रचना ऐतिहासिक उपन्यास की सज्ञा की अधिकारिणी होती । अत: ऐतिहासिक उपन्यास मे अतीत का चित्रण रहता है, यह चित्रण ऐसे अतीत का होता है जो पर्याप्त पूर्व घट चुका है और उपन्यासकार के व्यक्तिगत अनुभव की पहुँच से परे है ।

ऐतिहासिक उपन्यासो के अनिवार्य तत्त्व

ऐतिहासिक उपन्यास का इतिहास सम्बन्धी अवयव प्रामाणिकता की अपेक्षा रखता है । यह प्रामाणिकता, रचना पर अतीत की छाप लगने से आती है । रचना मे अतीत की छाप लगाने या उसमें अतीत का आभास उत्पन्न करने के लिए, रचयिता इन तीनों या तीनों मे से किसी एक तत्त्व का आश्रय लेता है—

(क) वातावरण ।

(ख) घटना या कथा ।

(ग) पात्र ।

वातावरण : युगानुकूल वातावरण का चित्रण, ऐतिहासिक उपन्यास का सर्वप्रथम एव अनिवार्य लक्षण है । ऐतिहासिक उपन्यास पाठक को वर्तमान से भिन्न किसी विगत संसार मे ले पहुँचाता है । पाठक उस संसार की, उस युग की पहचान वहाँ के वातावरण से करता है । यदि उपन्यास की वातावरण-सृष्टि मन को आश्वस्त करनेवाली नही है, तो पाठक को ऐतिहासिक कथा तथा पात्र भी निराधार, हवा मे उड़ते जैसे जान पडेगे । वातावरण का तत्त्व उपन्यास मे बडा सूक्ष्म तथा बहुव्यापक है । जिस प्रकार ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त है और बाह्य चक्षुओं को दृष्टिगोचर नहीं होता, कुछ-कुछ इसी प्रकार, वातावरण सम्पूर्ण उपन्यास मे रमा रहता है, किन्तु सूक्ष्म निरीक्षण के बिना लक्ष्य नही होता । कह सकते है, उपन्यास मे पात्रों के कथोपकथन तथा क्रियाकलाप को छोडकर शेष सामग्री देश-काल अथवा वातावरण से सम्बन्ध रखती है । हम ध्यान दे तो पायेंगे कि पात्रो के कथोपकथनो की भाषा तथा उनमे व्यंजित उनकी मनोवृत्ति युग की छाप से अछूती नहीं रह सकती । इसी प्रकार पात्रो के क्रिया-कलाप मे भी युग की झलक रहती है । उदाहरण के लिए, प्रागैतिहासिक काल, बुद्धकाल, मुस्लिमकाल तथा अंग्रेजी-काल के पात्रो की भाषा, मनोवृत्ति तथा कार्य-व्यापार की विशेषताओं को पृथक्-पृथक्, स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । इन सभी प्रकार के पात्रो के क्रियाकलाप में युगीन चारित्रिक विशेषताओ की छाप अनिवार्य रूप से निहित होगी । वातावरण के अन्तर्गत, कथा के सभी बाह्य उपकरण, उसकी योजना में सहायता करने वाले पात्रों के आचार-विचार, रीति-नीति तथा

रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका और परिस्थिति आ जाते है। वातावरण के निर्माण मे योग देने वाले विभिन्न तत्वो का स्पष्ट वर्गीकरण करना तनिक कठिन है। वे परस्पर कुछ ऐसे उलझे हुए है कि एक तत्व दूसरे से मिला होने पर भी पृथक् दीखता है, और स्पष्ट रूप से स्वतंत्र दीखने वाले तत्व मूल मे कही-न-कही अभिन्न जान पडते है।[1]

(ख) कथा और पात्र : ऐतिहासिक उपन्यास मे प्रतिबिम्बित अतीत को प्रामाणिकता प्रदान करनेवाले अन्य तत्त्व, घटना या कथा तथा पात्र है। उपन्यासकार को इतिहास से, अपनी रुचि तथा उद्देश्य पर खरी उतरनेवाली, समूची कथा मिलनी असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। इसीलिए, प्राय सभी ऐतिहासिक उपन्यासो की कथाओ मे उपन्यासकार की कल्पना का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य विद्यमान रहता है। उपन्यासकार ऐतिहासिक तथ्यो की

१. वातावरण के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्नलिखित तत्वों पर प्रकाश डाला जाता है, ये काल-विशेष का बोध कराते है—
   (क) स्थल की भौगोलिक स्थिति - प्रकृति तथा भूखंड, नगर, ग्राम। स्थल-विशेष की प्रकृति सम्बन्धी विशेषताएँ साधारणतया विभिन्न युगों में एक-सी रहती है। प्राकृतिक परिवर्तनों (भूकम्प, नदी का मार्ग बदलना, पृथ्वी का उर्वर या ऊसर हो जाना आदि) तथा सभ्यता के विकास-निर्माण से देश की प्राकृतिक स्थिति यत्किंचित् बदलती रहती है। अतीत का चित्रण करते समय उपन्यासकार अतीत की ऐसी प्राकृतिक विशेषताओं को ध्यान मे रखता है। वह उसके तत्कालीन मूल स्वरूपों का परिचय देता है। 'मुर्दों का टीला' (रांगेय राघव), 'वैशाली की नगरवधू' (चतुरसेन शास्त्री), 'भुवनविक्रम' (वृन्दावनलाल वर्मा) आदि उपन्यासों में अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं।—देश की राजनीतिक सीमाएँ तथा नगर, ग्राम की स्थिति बदलती रहती है।
   (ख) राजनीतिक व्यवस्था—नीति, कूटनीति। शासन-व्यवस्था, न्याय, युद्ध-प्रणाली। अर्थ-नीति, आर्थिक व्यवस्था, व्यापार-प्रणाली।
   (ग) सामाजिक व्यवस्था—जाति-व्यवस्था, परिवार-व्यवस्था, जीवन-व्यवस्था (विभिन्न आश्रम), सामाजिक व्यवहार एवं सम्बन्ध। सामाजिक संस्कार, रीति नीति। खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन। सामाजिक मनोवृत्ति।
   (घ) धार्मिक मान्यता—देवी-देवता, विभिन्न मत, पूजन-विधि, यज्ञ, बलि आदि।
   (ङ) मनोरंजन प्रणाली—क्रीड़ा, व्यंग्य-विनोद, उत्सव-विधि।
   (च) जीवन-मूल्य—कला, साहित्य, शिक्षा-पद्धति।
   (छ) लोक-जीवन तथा लोक-विश्वास।

रक्षा करते हुए, उनके पल्लवन मे कल्पना का प्रयोग कर सकता है तथा वह तथ्यो की नवीन व्याख्या करते हुए, उन्हे अपनी कल्पना के आधार पर कार्य-कारण शृंखला प्रदान करता है। कभी-कभी वह प्राप्य एक ऐतिहासिक घटना से काम चला लेता है और शेष कथांश की, कल्पना के बल पर, सृष्टि करता है। इसी प्रकार, उपन्यास मे, ऐतिहासिक पात्रो के प्रयोग की स्थिति है। पहले कहा जा चुका है, इतिहास से प्राप्त व्यक्तियो को, उपन्यासकार, ठीक उसी रूप मे नही देखता, वरन् अपनी कल्पना-शक्ति से उन्हे पूर्ण मानव बनाता है, उनका मनोविश्लेषण प्रस्तुत करता है। और, जिस समय प्राप्य पात्र उसकी उद्देश्य-पूर्ति के लिए यथेष्ट नही होते, तो वह कल्पित पात्रो की सृष्टि करता है। हाँ, उसे इतना ध्यान अवश्य रखना होता है कि कल्पित पात्र की आत्मा और उसका रंग-ढंग ठीक युगानुकूल हो। उपन्यासकार का उद्देश्य ऐतिहासिक आवरण मे से शाश्वत जीवन-मूल्यों की खोज करना रहता है। जिस समय उसे इतिहास की खान से इन मूल्यो की प्रतिष्ठा में सहायक वांछित रुचि एवं कोटि के मानव-रत्न नही मिलते, तब वह, विशेषकर, कल्पित पात्रों का आश्रय लेता है। ये पात्र उपन्यास मे पदार्पण कर उसमे नये अर्थ भर देते है। उपन्यासकार की पात्र-चित्रण-कला की उत्कृष्टता की दृष्टि से, कभी-कभी, काल्पनिक पात्र ऐतिहासिक पात्रों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होते है।[१]

हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रकार

ऐतिहासिक उपन्यास के उपजीव्य—अतीत का आभास, वातावरण, घटना या कथा तथा पात्र—के आधार पर उसके प्रमुख छ प्रकार निम्नलिखित है। इन सबके उदाहरण हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासो मे प्राप्य है—

(क) **केवल अतीत का आभास प्रस्तुत करने वाले उपन्यास** : इनमे कथा-पात्र तो कल्पित होते ही है, किन्तु इनका वातावरण युग-विरुद्ध न होते हुए भी आंशिक, अपूर्ण तथा कथा एवं पात्राश्रित-मात्र होता है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उपन्यास इस प्रकार का उदाहरण है। वर्मा ने उपन्यास में चन्द्रगुप्त मौर्य के युग का आभास मात्र दिया है और वे अपनी कथा कह चले है। उस युग की पूर्ण प्रतिष्ठा करने तथा युग एवं कथा की प्रकृति मे संगति बिठाने की ओर, उन्होने ध्यान नही दिया है।

ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित रचनाओं के शेष प्रकारो के विवेचन से पूर्व यहाँ उल्लेखनीय है कि इन सबमे ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि एवं सुरक्षा का तत्त्व होना अनिवार्य है। जिन तथाकथित 'ऐतिहासिक उपन्यासों' में वातावरण-तत्त्व की अवहेलना की जाती है और किंचित् ऐतिहासिक पात्रों तथा

१. जैसे कचनार ('कचनार'—वृन्दावनलाल वर्मा), अमिता ('अमिता'—यशपाल), करभिका ('आचार्य चाणक्य'—सत्यकेतु विद्यालंकार) आदि।

घटनाओं के उल्लेख मात्र से अतीत का भ्रम उत्पन्न किया जाता है, उन्हें ऐतिहासिक उपन्यास की किसी भी कोटि के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता।[1] इस मान्यता का मुख्य कारण यह है कि ये रचनाएँ मनोरंजन (वर्तमान से पलायन), प्रचार अथवा शिक्षा के लिए सृजी जाती हैं और इनमें पूर्वोल्लिखित ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का नितान्त अभाव रहता है।

शेष, ऐतिहासिक वातावरण से युक्त, उपन्यासों के प्रकार ये हैं—

(ख) ऐतिहासिक वातावरण मात्र प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास : इनमें ऐतिहासिक कथा तथा पात्रों का प्रयोग नहीं होता। यशपाल के 'दिव्या' तथा 'अमिता' और रांगेय राघव का उपन्यास 'मुर्दों का टीला' इस कोटि में आते हैं।

(ग) केवल ऐतिहासिक पात्र के आधार पर रचे गए उपन्यास : इनमें ऐतिहासिक वातावरण रहता है, कथा कल्पित होती है। केवल एक या एकाधिक पात्र इतिहास-सम्मत होते हैं। उदाहरण—'वैशाली की नगरवधू' (चतुरसेन शास्त्री), 'विराटा की पद्मिनी' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी)।

(घ) केवल ऐतिहासिक कथा के आधार पर रचे गए उपन्यास : इनमें वातावरण तथा कथा का गौण अंश, प्रामाणिक होते हैं, किन्तु कथा का मुख्यांश तथा मुख्यांश के पात्र, सर्वथा काल्पनिक होते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास 'टूटे काँटे' इस कोटि का है। इसमें मुख्य कथा, नर्तकी नूरबाई और सिपाही मोहन की है। ये दोनों पात्र कल्पित हैं, किन्तु पृष्ठभूमि में चलनेवाला, नादिरशाह के भारत पर आक्रमण का प्रकरण ऐतिहासिक है।

(ङ) केवल किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर रचे गए उपन्यास : इनमें वातावरण ऐतिहासिक होता है और इतिहास-प्रसिद्ध कोई एक या दो घटना होती है, शेष कथा तथा पात्र पूर्णतया काल्पनिक होते हैं। यशपाल का 'अमिता' उपन्यास यहाँ उल्लेखनीय है। इसके अन्त में कलिंग पर अशोक के आक्रमण तथा उसके हृदय-परिवर्तन का उल्लेख है। शेष कथा तथा पात्र काल्पनिक हैं। इसी प्रकार, वृन्दावनलाल वर्मा के 'भुवनविक्रम' उपन्यास में राजा रोमक की अपदस्थता की ख्यात घटना है, शेष कथा कल्पित है।

(च) ऐतिहासिक वातावरण, कथा तथा पात्र से युक्त उपन्यास : इन्हें शुद्ध अथवा पूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। इनमें उपन्यासकार कलाकार-सुलभ कल्पना का यत्र-तत्र आश्रय लेता है किन्तु मूल रूप से, ऐतिहासिक सूत्रों से बँधकर चलता है। इस प्रकार के उपन्यास, प्रामाणिक अधिक, किन्तु सुगठित एवं रोचक अपेक्षाकृत कम होते हैं। इन्हें सफल उपन्यास बनाने के लिए, रचयिता में असाधारण कौशल की अपेक्षा है। उदाहरण के तौर पर वृन्दावन-

१. वृन्दावनलाल वर्मा—पूर्वकाल में, विशेषकर, किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों के अनेक उपन्यास इस प्रकार के हैं।

लाल वर्मा का 'झाँसी की रानी', 'अहिल्याबाई' तथा सत्यकेतु विद्यालकार का 'चाणक्य' उपन्यास है। अमृतलाल नागर का 'शतरंज के मोहरे' भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह उपन्यास रोचक बन पड़ा है। नागरजी ने इसमे कथा और पात्रो की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए वातावरण-चित्रण पर अधिक बल दिया है। इसीलिए कथा कुछ बिखर गई है। इसी प्रकार 'झाँसी की रानी' के तथ्य-प्रधान हो जाने के कारण आलोचक प्राय शका कर बैठते है कि यह रचना उपन्यास है या जीवनी ? 'अहल्याबाई' को उपन्यास मानने मे इन पक्तियो के लेखक को भी सकोच है।

आंचलिक उपन्यास

डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी

शब्द प्रयोग और अर्थ

स्वतन्त्रता के परवर्ती काल में ही हिन्दी साहित्य मे 'आंचलिक उपन्यास' शब्द का प्रचलन हुआ है। सस्कृत शब्दकोषो मे अचल का सीमित अर्थ—वस्त्र का छोर या किनारा ही उपलब्ध है, जो इस संदर्भ मे महत्त्वहीन है। बँगला और हिन्दी के कोशों मे संस्कृत अर्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ भी दिया गया है—'देश का एक भाग या प्रान्त'। अचल शब्द के इसी अर्थ में साभिप्राय-विशेषण का निर्माण किया गया है। अतः आंचलिक उपन्यास का सम्प्रेषित अर्थ है - विशेष भूमि अंचल से सम्बद्ध उपन्यास अथवा अचलविशेष का उपन्यास। हिन्दी के शब्द-कोशों और पारिभाषिक शब्दकोशो मे आंचलिकता[1] और आंचलिक उपन्यास[2] का यही अर्थ स्वीकृत हो गया है।

परिभाषाएँ

आंचलिक उपन्यासों के प्रकाशन के साथ ही अनेक विचारकों तथा आलोचकों ने इसके सम्बन्ध में विचार, अध्ययन, विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है—उनमें भी उपरोक्त अर्थ ने ही प्रधानता प्राप्त की है—कतिपय विचार और परिभाषाएँ उदाहरण के रूप में उपस्थित हैं—

डा० देवराज उपाध्याय : "आंचलिक उपन्यास मे लेखक देश के किसी विशेष

१. (क) आंचलिकता : "कुछ लोगों की वह प्रवृत्ति-विशेष जिसके अन्तर्गत उनकी कृतियों की पृष्ठभूमि में राष्ट्र का कोई अंचल विशेष रहता है, जिस का विस्तृत वर्णन, उसके निवासियों के जीवन और व्यवसाय-व्यवहार आदि-के समेत उसमें समाविष्ट रहता है।"
—मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड)

२. (ख) "कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है तो उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।"
—हिन्दी साहित्य-कोश

भूभाग पर ध्यान केन्द्रित कर उसके जीवन को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी अनन्य विशेषताओं, विशिष्ट व्यक्तित्व, रीति-परम्पराओं तथा जीवन-विधा के प्रति सचेत व आकृष्ट हो जाता है।" (हिन्दी रिव्यू मैगजीन, मई १९५६, रीसैन्ट टैन्डैन्सीज इन हिन्दी फिक्शन)

श्री धनजय वर्मा : उपन्यासों में लोक-रंगों को उभारकर किसी अंचल-विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाले उपन्यासो को आंचलिक उपन्यास कहा जायेगा। **(आलोचना, अक्तूबर, १९५७, परती परिकथा)**

श्री विशम्भरनाथ उपाध्याय : आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते है जिनमे किसी विशेष जनपद, अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण होता है। **(साहित्य सदेश, जनवरी-फरवरी, १९५८)**

डा० रामदरश मिश्र . आंचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है, उसका सम्बन्ध जनपद से होता है। ऐसा नहीं, वह जनपद की ही कथा है। **(हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा—पृष्ठ १८८)**

डा० शशिभूषण सिंहल . आंचलिक उपन्यास, समाज के क्षेत्र विशेष के सांस्कृतिक परिवेश को प्रस्तुत करता है। सामाजिक उपन्यास मे देश के सामान्य सांस्कृतिक जीवन की झाँकी मिलती है, किन्तु आंचलिक उपन्यास, प्रमुख सांस्कृतिक धारा में स्थित द्वीप सरीखे स्थिर प्राय: स्वत· पूर्ण अंचलों की लोक संस्कृति को अपना कथ्य बनाते है। **(हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां, पृष्ठ ३१९)**

अंग्रेजी-साहित्य मे 'रीजनल नावेल' (आंचलिक उपन्यास) हिन्दी से बहुत पहले ही उपलब्ध थे, उनके सम्बन्ध मे जो आलोचकों ने[1] अपने विचार अभिव्यक्त किये है वे भी हिन्दी के आलोचकों के समानार्थी है। विभिन्न विचारो और परिभाषाओं से आंचलिक उपन्यास का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

१. **(क) वॉकर-एलन : (इंग्लिश-नावेल)** "Maria Edgeworth gave fiction a local habitation and a name.......She invented in other words the regional novel, in which the very nature of the novelist's characters is conditioned, received its bias and expression from the fact that they live in a country-side differentiated by traditional way of life from other country side."

(ख) एन्थनी सोर्स : (An introduction to the study of Literature —Different kinds of Novel) Again there are writers whose aim is not to represent the social life of a particular period as a whole but to point a specific locality or place with its peculiarities of speech, habits, dress and manners.

आचलिक उपन्यास अंचल-विशेष के समग्र जीवन को प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है, जिसमे उसका अंतस् और बाह्य जीवन सम्पूर्णता तथा अनेक कोणों से उभारा जाता है। अंचल ग्राम और नगर दोनों से सम्बद्ध हो सकता है बशर्ते कि यह अचीन्हा अपरिचित हो, अति-परिचित अथवा अतिज्ञात न हो।

मूल तत्त्व

१. **आंचलिक देशकाल या वातावरण** : आचलिक उपन्यास का मूल तत्त्व है आंचलिकता, वही इसके नामकरण तथा पृथक्करण का कारण है। उपन्यास होने के नाते औपन्यासिक तत्त्व वे ही है, कथा, चरित्र, उद्देश्य, देशकाल, वातावरण, कथोपकथन और भाषा-शैली। अन्तर यह है कि इसमें प्राण-तत्त्व अंचल का देशकाल या वातावरण है। अन्य तत्त्वों की प्रधानता विभिन्न रूप-विधाओं में परिलक्षित हो चुकी थी—जैसे कथा-प्रधान जासूसी, तिलस्मी आदि उपन्यास; चरित्र-प्रधान उपन्यास, जिनका विकास मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों तक हो चुका है; उद्देश्य-प्रधान, जिनका विशेष रूप प्रगतिवादी उपन्यासों मे मुखरित हुआ है, शैली-प्रधान, जिनमे शिल्प के अनेक प्रयोग किये गये है। इन सभी प्रकार के उपन्यासों मे 'वातावरण-तत्त्व' ग्रहण किया गया है परन्तु द्रष्टा-आधार के रूप मे ही। उदाहरण से लिए कथा-प्रधान उपन्यासों में जीवित यथार्थता, चरित्र-प्रधान मे व्यक्तित्व की सप्राण-चेतना, उद्देश्य-प्रधान मे सिद्धान्त की विश्वसनीय व्याख्या तथा कला-प्रधान मे शिल्पगत प्रयोगों के साधन रूप मे देशकाल का उपयोग किया है। अनेक उपन्यासकारों ने जैसे प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक और वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों में इसे महत्त्व प्रदान किया है परन्तु अनेक में से एक गुण के रूप मे ही। आचलिक उपन्यासों से पूर्व यह तत्त्व मूलभूत प्रेरणा, प्राणतत्त्व, साध्य तथा सारभूत प्रभाव का व्यंजक नही बन पाया था। इन उपन्यासों मे यह पदार्थ 'Material basis' सामग्री है, समस्त तत्त्वों में यह प्राण-रूप में अनस्यूत है जो उनका निर्माण, नियमन और संचालन करता है। कथा आंचलिक देशकाल में ही घटित होती है, पात्र वहीं जीवित है, शिल्प उसी की अभिव्यंजना का प्रयत्न है तथा वह ही उसका साध्य उद्देश्य है। सारांश में—

(ग) **पर्सी-मार्शल** : "(Masters of English Novels)...there stemmed a whole line of 'regional' novels all intent an explaining, with more or less success the peculiar qualities of a town ora country side."

(घ) **डफिन** : (Return of the Native : Thomas Hardy) "It is indeed a story of Egdon. Egdon is not only the scene of the tale, it dominates the plot and determines the characters. It is sentients, it feels, it speaks, it slays."

इन उपन्यासो मे अंचल विशेष का देश-काल अथवा वातावरण एक तत्त्व मात्र के रूप मे नही, पूर्ण व्यक्तित्व के रूप मे उकेरा जाता है।

देशकाल सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि इसमे 'देश' प्रमुख होता है—'काल' अपेक्षाकृत गौण। अंचल-विशेष पर बल देने के कारण देशांचल ही प्रधान रहता है, काल अपने तीनों अंशों—भूत-वर्तमान-भविष्यत् सहित उसे तीन कोण से उजागर करते हुए उसके व्यक्तित्व को आयाम-युक्त पूर्णता प्रदान करता है। भूखंड को प्रोजेक्ट करने मे काल एक 'कोण' मात्र बन जाता है। एक और प्रवृत्ति इसी सम्बन्ध मे स्पष्ट है कि इसमे वर्तमान जीवित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि इसमे जीवित, स्थिर देशांचल काल की गतिशील धुरी पर प्रस्तुत किया जाता है।

तीसरी प्रवृत्ति है—जनपदीय जीवन के वातावरण की समग्र सम्पूर्णता। इसमे एक ओर भौगोलिक वैशिष्ट्य, उसके व्यक्तित्व को रूपरंग प्रदान करते हे दूसरी ओर उसकी आत्मा भावानुभूति—स्वप्न कल्पना—विचार के सर्वांग सहित उसे चारित्र्य प्रदान करती है। आंचलिक जीवन के अनेक पक्ष इसमे ग्रहण किए जाते हे—अंचल का क्षेत्र, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, प्रकृति, जीवनयापन की विधि, वेशभूषा, भोजन, रहन-सहन, आय व्यवसाय, व्यसन-मनोरंजन, लोक-मनोवृत्ति, मान्यताएँ, विश्वास, सामाजिक गठन, वैचारिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ, सामाजिक सम्बन्ध, उत्सव-पर्व, रीति-रिवाज, भाषा-उच्चारण, मनोरंजन के सामूहिक रूप—नृत्य, गीत, कथा, चित्र, रंगमंच आदि, धर्म-आस्था से प्रेरित अंध-विश्वास, व्रत-त्योहार, भूत, भाग्य, शकुन आदि से प्रेरित जादू टोना-टटका आदि।

२ **वस्तु और क्षेत्र**: आंचलिक उपन्यास की विषयवस्तु है—'अंचल-विशेष'। आरम्भ मे यह धारणा बनने लगी थी कि इस प्रकार के उपन्यास का अंचल ग्राम से ही सम्बद्ध होता है परन्तु इस परम्परा के विकास से यह स्पष्ट हो चुका है कि इसे ग्राम-क्षेत्र तक सीमित नही किया जा सकता। इस क्षेत्र मे ग्राम के साथ नगर, उप-नगर, महा-नगर के उप-क्षेत्र, कस्बे, पिछड़ी जातियों, वर्गों की वस्तियाँ, आदिवासी-क्षेत्र, वन-प्रदेश, नदी का समस्त भू-प्रसार, पर्वतीय-प्रदेश, तलहटी, पठार, मैदानी भूखंड आदि अंचल रूपों मे परिलक्षित हो रहे है। इसकी सीमा—विस्तार मे भी वैविध्य है—कही ब्रह्मपुत्र नदी का सम्पूर्ण फैलाव है तो कही लखनऊ का 'चौक' मुहल्ला मात्र।

इस उपन्यास-विधा मे अंचल की सीमा-विस्तार से अधिक उसके पिछड़े, अविकसित रूप को महत्त्व प्राप्त है। ये विशेषण अचीन्हे, अनजाने, अनछुए के पर्याय है—विकास की समसामयिक काल-गति में जो पिछड़ने के कारण अविकसित रह गया है और दूसरो के लिए अपरिचित हो गया हे—वह भू-अंचल ही इनका आधार है।

विषयवस्तु सम्बन्धी तीसरी विशेषता है—सीमित-समग्रता। प्रतिपाद्य जीवन

का 'अचल' अपनी निजी अनन्यता को अपनी सीमाओं में समेटकर ही संरक्षित रख सकता है। अत. प्रवृत्ति क्षेत्र के परिसीमन की ओर है। इसके साथ ही शर्त है समग्रता, सम्पूर्णता, सर्वांगीणता। परिसीमित भू-अंचल के जीवन की सम्पूर्ण छवि इनका साध्य है, अतः अनेकानेक पक्षों और कोणो से जीवन की समग्रता को उभारने का प्रयत्न सभी लेखको मे दृष्टिगत हुआ है। इसका अर्थ यह नही है कि भौगोलिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक लोक-परपरागत आदि अनेक तथ्यात्मक अनुसधान कर अधिकाधिक सामग्री-सकलन आचलिक उपन्यास की सफलता की कसौटी है। अनावश्यक अनुपयोगी तत्त्वो का विवेकशील ग्रहण व परित्याग उपन्यासकला के लिए अनिवार्य मान-मूल्य है। पाठक और आलोचक इस उपन्यास-विधा के आरम्भ से ही इसके प्रति समीक्षात्मक थे, लेखक भी इसके प्रति सचेत हो गए है। इस सदर्भ मे समग्रता का अर्थ है अखडता, एक पूर्ण इकाई, विस्तार को न सम्हाल पानेवाला आयाम अथवा खडो से जोड़ा गया वृहदाकार नही।

आंचलिक उपन्यास मे एक कथा नही होती, उसकी गति में प्रवाह नहीं होता क्योंकि अंचल के समग्र जीवन को पूरा-का-पूरा जीवित करना लेखक का अभीष्ट होता है। कथा के अन्तर्गत जीवन के अनेक तंतुओं का ताना-बाना बुना जाता है जो एक विशेष 'पैटर्न' बनाता है जिसमे कुछ रंग और सूत्र अधिक उभर आते है परन्तु उस पैटर्न से अलग होकर नहीं, अन्य सभी से सम्बद्ध होकर ही।

इन उपन्यासो मे कथागत बिखराव का आभास होता है। समग्रता को समजित करने, अपने पक्षो को बाँधने, कोण-वैविध्य के समवाय, अनेक जीवन-स्तरो को एक साथ रखने, समाज और व्यक्ति चेतना के अनेक सूत्रों को संगठित करने के बहुमुखी प्रयत्नो में विच्छिन्नता का प्रतिभास स्वाभाविक ही है। यहाँ बाह्य-संगठन देखने की चेष्टा न्यायोचित नही है क्योंकि इनका संगठन आंतरिक ही हो सकता है। एक ही अचल मे उगती आती कथा में अंतर्सूत्रता होती है—अन्तःसामंजस्य होता है।

आंचलिक उपन्यास की कथा में वैविध्य की ओर विशेष प्रवृत्ति होती है, कथा मे जीवन फैल जाता है। आंचलिकता के विकास के लिए यह वैविध्य अनिवार्य है। उसका वैशिष्ट्य और असामान्यत्व विविधता में ही अधिकाधिक उभरता आता है। इस वैविध्य की सीमा सपूर्ण जीवन का प्रसार है। दूसरा सबसे स्पष्ट मुखर रूप भौगोलिकता के अनेक रूपरंग तथा उनके पारस्परिक संयोजनाओं से उभरती असंख्य छवियों के रूप में सामने आता है। अतः इन उपन्यासों में भौगोलिक वैविध्य अपने पूरे चमत्कार से उपलब्ध होता है। यही भूगोलगत भिन्नता जीवन के अनेक पक्षो में वैविध्यपूर्ण वैशिष्ट्य उत्पन्न करती है परन्तु केवल यही प्रमुख नही है। रीति-परम्परा संस्कारगत विशेषताएँ भी विविधता की दृष्टि से समान रूप में महत्त्वपूर्ण है। जहाँ भौगोलिक विशिष्टता की सम्भावना नही होती वहाँ संस्कार-परम्पराओं से अनन्य असाधारणत्व उभारा गया है।

कथा-विन्यास मे वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण, इस उपन्यास विधा की विशेषता है। ये उपन्यास अन्य उपन्यास की तुलना मे अधिक वस्तुपरक होते है। कारण स्पष्ट है—उपन्यासकारो की यथार्थता के प्रति प्रतिबद्धता का दावा। परिणामत इन उपन्यासों मे वस्तु वर्णनो को गुण व परिमाण दोनो ही दृष्टि से अधिक महत्त्व दिया गया है। ये वस्तु-वर्णन जहाँ वातावरण के साकारत्व के लिए अनिवार्य है वहाँ कथा की गति इनकी स्थिरता से अवरुद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त कथा से असम्बद्ध लम्बे दृश्य-विधान, विभिन्न पात्रो की कृपा से विच्छिन्न आत्मकथाएँ भी कथा के गतिरोध को संवर्धित करती है।

३. **पात्र : चरित्र-चित्रण :** आंचलिक उपन्यासो मे पात्र और चरित्र-चित्रण विधान का सचालन आचलिकता ही करती है तथा उसके प्रभावस्वरूप उनमे वैशिष्ट्य आ जाता है। आचलिकता की सिद्धि व्यक्ति के नही समाज के सामूहिक जीवन से ही सम्भव है। अतः इनमे व्यक्ति के चरित्र को नही, समूह-पात्रों को अंकित किया जाता है। इनमे एक नही, अनेक चरित्र होते है, पात्रो की बहुसंख्या समग्रता के लिए अनिवार्य प्रवृत्ति बन जाती है।

दूसरी विशेषता यह है कि ये बहुसख्या पात्र अंचल की सामूहिकता के अंग-मात्र है, उनकी अंचलविशेष से विशिष्ट पृथक् कोई सत्ता नही है। ऐसे ही पात्रो को उठाया जाता है जो लोक-सस्कृति के अधिकतम निकट होते है तथा उसके प्रतिनिधित्व को पूरी तरह निभा सकते है। परम्परागत पारिभाषिक शब्दावली मे ये व्यक्ति चरित्र नही—वर्ग चरित्र है। इन पात्रो की आचलिक सर्व-साधारणता इनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। असाधारणत्व को यथासंभव बचाते हुए उनमे अंचल-जीवन के वे सारे तत्त्व मिलते है, जो इन उपन्यासकारो के इष्ट है।

पात्र-सम्बन्धी जो विशेषता सर्वाधिक आकर्षित करती है वह है सभी पात्रों का समान महत्त्व। यह इन उपन्यासो को अन्य उपन्यासो से भिन्न कर देती है। आंचलिक जीवन को सम्पूर्ण आयाम सहित उजागर करने मे किसी एक अथवा कुछ विशिष्ट पात्रों को प्रमुखता प्रदान करना बाधक हो सकता है। परिणामतः इन उपन्यासो मे परम्परागत दृष्टि से *'नायक-शून्यता'* या *'नायकत्व का अभाव'* की असाधारणता दृष्टिगोचर होती है। कथा-प्रधान उपन्यास मे कथा की संघटना का नयन नायक करता है, चरित्र प्रधान मे केन्द्र नायक होता है, उद्देश्य प्रधान मे सिद्धान्त की व्याख्या का साधन नायक होता है, इस दृष्टि से यह उपन्यास विधा अद्वितीय है। इसमे नायक 'व्यक्ति' नही, 'अंचल' माना जा सकता है। नायक का आभास देनेवाला प्रमुख पात्र अंचल के असंख्य जन-समूह का प्रमुख प्रतिनिधि मात्र होता है, वह भी महा-नायक अंचल के ही अधीन होता है। अंचल से सर्वाधिक एकरूपात्म होने के कारण ही वह पात्र अनजाने ही प्रधानता प्राप्त कर लेता है। इन उपन्यासों मे सभी तत्त्व 'आंचलिक समग्रता' की कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किये जाते है।

आंचलिक उपन्यास के पात्रों के रूपाकार में स्थानीय विशेषता और बहिरंग

मे स्थानीय वेशभूषा अनिवार्यत: परिलक्षित होती है। इन पात्रों में अंचल का अंतरंग आत्म और बाह्य जीवित रूपाकार का ही मानवीकरण होते है। इसीलिए वेजीवित और चेतन होते है। उपन्यास में अंकित जीवनको वे स्वयं जीते है, केवल प्रतिनिधित्व ही नही करते, वरन् उसे गति भी प्रदान करते है।

पात्रो की अवतारणा मे आचलिक उपन्यासकार केवल वही तक स्वतन्त्र होते है जहाँ तक वे आंचलिकता के विरोधी नही होते, विरोध की सभावना होते ही महत्त्व आंचलिकता को ही प्राप्त होता है और पात्र का चरित्र, व्यक्तित्व उसीके अनुरूप ढालना पड़ता है।

इन सभी विशेष प्रवृत्तियो के फलस्वरूप आचलिक उपन्यासो में सशक्त चरित्र-विधान के अभाव की सभावना प्रतीत होती है। आचलिकता की प्रतिबद्धता के कारण व्यक्ति-चरित्र को निखारने, सवारने अथवा तराशने की प्रवृत्ति और अवकाश दोनो ही नही होते। उपन्यासकार अचल को ही साध्य मानने का दावा करते है परन्तु सस्कारवश कुछ 'चरित्र' व्यक्तित्व जाने अनजाने उभर आते है। उपन्यास को कथा-साहित्य के अन्तर्गत ग्रहण करने तथा कथा का नयन नेता, नायक द्वारा होने की परम्परा संस्कार बन गई है तभी प्रत्येक उपन्यास में कोई-न-कोई सशक्त व्यक्तित्व आकर्षण का केन्द्र बन ही जाता है। ताई, भिखन, जितन, ताजमनी, डाक्टर, उगनी, बलचनमा—एक नही, अनेक उदाहरण देखे जा सकते है। ये पात्र अंचल का प्रतिनिधित्व तो करते है परन्तु साथ ही असाधारण हो अलग उठ आते है तथा उपन्यास के स्थायी प्रभाव के रूप में अमिट हो जाते है। इनके कारण अंचल का व्यक्तित्व के रूप में सम्प्रेषित सारभूत प्रभाव कुछ सीमा तक असफल हो जाता है। इसमें दोष पाठक के संस्कारों का भी है। वह सस्कारवश 'व्यक्ति' को ढूँढ निकालने का अभ्यस्त है। इस तथ्य से उपन्यासकार अनभिज्ञ नही है, 'बाबा बटेसरनाथ' मे अचल की व्यक्ति रूप में प्रस्तुति इसका प्रमाण है। सस्कारो से मुक्ति अभी तक सम्भव नही है, जो तत्त्व भी प्रमुख होता है लेखक और पाठक दोनो की चेतना मे वह मानव-रूपाकार में ही उभरता है। अत: सशक्त चरित्र के अभाव की संभावना निरर्थक हो गई है। इसे इस विधा में 'गुण' रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए।

४. **उद्देश्य** : उद्देश्य रचना में कोई पृथक तत्त्व नही होता, वह उसकी चेतन-आत्मा है, उसके सारभूत अतिम प्रभाव का नियामक तत्त्व है। कृतिकार का दृष्टिकोण, जीवन-दर्शन अथवा अभीष्ट साध्य ही उद्देश्य है। उसे शब्दों मे बाँधना या खोजना कठिन है क्योंकि वह प्राण बन सम्पूर्ण रचना में समाया रहता है। 'आंचलिक उपन्यास' नाम में लगा विशेषण ही उसके उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है। अंचल-विशेष का समग्र जीवन जो उसकी विशिष्ट अद्वितीय अनन्य 'आंचलिकता' को व्यंजित कर सके—इस उपन्यास विधा का लक्ष्य होता है।

आंचलिकता की सिद्धि यथार्थता पर निर्भर है, अत: वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अनिवार्य हो जाता है। अचल विशेष को पूर्ण रूप से केन्द्र-विन्दु बनाने के लिए

सबसे आवश्यक है कि लेखक स्वयं को यथासम्भव दूर रखे। परिणामतः उसकी दृष्टि वस्तुपरक होती है। इसके अतिरिक्त आतरिक वैभिन्न्य से अधिक बाह्य वस्तुगत भिन्नता आँचलिकता के विकास मे योगदान देती है। अत वस्तु-वर्णनों का आधिक्य तथा वैविध्य इसी वस्तुनिष्ठता का परिणाम है। यथार्थता से प्रेरित वस्तुपरकता का इस उपन्यास-विधा मे रोमान्स अथवा कल्पना से कोई विरोध नही होता क्योकि ये तत्त्व तथाकथित पिछडे जनपदीय जीवन के अभिन्न अग होते है। अत रोमान्स और कल्पना से समन्वित वस्तुनिष्ठता इन उपन्यासो का वैशिष्ट्य है। इसका विरोध केवल आदर्शवाद से है। लेखक का विशेष आदर्श दृष्टिसंकोच द्वारा जीवन के कुछ पक्षों की उपेक्षा कर समग्रता को क्षति पहुँचाने का कारण बन सकता है।

आत्मीयता इन उपन्यासों की दूसरी शर्त है। इसी दृष्टि-वैभिन्न्य के कारण ये सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासो से भिन्न हो जाते है। इनके लिए प्रेमचन्द-सी करुणा अथवा वर्माजी-सी रुचि मात्र नही चाहिए—ये लेखक की पूर्ण आत्मीयता माँगते है। इनमें भोगे हुए अनुभव की सच्चाई को अनुभव मे पके जीवन पलो से ही शब्दो में आँका जाता है। ये उपन्यासकार दूसरो के भोगे जीवन से प्रेरणा नही लेते, वे या तो स्वय उस जीवन के बीच जिये है अथवा अत्यत निकट से उसे ऐसे देखा है कि घटना और दर्शक का व्यवधान तिरोहित हो जाता है। वे स्वयं उसे भोगते हुए प्रतीत होते है। प्रमाण स्पष्ट है—पाठक उपन्यासकार को कही भी अलग नही देख पाता वरन् उस जीवन-विशेष के सम्पूर्ण आयाम को स्वय जीने लगता है, ऐसा लेखक के भोगे हुए अनुभव की सच्चाई के कारण ही सभव होता है। इस आत्मीयता और वस्तुनिष्ठता में विरोध कही नही है। आत्मीयता से रचनाकार उसमें गहरे पैठ जाता है पर वस्तु-निष्ठता के कारण स्वय को उस पर आरोपित नही होने देता। यह इस विधा की बहुत बडी सिद्धि है।

सामान्यत पूर्वाग्रह, मताग्रह-वाद, सिद्धान्त आदि का आरोपण कला की दृष्टि से अमान्य होता है परन्तु इन उपन्यासो मे यह पूर्णतः घातक सिद्ध होता है। एक 'कोण' पर बल देने से आचलिक जीवन की सम्पूर्णता, समग्रता असफल हो जाती है, जो इन उपन्यासों की पहली शर्त है। इसका यह अर्थ नही है कि इनमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, नैतिक, धार्मिक दृष्टिकोणो को बचाया जाता है—वस्तुत. इन सभी को समग्रता की सयोजना के लिए ग्रहण किया जाता है। परन्तु केवल उतना ही जितना आचलिकता का पोषक होता है। इस प्रकार केवल एक तत्त्व या कोण का आग्रह नही होता, सभी तत्त्वो और कोणों को समान महत्त्व देते हुए साथ लिया जाता है।

सीमित भू-अंचल को साध्य रूप मे स्वीकार करने से दो आशंकाएँ अनायास ही उठ आती हैं। प्रथम तो यह कि क्या इन उपन्यासोंका उद्देश्य अराष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीयता-विरोधी है? विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि आंचलिकता वस्तुतः हमारी समसामयिक-राष्ट्रीयता के अधिक निकट है। अनेक भू-खंड, प्रांत,

धर्म, भाषा, सस्कार-संस्कृति जाति-वर्ग से निर्मित भारत अनेकता मे एकता के कारण ही अन्य राष्ट्रों से भिन्न है तथा लोकतंत्र का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है। यह आचलिकता राष्ट्र के खंड-खड को आत्मसात् कर सम्पूर्ण राष्ट्र के समग्र विराट् आयाम को पूर्णत' ग्रहण करने मे सहायक ही सिद्ध होती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् ही इस विधा का विकास इसका प्रमाण है। दूसरी आशका शाश्वत कला-मूल्य के सदर्भ में है; 'देशकाल' की आचलिकता से सीमाबद्ध इन उपन्यासो का भविष्य मे क्या 'स्थिति-अस्तित्व' होगा ? 'पिण्ड मे ब्रह्माण्ड' और 'आत्मा मे परमात्मा' के दर्शन की परम्परा भारत मे प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है—वही इसका निराकरण कर देती है। परिसीमित अंचल शाश्वत जीवन का अनुसंधान तथा अभिव्यजना का साधन भी हो सकता है। इसी अर्थ में उसका भविष्य सुरक्षित होगा। एक देशीय चेतना से आक्रांत लेखक की रचना नूतनता का आकर्षण खोते ही विस्मृति के काल-गर्भ मे तिरोहित हो जायेगी। इन उपन्यासो में चिरन्तन मानव-संवेदना के सम्प्रेपण की सिद्धि, जो देशकाल के वैशिष्ट्य से विशेप होकर भी उससे ऊपर उठ जाये, उद्देश्य रूप में वाछनीय है।

५ भाषा : आंचलिकता ने सबसे अधिक भाषा को प्रभावित किया है तथा उसे असाधारणता प्रदान की है। यह भाषा तत्त्व ही उसकी सिद्धि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है, वस्तुत वातावरण, कथा और पात्रों की जो आंचलिकता के बाहर है, स्थानीय रगत का आधार और साधन भाषा की आचलिकता ही है। इन उपन्यासो में जनपदीय भाषा का व्यवहार-उपयोग दो रूपों मे परिलक्षित हुआ है—पात्रों के सवादों (कथोपकथन) मे और लेखक की भाषा-शैली के रूप में।

(अ) संवाद-विधान में आंचलिक भाषा · इन उपन्यासों मे सवाद-कला का पूर्ण उपयोग किया गया है। वस्तु वर्णन को छोड़कर सम्पूर्ण आयाम संवादों से ही निर्मित है। इस दृष्टि से इनका वैशिष्ट्य है, 'समूह-सवादों' की संयोजना। ये कथोपकथन व्यक्ति का अपना-अपना—किसी 'एक' का नही, सामूहिक समाज के शील का प्रकाशन करते है। तीसरे, इन उपन्यासो मे जनपदीय शब्दो और भाषा का प्रयोग गुण-परिमाण दोनो ही दृष्टियो से इतना चकाचौंधपूर्ण है कि वे इस रूप मे सबसे अलग दीख जाते है। इसके द्वारा अभिप्रेत आचलिक जीवन के यथार्थ का रंग अत्यंत गाढा हो गया है—वह मुलम्मा मात्र नही रह गया है वरन् जीवन की मूलभूत गहराइयो तक उतर गया है। संवादों की लोक-भाषा के कारण इनके पात्र-चरित्र भिन्न, विशिष्ट तथा आंचलिकता का अधिकतम प्रतिभास दे पाये है। स्थानीय जनपदीय जीवन की आदिम लालसाएँ, प्रेरणाएँ, दैनंदनीय आवश्यकताएँ, खान-पान, पारस्परिक सम्बन्ध भावनाएँ, हास-परिहास, रीति-रिवाज, मनोरंजन की स्वाभाविक तथा पूर्ण अभिव्यजना मे यह आचलिक भाषा-प्रयोग सर्वाधिक सफल रहा है।

नवीनता के मोह, चमत्कार, विशिष्टता, बोली-विशेष के ज्ञान-प्रदर्शन आदि

से प्रेरित आचलिक भाषा-संवादों के दुरुपयोग की सभावना को भी झुठलाया नही जा सकता, उदाहरणों से वह निराधार भी नही रही है। लेखक की सजगता तथा विवेकशीलता इस दिशा में सर्वाधिक अपेक्षित है। उन्ही लोक-शब्दों तथा अभिव्यक्तियों का प्रयोग सार्थक है जहाँ तक वे आचलिकता की सिद्धि के साधन मात्र है, अर्थात् 'हिन्दी' भाषा के शब्दो को छोड़कर बोली के पर्याय तभी लेने चाहिए जब वे पात्र परिस्थिति के स्तर से अस्वाभाविक तथा असभव लगे। शुद्ध स्थानीयता से आबद्ध, अजीब, अजनबी, फूहड शब्दो का प्रयोग लेखक की उक्त दायित्वहीनता के ही परिचायक होते है। आलोचक और पाठक दोनो ही उसे अस्वीकार कर देते है।

(आ) **भाषा-शैली की आंचलिकता** · आचलिक उपन्यास में केवल पात्रो की सवाद भाषा ही आचलिक नही है वरन् लेखक अपनी अभिव्यक्ति की भाषा मे भी आचलिक शब्दो का प्रयोग करता है। भाषा, साहित्य का ऊपर से आरोपित तत्त्व नही, सर्जन की आवश्यकता है। इन उपन्यासकारो का दावा है कि इस विधा में स्थानीय बोली का व्यवहार फैशन की प्रेरणा से नही, इसी सर्जना की अनिवार्यता का परिणाम है। जनपदीय वातावरण की सहज जीवन्तता की यथाशक्ति सरक्षण और प्रस्तुति के लिए जनपद बोलियाँ आवश्यक हो जाती है। शब्द, शब्द-समूह, मुहावरे, कहावते, विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ (expressions) आदि भाषा के तत्त्व स्थानीय जनजीवन से सस्कार, अनुभूति-अनुभव और जीवन-सत्यों के साथ अनिवार्य व अभिन्न भाव से जुड़े होते है, अतः उस अंचल-विशेष के जीवन-यथार्थ को उकेरने की प्रक्रिया मे वे अनायास चले आते है। यहाँ भाषा केवल भाषा नही, अंचल का सम्पूर्ण वातावरण होती है, अतः लोकशब्द और लोक-भाषा का प्रयोग सकारण होता है तथा यही लेखक की उस जीवन से घनिष्ठता मे विश्वास पैदा करते है। अचल की मिट्टी की सोधी महक इन्ही शब्द-बूँदो के स्पर्श से ही गंधा कर सारे वातावरण को भर देती है।

भाषा की प्रेरणा, मूलाधार तथा साध्य 'सम्प्रेषणीयता' है। लेखकीय भाषा की यह आंचलिकता इसी सदर्भ में बाधा-दोष के लिए उत्तरदायी होती है। अहिन्दी-भाषी पाठको और अनुवादकों के सामने यह समस्या 'सुरसा के मुख-सी फैलती जाती है। अनुवादक इन शब्दो के कारण अर्थ गंध के संवहन का दायित्व भी पूरी तरह नही निभा पाते, वे केवल साराश तक सीमित रह जाते है तथा उस जीवन के 'सत्य', 'सौंदर्य' से वचित रह जाते है जो उसी से अपने शब्दों मे रह जाता है। अहिन्दी-भाषी पाठक अर्थ-बोध की बाधा से खीझ उठते है। प्रख्यात उपन्यासकार अल्बर्टो मोरेवियो ने इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा की है कि बोली मे वह सब कुछ नही कहा जा सकता जो भाषा के द्वारा संभव है। बोली का प्रयोग लेखक की विषय-सामग्री की प्रस्तुति मे गतिरोधक सीमाएँ आरोपित कर देता है। 'मैला आँचल' में रेणु द्वारा चिन्तन को भी देशज भाषा में अभिव्यक्त करने का असफल प्रयत्न इसका उदाहरण है। यथार्थता की सिद्धि के साथ दुर्बोधता का दोष भी इनमें आ

जाता है। लोक-शब्दों के प्रयोग का सफलतम रूप वही मिलता है जहाँ विशेष अर्थ का वहन करने मे साहित्यिक भाषा असमर्थ हो जाती है और जनपदीय शब्द-अभिव्यक्ति उसे बडी आसानी से उतार देती है। दुर्बोधता के दोष का निराकरण लेखक की सजगता के द्वारा हो सकता है—लेखक यह मानकर चले कि उपन्यास का पाठक-वर्ग शिक्षित जनता है, वह अशिक्षित-अर्धशिक्षित जनसमूह नहीं जिसका वह चित्रण कर रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र मे उपलब्ध सहृदय को प्रमाण मानने की परम्परा समसामयिकता की विरोधी नहीं है और आंचलिकता का पोषक तत्त्व तो परम्पराएँ है ही। अत: इनमे लोक भाषा केवल नमूने के तौर पर ही ग्रहण की जानी चाहिए—प्रभाव-चमत्कार के लिए नही। लेखक इस दिशा मे जागरूक है—शैलेश मटियानी,[1] राजेन्द्र अवस्थी[2] के विचार इसके प्रमाण है।

इस जनपदीय भाषा की सबसे बडी शक्ति है उसकी मूर्ति-विधायनी क्षमता। धरती से उपजे ये शब्द चित्रात्मक व बिम्बात्मक होते है—उनमें रूपाकार, रंग, गति, स्पर्श, गध, ध्वनि सभी एक साथ होते है—पूर्णत. सश्लिष्ट सर्वांग-युक्त चित्र होता है। इनमे भी ध्वनि-चित्रो का बाहुल्य तथा प्राधान्य है।

६. **शैली-शिल्प** : इन उपन्यासो के शिल्प की विशेषता है आंचलिक रंग। अंचल से सम्बद्ध लोक-तत्त्वो के द्वारा शैली का निर्माण करने के प्रयत्नो मे अनेक प्रयोग सामने आये है। इन उपन्यासो मे वस्तुत. शिल्प की संरचना में ही लोक-तत्त्वो का पूर्णतम उपयोग किया गया है। लोक-गीत, कथा, नृत्य, तीज-त्योहार, लोकाचार, रीति-रिवाज, लोक-रंगमच, पहेलियाँ, कहावतें, धार्मिक विश्वास, जादू, टोना-टोटका आदि सभी उपादानो की सयोजना द्वारा सम्पूर्ण आंचलिक जीवन को उभारकर उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। कहीं लोक-गीत की एक कडी, कही पहेली, कही लोक-कथा का एक अंश सम्पूर्ण उपन्यास की नस-नस में रक्त-संचार-सा, जीवन की साँस-सा रम जाता है। लोक-तत्त्वो व उपादानों का ऐसा उपयोग इन उपन्यासो की अद्वितीय असाधारणता बन गया है। सम्पूर्ण उपन्यास के आयाम का बृहद् अंश इन्ही से निर्मित शिल्प द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कही-कही इनसे अनुपात-भंग भी हुआ है परन्तु आकर्षण का केन्द्र होने के कारण पाठक उसे अनदेखा कर जाते है। सजग उपन्यासकारों ने इसका प्राय: ध्यान रखा है कि ये सभी तत्त्व आंचलिक कथा, पात्र, वातावरण के पोषक बनकर ही आएं। कथा का निर्माण, वातावरण का सम्पूर्ण जीवित माहौल, पात्रों की

१. इतर प्रांतीय पाठकों को मेरा कृतित्व दुर्बोध न लगे इस ओर मैं सचेत रहा हूं। आंचलिक शब्दों की अपेक्षा आंचलिक शिल्प ही प्रमुख रहे ऐसा मेरा प्रयास रहा है। —'हौलदार', भूमिका।
२. "उसमें स्थानीय शब्दों का प्रयोग उस सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक वे भाषा में अनगढ़पन और अनपच उत्पन्न न करें।"—'एक प्यास पहेली', भूमिका, पृष्ठ २८।

यथार्थता के लिए गीत, कथा, पहेली, कहावतें, नृत्य, उत्सव-पर्व, जन-विश्वास ग्रांचलिक उपन्यास के अनिवार्य-अभिन्न अंग बनकर ही आये है। इनके आख्यान, पुनराख्यान, प्रस्तुति की अनेकानेक सयोजनाओ द्वारा अनेक शिल्प-प्रयोग सामने आये है जो आकर्षण चमत्कार, नवीन वैशिष्ट्य के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

शैली की दूसरी विशेषता यह है कि वह प्राय. कथात्मक है, कहानी-किस्सो से कथा का विकास होता है। पात्र अपनी या दूसरो की कहानियाँ सुनाते है, लेखक स्वयं तटस्थ रहता है। यह सामूहिक कथा-शैली इन उपन्यासो मे बहुत अधिक परिलक्षित होती है। इन किस्सों-कहानियों से कथा मे गति आयी है, अंचल के चरित्रो की सामूहिक व्यंजना हुई है और आंचलिकता पूरी तरह उभर पायी है।

शैली की वर्णनात्मकता ने भी कथात्मकता के समान ही इन उपन्यासो में महत्त्व प्राप्त किया है। वस्तु-वर्णनों का बाहुल्य इसका ही परिणाम है। इस वर्णनात्मकता से कथा-विकास में गतिरोध तो उत्पन्न हुआ है, फिर भी अपने वैचित्र्य और चमत्कार के कारण इन उपन्यासो में वे आकर्षण-केन्द्र बन गए है। इनकी बिम्बात्मकता, मूर्तिमत्ता ने शिल्पगत सिद्धि के रूप मे महत्ता भी प्राप्त की है। इन वर्णनो की वस्तु-निष्ठता तथा तटस्थता दृष्टि-विहीनता की परिचायक नही है; क्योकि उसने कलात्मक व्यंजना के गुण को प्राप्त कर लिया है।

अलंकारो तथा अभिव्यक्ति-खंडों के आंचलिक वैशिष्ट्य ने इनके शिल्प मे चार चाँद लगा दिये है। इनमे धरती की पूरी गंध उभर आयी है, इनके प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो ही मिट्टी से महके है, उस जीवन का सम्पूर्ण रस उसमें उच्छलित हुआ है।

"जेठ की पूनम चाँदनी क्या बरसा रही थी, गाढ़ा, कढ़ा दूध, बर्फ की तरा-वट लेकर ···।" ('बाबा बटेसरनाथ', नागार्जुन, पृष्ठ ५।)

साराश यह है कि इन उपन्यासो की शैली-शिल्प आंचलिकता से ही प्रेरित तथा प्रभावित है, इसे आंचलिक लोक-शिल्प भी कहा जा सकता है।

आंचलिक उपन्यास हिन्दी-उपन्यास-साहित्य मे एक ज्वार-सा उठा था और वैसे ही विलुप्त होता जा रहा है। क्या यह नवीनाकर्षण से प्रेरित फैशन-प्रचार मात्र था ? क्या इसका उद्‌भव और विकास कला के शाश्वत मान-मूल्यो से प्रेरित नहीं था ? क्या इसमे चिरन्तन कला-सौन्दर्य और जीवन-सत्य की संभावनाएँ नही थीं ? यह शका, जिसका निराकरण करने का प्रयत्न इन उपन्यासकारों ने किया था, आज हठपूर्वक सामने खडी हो गई है। जिसका वर्तमान ही दिखाई न दे, उसकी भावी सभावनाओ के लिए भविष्यवाणी कौन कर सकता है ! भविष्य की आशा-निराशा को छोड़, जो कुछ प्राप्त उपलब्ध है, उसका मूल्यांकन करना ही इसके प्रति न्याय्य होगा। 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'बलचनमा', 'बहती गंगा', 'बूँद और समुद्र' आदि का गौरव हिन्दी साहित्य में अक्षत है। ये वे मोती हैं, जो उस ज्वार के अस्तित्व के साक्षी ही नही, साहित्य की बहुमूल्य निधि भी है।

महाकाव्यात्मक उपन्यास

डॉ० सुषमा प्रियदर्शिनी

महाकाव्य और उपन्यास साहित्य की दो प्रमुख विधाएं हैं, जिनके दो भिन्न माध्यम हे—पद्य और गद्य। महाकाव्य अत्यत प्राचीन काव्य-रूप है, भारत और पश्चिमी साहित्य मे आदिकाल से ही उसे प्रतिष्ठा प्राप्त रही हे। उपन्यास अपेक्षाकृत नवीन रूपहै, उसका विकास अठाहरवी-उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ है परन्तु लोकप्रियता कीदृष्टि सेउसने इस थोड़े हीसमय मे साहित्य क्षेत्र मेसर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली है। साराश यह है कि महाकाव्य और उपन्यास दोनों ही साहित्य की महत्वपूर्ण विधाएं है। महाकाव्य के प्रति संस्कारवश मोहमय सम्मान-भाव होने के कारण असाधारण रूप से श्रेष्ठ तथा उदात्त उपन्यासों को आदर देने के लिए 'महाकाव्य' (महाकाव्यात्मक) साभिप्राय उपमान-युक्त विशेषण जोड़ दिया गया। इसी दृष्टि से तोल्स्तोय के 'वार एण्ड पीस' को 'एपिक' नावेल'[1] कहा गया। आलोचकों की ही नहीं, स्वय लेखकों[2] की भी श्रद्धा उसी ओर है। फील्डिंग ने अपने 'जोसेफ एन्ड्रूज' (१७५२) उपन्यास को 'ओडिसी' की श्रेणी मे रखते हुए उसे *Comic Epic Poem in Prose* (गद्य में लिखित सुखांत महाकाव्य) कहा तथा 'टॉम जोन्स' के प्राक्कथन मे उसकी महाकाव्यगत वंश-परम्परा तथा कार्यों की घोषणा की है। सन् १८१० में एन्ना बारबाल्ड ने 'अच्छे उपन्यास' को 'गद्यमय महाकाव्य' (Epic in prose) माना। गेटे ने भी उपन्यास को Subjective Epic (आत्म-प्रधान महाकाव्य) कहा है। इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य मे 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' शब्द का प्रयोग काफी समय पहले से

१. War and peace is more than a novel, it is an Epic of Russian Social Life and history at that time of Napoleonic Wars.
—The Story of World Literature : John Macy, p. 265.

२. Good fiction may be defined here as the kind of imaginative writing which lies nearest to the Epic dramatic and narrative master pieces of the past.
—Thomas Hardy.

उपलब्ध होने लगा था परन्तु उसका शास्त्रीय विवेचन अभी तक नहीं हो पाया है। टिलियर्ड और रैल्फ फॉक्स आदि ने इस दिशा मे प्रयत्न तो किये है परन्तु वे अपूर्ण ही है, वे इसका सम्पूर्ण रूप निर्धारित नही कर सके है। यह कार्य कठिन भी है क्योकि सर्वसम्मत और सर्वमान्य निष्कर्ष अथवा लक्षण असभवप्राय है।

हिन्दी मे भी अनेक आलोचको ने इस शब्द-प्रयोग से प्रभावितहोकर सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों को गौरव प्रदान करने के लिए 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' शब्द का व्यवहार आरंभ कर दिया है। प्रेमचद के 'रगभूमि', 'गोदान'; अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी'; यशपाल के 'झूठा सच'; अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष' आदि इसी विशेषण से संयुक्त उपन्यास कहे जा रहे है। 'गोदान' और 'रंगभूमि' के लिए विशेष रूप से महाकाव्यात्मक उपन्यास शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने 'झूठा सच' को 'औपन्यासिक महा-काव्य' माना है।

'महाकाव्यात्मक उपन्यास' शब्द के सम्बन्ध मे खडन-मंडन और वाद-विवाद हिन्दी मे ही नहीं, पश्चिम मे भी परिलक्षित हो रहा है। एक वर्ग उपन्यास को महाकाव्य का स्थानापन्न सिद्ध करने के लिए तुला है—उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है[१] अथवा वैज्ञानिक आधुनिक युग के सभाव्य महाकाव्य उपन्यास ही हे[२] आदि घोपणाओं के द्वारा। दूसरा वर्ग इसके विरोध मे तर्क देकर यह प्रमाणित करने के लिए सन्नद्ध है कि महाकाव्य का स्थान उपन्यास नहीं ले सकता[३]

१. The novel is the epic ait form of our modern bouigeous society —Ralph Fox : 'Novel and the Pepole', p. 42.
'उपन्यास...समाज के विरुद्ध सघर्ष का महाकाव्य है।—वही, पृ० ८२।
कविता का जो रूप उपन्यास के कुछ समीप है वह है महाकाव्य। उपन्यासों को गद्यमय महाकाव्य (Epic in prose) भी कहा गया है। इसी प्रकार महाकाव्यों को हम पद्यमय उपन्यास (Novel in Verse) कह सकते है।
—हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ४४०

२. 'फिर भी यदि कोई साहित्य रूप महाकाव्य की सामर्थ्य व शक्ति को सिद्ध कर सका है तो वह उपन्यास ही है क्योंकि उसमें विराट् काव्यमय साधनों के प्रचुर उपयोग की शक्ति है। उनका सामूहिक प्रभाव भी महाकाव्य-सा है। —'प्रेमचंदोत्तर उपन्यास की शिल्पविधि', डॉ० चुघ, पृ० २५।

३. महाकाव्य द्वारा समाज की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है वैसी उपन्यास द्वारा न तो कभी हुई और न कभी हो सकती है।
—'उपन्यास और लोक-जीवन', रैल्फ फौक्स, अनु० नरोत्तम सागर, पृ० २७-२८
उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य कहना क्या उसके प्रति अन्याय न होगा।
—'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास', डॉ० रांग्रा, पृ० ३३।

या उपन्यास महाकाव्य नहीं हो सकता[१]। श्री रैल्फ फॉक्स[२] की आत्म-खंडनात्मक उक्तियाँ साहित्य की द्विधापूर्ण मनःस्थिति का परिचय देती है। दूसरा प्रमाण यह है कि इतना सब कहा जाने पर भी पश्चिम अथवा भारत मे इसका सैद्धांतिक विश्लेपण तथा निर्णयात्मक मूल्यांकन अभी तक नही हुआ है। अत. उपन्यास के साथ लगा हुआ यह विशेपण किस सीमा तक सार्थक है इसका निर्णय अंतिम रूप से आलोचक नही कर पाये है।

उपन्यास विधा का जन्म काव्य से ही माना जाता है। रिचर्ड चर्च ने उपन्यास को काव्य की सतान[३] और रैल्फ फॉक्स ने 'महाकाव्य का उत्तराधिकारी'[४] कहा है। श्री बेकर भी उसका उदय काव्य से[५] मानते है। जॉसेफ टी० शिपले के अनुसार उपन्यास के विकास के इतिहास का एक छोर वीराख्यान को छू रहा है।[६] काव्य से तात्पर्य यहाँ महाकाव्य और वीरकाव्य से ही हो सकता है। वास्तव में 'कथा' का प्रवेश वीर-काव्य के रूप में हुआ, जिसका विकसित रूप 'महाकाव्य' था। जन-रुचि को आकर्पित देख इस कथा-तत्त्व ने फैलना-फूटना आरम्भ किया तथा कथेतर तत्वों को भी अपने अन्तर्गत समेट कथा के आधारभूत तत्वों का विकास किया। घटनाओ का विस्तार, जटिलता व संकुलन, कथा का नयन करनेवाले तत्त्व, पात्र-चरित्रों का बाहुल्य, विविधता और वैचित्र्य, वर्णन-वैविध्य के चमत्कार, देशकाल वातावरण की चित्रात्मकता आदि इसी का परिणाम है।

१. उपन्यास ने न कभी महाकाव्य का स्थान लिया है, न भविष्यत् में वह कभी महाकाव्य का स्थान ले सकेगा।—डॉ० रामरतन भटनागर, 'साहित्य संदेश' —मार्च, १९६०।
   वास्तव में महाकाव्य और उपन्यास दो भिन्न साहित्य-प्रकार हैं। महाकाव्य की परम्परा औपन्यासिक परम्परा से नितान्त भिन्न है। ऐसी अवस्था में उपन्यास को 'एपिक नॉविल' की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से समीचीन नहीं जान पड़ता।—('आधुनिक साहित्य', डॉ० नददुलारे वाजपेयी, पृ० १५०।
२. पृष्ठ ८७ का उद्धरण १७३ का प्रथमांश देखिए।
३. "The novel is the child of poetry." —The growth of English Novel, R. Church, p. 126.
४. "Novel...the successor to the Epic'—Novel and the people, Ralph Fox, p. 61.
५. Prose fiction had its rise in poetry. —The History of English Novel : Baker, p. 298.
६. "Thus the development of novel touches heroic legends at one extreme......"—Dicrtonary of World Literary Terms, Joseph. O. Shiphey, p. 283.

इन सभी को ग्रहण करती हुई कथा रोमान्स मे परिणत हो गई और उसके प्रति आकर्षण बढने लगा। अन्य तत्त्वों से आक्रांत 'जीवन के यथार्थ-आभास' की अपनी लक्ष्य-सिद्धि मे स्वयं को विवश अनुभव करती हुई कथा ने आधुनिक युग मे उपन्यास का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार काव्य व रोमान्स से उद्भूत होने के कारण उपन्यास उनके तत्त्वो से, वंश-परम्परागत गुणो के उत्तराधिकार के फलस्वरूप, पूर्णत. विरहित नही हो सकता। रोमांस के 'कौतूहलाकर्षण' तथा महाकाव्य की 'गरिमा से उपन्यास लेखक और पाठक सदा ही अभिभूत रहे है। रैल्फ फॉक्स की कामना है कि उपन्यास मे वीरत्व की पुन: प्रतिष्ठा हो तथा उसके साथ ही महाकाव्यात्मक प्रवृत्ति की भी।[1] डॉ० सत्यपाल चुघ ने भी महाकाव्य की शक्ति को सिद्ध करनेवाला सर्वाधिक सफल साहित्य रूप उपन्यास ही माना है।[2] साथ ही कहा है—"अद्भुत-उदात्त के प्रति मानव का स्वाभाविक आकर्षण, जीवन के महत् तत्त्वो के प्रति मानव की श्रद्धा-भावना, असामाजिक शक्तियों पर मानव की विजय-कामना की शौर्य प्रवणता उसे उपन्यास को—उसकी अपनी स्वरूप-रक्षा के साथ किन्ही महाकाव्यात्मक गुणों से मंडित कर उपन्यास मे आ रही एकांगिता को दूर करने के लिए प्रेरित करती रहेगी।"[3] रैल्फ फॉक्स मानते है कि उपन्यासकार समाज की पूर्ण अभिव्यक्ति मे महाकाव्यकार के समान सफल नहीं हो सकता। इस कठिनाई का एक ही समाधान संभव है—वह यह है कि उपन्यास कला पुनः महाकाव्य का रूप धारण करे।[4] इस अध्ययन से यह दृष्टि-कोण उभरकर आता है कि उपन्यास की चरम-सिद्धि की सीमा महाकाव्य है अथवा महाकाव्य ही साहित्य का सर्वोत्तम रूप है, ऐसी मान्यता साहित्य क्षेत्र मे आरम्भ से ही पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगत होती है। अत: जो उपन्यास केवल उपन्यास नही रहे, समग्र युग राष्ट्र जीवन को अंकित करने की शक्ति के कारण अनन्य (Unique) बन गए हैं उन्हें गौरव-मान प्रदान करने के लिए इस विशेषण का सार्थक प्रयोग किया गया है। श्री अर्नेस्ट सिमन्स[5] और आचार्य

१. This means that the heroic must come back to the novel and with the heroic its epic character —'Novel and the people', Ralph Fox p. 133.

२ 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की शिल्पविधि', डा० सत्यपाल चुघ, पृ०२५।

३. वही।

४. उपन्यासकार की कठिनाइयों का हल हमारे आधुनिक काल की वास्तविकता को नजर में रखकर एक क्रांतिकारी ढंग से हो सकता है और केवलमात्र ऐसे ही हल से (उपन्यास के रूप में) उसकी कला फिर महाकाव्यका रूप ग्रहण कर सकती है। 'उपन्यास और लोक जीवन', रैल्फ फॉक्स, अनु० नरोत्तम नागर, पृ० ३८।

५. "A complete picture of human life A complete picture of Russia of that day. A complete picture of what may be

नंददुलारे वाजपेयी[1] के 'युद्ध और शांति के सम्बन्ध मे विचार इस दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं।

'युद्ध और शांति' के पश्चात् 'यूलिसिस' को भी जो पूर्णतः व्यक्ति-प्रधान उपन्यास है, इस विशेषण से संयुक्त किया गया, इससे 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' के स्वरूप सम्बन्धी दृष्टि मे लचीलापन आया है। हिन्दी मे अनेक उपन्यासों को यह संज्ञा दी जा रही है और प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासो को इसी कोटि के अन्तर्गत ग्रहण करने की प्रवृत्ति का प्रसार हो रहा है। इस दृष्टि से अब महा-काव्यात्मक उपन्यास का एक गुणवाचक विशेषण ही बन गया है (महाकाव्या-त्मकता भी सिद्धि रूप मे सर्वनामात्मक पर्याय नही रहा)। जिसमे महाकाव्यात्मक प्रवृत्तियो का आभास हो (सफल है अथवा असफल— इसका विचार न हो) वह उपन्यास महाकाव्यात्मक माना जाए अथवा जिसने 'महाकाव्यात्मकता' की सिद्धि कर ली हो उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास माना जाए - यह निर्णय कर लेने पर ही इसका स्वरूप निर्धारित हो सकता है। प्रमुख पाश्चात्य तथा भारतीय आलो-चको की सम्मति दूसरे के पक्ष मे है, जो उनके उपर्युक्त विचारो से स्पष्ट हो चुकी है, उनकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नही है।

महाकाव्य और उपन्यास के मूल तत्त्व समान है—कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य और भाषा शैली। महाकाव्य के लक्षण प्राचीनकाल मे ही प्रति-ष्ठित हो चुके थे, युगानुरूप उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहा है, उपन्यास नई विधा है, उसके तत्त्वो का निर्धारण आधुनिक युग में हुआ है। परिणामस्वरूप उनके स्वरूप एवं तत्त्वो के निर्धारण मे युगो का दृष्टि-भेद उतना ही सहज व अनिवार्य है जितना आधुनिक युग में महाकाव्य तथा उपन्यास सम्बन्धी मान्यताओ मे समानता। कारण स्पष्ट है—युग की कला-दृष्टि कला-साहित्य के सभी रूपों को इस प्रकार प्रभावित करती है कि विभिन्न विधा-भेदों का पार्थक्य कम होता

called the history and struggle of people. A complete picture of every thing in which people find their happiness and greatness, their grief and humilition—that is War and Peace.'

—Leo Tolstoy (Strakov N. N.), Earnest J. Simmons, p. 317-8.

१. "जिन्होंने इसका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि कृति वास्तव में उपन्यास नहीं है, उससे कुछ अधिक है। तोलस्तोय की साहित्यिक ख्याति, उनका रचना सामर्थ्य, युग की सम्पूर्ण गतिविधि को एक कृति में समाहित करने की उनकी क्षमता अप्रतिम थी। यही कारण है कि उनका उपन्यास पूरे अर्थ में उपन्यास न होते हुए भी संसार की एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृति है और उसे राष्ट्रीय उपन्यास या एपिक नावेल की संज्ञा दी गई है।"

—'आधुनिक साहित्य', डा० नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १५१

जाता है तथा वे एक-दूसरे से प्रभावित होते हुए एक-दूसरे की सीमाओं मे प्रवेश-कर जाते हैं। इसी दृष्टिकोण के सदर्भ मे महाकाव्य एव उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन कर 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' के रूप की परिकल्पना को लक्षण मे बाँधना सभव होगा। इन दोनो के पारस्परिक दृष्टि-भेद के यथासभव निराकरण का प्रयत्न करना होगा, जो साहित्य के मूलभूत ऐक्य के कारण असंभव नही है, जिससे दोनों का विरोध तिरोहित हो जाये तथा वे एक-दूसरे के सहयोग से एक नयी साहित्य-विधा के निर्माण मे सफल हो सकें। 'महत्' अथवा औदात्य ही महाकाव्य का मूलभूत तत्त्व है जो प्राचीन एवं अर्वाचीन युग मे उसके लक्षण का आधार रहा है। टिलियर्ड और डॉ० नगेन्द्र ने इस पर बहुत अधिक बल दिया है। इस 'औदात्य' का उपन्यास क्या, किसी भी कला-रूप से विरोध नही हो सकता। अत इसके आधार पर महाकाव्यात्मक उपन्यास के स्वरूप-स्थापन मे सरलता की सभावना अधिक है।

१. आयाम

महत् आयाम महाकाव्य और महाकाव्यात्मक उपन्यास दोनो के लिए अपेक्षित है, दोनों मे आकारगत साम्य स्पष्ट है। इसका अर्थ यह नही कि केवल बृहदाकार उपन्यास ही महाकाव्यात्मक उपन्यास हो सकते है, लघुकाय नही। आकार का विस्तार उसके महत् जीवन-दर्शन की सपूर्ण व्याख्या के लिए प्रायः अनिवार्य हो जाता है—जिसमे सम्पूर्ण' जीवन अपनी समग्रता में उसमे सहज रूप से प्रतिबिम्बित हो सकता है। अतः महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए वृहद् आयाम की अपेक्षा की जाती है। रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास को आधुनिक 'बुर्जुआ समाज का महाकाव्य' तथा 'जीवन का सर्वांगीण चित्र' कहकर इसी लक्षण को रेखांकित किया है। आलोचकों के अनुसार महाकाव्यात्मक उपन्यास 'व्यक्तियों तथा स्थानों का विहगम (पैनोरैमिक) परिदृश्य प्रस्तुत करता है।' पर्सी ल्यूबक ने इसे दीर्घकालिक जनजीवन सकुल तथा घटनाओ से ओतप्रोत देशकालीन विस्तार के लिए यथोचित अवकाशयुक्त, उपन्यास माना है।[१] इसका बृहद् आयाम लूथॉप के विचार इसी धारणा की पुष्टि करते है।[२] इसका वृहद् आयाम बधन-मुक्त देशकाल के कारण ही नही वरन् जीवन की विविधता द्वारा भी पुष्ट होता है। मानव-जीवन एव मानव-चरित्र का अपरिमित वैविध्य जीवन की गतिशील परिवर्तनशीलता की अभिव्यजना द्वारा इन उपन्यासों के आयाम को विस्तार प्रदान करता है। अत. महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए वृहद् आयाम,

१. 'The Craft of Fiction', Percy Lubbock, p. 26.

२. The Epic Novel tells an ample story about a large transaction, with a thorough of character in a specious world It is the panaroma of a whole society.—The Art of the Novelist. H. Luthrop, p. 14

सहज स्वाभाविक और अपेक्षित दोनों ही है, फिर भी केवल यही (बृहद् आयाम) इसका मानदण्ड नहीं हो सकता।

२. वस्तु

महाकाव्य और उपन्यास दोनों का वस्तुगत आधार है कथा अर्थात् घटनाओं की संयोजना। अरस्तू ने कथानक को महाकाव्य त्रासदी आदि का प्राण-तत्त्व माना था परन्तु उनके पश्चात् उसका महत्त्व घटता गया। भारत मे भी महाकाव्य के लक्षणों मे कथा को महत्ता दी गई है, बाद मे कथानक का महत्त्व गौण तो हो गया परन्तु उसका पूर्ण विघटन नही हो पाया। किन्तु उपन्यास क्षेत्र में इस दिशा मे तेजी से परिवर्तन हुआ है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों मे 'कथा-विहीनता' के अनेक प्रयोग भी उपलब्ध हुए है परन्तु वे अपवाद ही माने जाएँगे, कथा-तन्तु ने किसी-न-किसी रूप मे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा है।

१. **प्रख्यात कथा** . महाकाव्य मे कथा की 'गरिमा' अनिवार्य है। प्राचीनकाल से अबतक उसके लिए अनेक लक्षण उपलक्षण निर्मित किये गए है। इनमे से एक मुख्य लक्षण है—प्रख्यात-कथा। भारतीय आचार्य दण्डी, भामह, विश्वनाथ और पाश्चात्य आलोचक अरस्तू आदि ने ऐतिहासिक (प्रख्यात) कथा, दन्त-कथा, वीराख्यान आदि शब्दो का प्रयोग करके कथा की प्रसिद्धि को महत्त्व दिया है, तथा काल्पनिक अथवा उत्पाद्य कथा को अनुपयुक्त माना है। प्राचीन काल में ही नही, आधुनिक काल के आलोचकों ने, टिलियर्ड ने विशेप रूप से, जातीयता और ऐतिहासिकता को महाकाव्यात्मकता के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है।[1] उधर उपन्यास मे मौलिक काल्पनिक कथा को ही अधिक महत्त्व मिला है, प्रख्यात कथाओं को वर्तमान के संदर्भ में पुनराख्यान या पुनर्मूल्याकन के लिए ही ग्रहण किया गया है और वह भी अनुपात मे बहुत कम है। उपन्यास में इतिहास, रोमान्स, वीराख्यान आदि से अपना वैचित्र्य स्पष्ट करने की प्रक्रिया में 'यथार्थ' पर अधिक बल दिया गया है और इसी यथार्थ के आधार पर उपन्यास का विकास हुआ है, जिसका साधन रही है ऐतिहासिक अतीत व भविष्यत् के स्वप्नों से विच्छिन्न यथार्थ प्रेरित कल्पना।

इस बिन्दु पर महाकाव्य तथा उपन्यास की दृष्टि अलग प्रतीत होती है, महाकाव्य प्रसिद्ध अतीत का उद्गीथ है और उपन्यास जीवित वर्तमान का। यदि प्रख्यात कथा को रूढ़ अर्थ मे अनिवार्य लक्षण माना जाये तो केवल ऐतिहासिक उपन्यास ही महाकाव्यात्मक विशेषण प्राप्त कर सकेंगे। इतिहास किसे माना जाये, यह एक दूसरी समस्या है। समसामयिक युग की ऐतिहासिक घटनाएँ तथा तथ्य;

१. "What most makes the Epic kind is a communal or chronic quality."—'The Epic Strain in English Novel', Tillyard, p. 15.

जैसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति, साम्प्रदायिक सघर्ष, गाधी-नेहरू आदि इतिहास है अथवा वर्तमान ? इसकी सर्वमान्य कसौटी यही हो सकती है कि इतिहास केवल 'प्रख्यात' नहीं है, इतिहास वह है जो लेखक द्वारा भोक्ता, दर्शक अथवा साक्षी रूप मे न जिया गया हो। इस दृष्टि से 'झूठा सच' का आधार 'प्रख्यात' होने पर भी इतिहास नही होगा। तो क्या वह 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' नही माना जा सकता ? इस संदर्भ मे 'प्रख्यात' मे निहित ध्वन्यर्थ को ही ग्रहण करना उचित होगा, वैसे भी रुद्रट आदि अनेक आचार्यों ने आरम्भ से ही प्राचीन व नवीन घटनाओ को समान महत्त्व दिया है। प्रख्यात पर बल सप्रपणीयता की बाधा 'अपरिचय' से मुक्ति तथा युग-युगान्तर से ज्ञात जीवन की चिरन्तन मानवीय सवेदना की संवर्द्धना के लिए दिया गया है। अर्थात् प्रख्यात 'महत्' इसीलिए है कि वह शाश्वत जीवन-सत्य के उद्घाटन मे सहायक है।[१] इस 'शाश्वत जीवन-सत्य' की सिद्धि के बिन्दु पर प्रख्यात अतीत कथा अथवा वर्तमान काल्पनिक कथा का भेद गौण हो जाता है और महाकाव्य तथा उपन्यास निकट आ जाते है। प्रख्यात का विस्तृत अर्थ शाश्वत जीवन-परम्परा के चित्रण रूप में लिया जा सकता है, जो अपरिचित न हो, देश-काल की सीमा से ऊपर, चिरन्तन मानवीय-सवेदना की अभिव्यक्ति हो। उपन्यास में यही अर्थ मान्य हो सकता है और इसे ही महाकाव्यात्मक उपन्यास के लक्षण रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

२ *सम्पूर्ण जीवन* · कथा-वस्तु की महानता का दूसरा अर्थ है एक व्यक्ति की नही, समाज, जाति, राष्ट्र अथवा युग के सम्पूर्ण जीवन की कथा।[२] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "घटनाओ की महत्ता का मापक है उसका प्रबल प्रभाव एवं देशकाल का विस्तार।"[३] महाकाव्य के लक्षण निर्धारण मे भामह, रुद्रट ने इसी अर्थ को 'महत् कार्य' अथवा 'सम्पूर्ण जीवन का चित्र', ल-वस्सु ने 'युग की सस्कृति' का चित्रण, बावेरा ने 'गम्भीर महत्त्वपूर्ण घटनाएँ' आदि के द्वारा ध्वनित किया है। टिलियर्ड के अनुसार "महाकाव्यकार को अपने अथवा उसके निकटवर्ती युग के परिप्रेक्ष्य मे विशाल जन-समुदाय के विचारों को ही अभिव्यक्त करना चाहिए।"[४] उन्होंने आगे कहा "जब त्रासदीय (उदात्त) आवेग युग चेतना में समा जाता है, जब शाश्वतता भौतिक वैविध्य से समन्वित होती है तभी महाकाव्यात्मकता अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर सकती है।" महान कथा एक व्यक्ति मात्र की नही, युग-विशेष के राष्ट्रीय जीवन अथवा युग-निरपेक्ष मानव जीवन के प्रतिनिधि नेता अथवा आदर्श मानव रूप की होनी चाहिए। रवीन्द्रनाथ

१. "It teaches not what it is like to be alive at a certain time but what is like to be human being" —E. M. W. Tillyard.
२. The Epic Strain in English Novel, Tillyard, p. 15.
३. **कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६।**
४. The Epic Strain in English Novel, Tillyard, p. 15.

ठाकुर ने भी महाकाव्य का यही गुण स्वीकार किया था।[१] उपन्यास के लिए भी यह उतना ही सत्य है। प्रेमचंद,[२] रैल्फ फॉक्स[३] आदि के विचार इसी मत की पुष्टि करते हैं। शेखर, होरी, आंचलिक उपन्यासों के समूह पात्र आदि इसी के साक्षी हैं—अकेलेपन से सन्त्रस्त शेखर, युग-संघर्ष में जूझता होरी और आंचलिक पात्र इसी बिन्दु पर एक हो जाते है, वे एक विशेष के नही, सम्पूर्ण राष्ट्र, युग, मानव-जीवन के दर्पण बन जाते है। महाकाव्य के समान महाकाव्यात्मक उपन्यास में भी जीवन का समग्र प्रतिबिम्ब अनिवार्य लक्षण माना जाता है।

३. विस्तार-वैविध्य महाकाव्य की कथा के अंतर्गत जीवन के विस्तार-वैविध्य को बहुत महत्त्व प्राप्त रहा है, भारतीय काव्यशास्त्र परंपरा मे भामह रुद्रट, विश्वनाथ आदि सभी ने नगर, ऋतु-रसोत्सव, प्रकृति रूप, जन्म-मृत्यु-विवाह, रण के प्रसगों आदि के चित्रण द्वारा जीवन की सम्पूर्ण और वैविध्य युक्त झाँकी की ओर संकेत किया है। पश्चिमी आचार्य अरस्तू, टिलियर्ड, ल-बस्सु आदि ने भी इसकी चर्चा की है। उपन्यास के लिए भी यह वैविध्यपूर्ण विस्तार उतना ही सत्य है।[४-५] महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए तो जीवन की सम्पूर्णता से युक्त वैविध्य विस्तार अनिवार्यता ही समझा जाना चाहिए। पर्सी ल्यूबक के अनुसार महा-काव्यात्मक उपन्यास अत्यधिक जीवन्त और अथक भावोद्वेलन से सयुक्त जीवन से भरा-पूरा होता है।[६] उसमे सतत विकसनशील शाश्वत जीवन की गति व परिवर्तन

१ "इस श्रेणी के कवियों की रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को समादरणीय बना देता है।"—'प्राचीन साहित्य', रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० रामदहिन मिश्र।

२. "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ।"—कुछ विचार : प्रेमचंद, पृ० ३८।

३. "उपन्यास न केवल गद्यात्मक कथा-साहित्य है अपितु वह मानव-जीवन की प्रथम गद्य-कला है जो सपूर्ण मनुष्य को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करती है और उसकी अभिव्यक्ति करती है।"—Novel and the People, Ralph Fox, p. 20.

४. "The novel is of all pictures the most comprehensive and most elastic."—Henry James 'Most Selected Literary Criticism', p. 182

५. "It is a large mirror of life and has greater range than any other form of Literature."—The English Novel, J. B. Pristley, p. 5.

६. "It is crowed with life, intensely vivid, inexhausting stiring."
—The Craft of Fiction, Percy Lubbock, p. 27.

अनेक पीढियों, कार्य-क्षेत्रो तथा देश-काल के असीम विस्तार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अत. महाकाव्यात्मक उपन्यास मे जीवन की सम्पूर्णता से संप्रेरित वैविध्य विस्तार अनायास आवश्यक रूप से अभिचित्रित हो जाता है और उसका अनिवार्य लक्षण बन जाता है। लूथ्रोप ने महाकाव्यात्मक उपन्यास के लक्षण निर्धारित करते हुए इसी को मान्यता दी है। उनके अनुसार "महाकाव्यात्मक उपन्यास मे अनेकानेक पात्रो से सकुल विशालाकार विश्व के क्रिया-कलापो की विपुल कथा का आख्यान होता है—वह सम्पूर्ण समाज का विहगम परिदृश्य है।"[1]

४. उदात्त-तत्व · अरस्तू ने महाकाव्य मे 'यथार्थ से उच्चतर जीवन' की घटनाओ तथा कथा को अनिवार्य माना है। भारतीय विचारकों ने भी 'सदाश्रित' 'सदाश्रयी' कथा पर बल दिया है। बैक्स्टर ने 'वीर नायको के पराक्रम का वर्णन करने वाली', विश्वनाथ ने 'सताञ्च गुण कीर्तन' आदि के द्वारा इसी का स्पष्टीकरण किया हे। अतः महाकाव्य का आधार सत् महत् कथा है, इसके विपरीत उपन्यास का आधार यथार्थ (सामान्य) जीवन है। हेनरी जेम्स के अनुसार उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यह है कि वह हमारे जीवन के चित्रण का प्रयत्न करता है (Art of fiction, p 393)। कलेरा रीव ने भी उपन्यासको यथार्थ जीवन का चित्र कहा है।[2] इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण महाकाव्य और उपन्यास भिन्न प्रतीत होते है। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव[3] ने अनेक विचारकों के साथ सहमति प्रगट करते हुए महाकाव्य की अवनति का कारण उपन्यासो का सवर्द्धित यथार्थवादी प्रभाव माना है। उपन्यासों की तरह 'महाकाव्य मे भी सामान्य व्यक्तियो के जीवन की घटनाओ के सन्निवेश की रुचि' को महाकाव्य के ह्रास के लिए उत्तरदायी ठहराया है, यह मत विवादास्पद है।

कथा की उदात्तता अथवा आदर्शात्मकता का लक्ष्य है प्रभाव की संवृद्धि। सर्वसाधारण की नित्य-प्रति की घटनाएँ महापुरुष के राष्ट्रसचालक जीवन की तुलना मे महत्त्वहीन होती हे। (प्रमाण है गांधी-कैनेडी की मृत्यु तथा किसी सामान्य व्यक्ति की मृत्यु)। अतः शाश्वत प्रभाव की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण मानवीय संवेदना को जाग्रत करने की शक्ति आवश्यक है, इसी दृष्टि से कथा की आदर्श-सिद्ध उदात्तता को महाकाव्य मे प्रतिष्ठा मिली है। चिरन्तन प्रभावक्षमता, शाश्वत मानवीय संवेदना को झकृत करने की शक्ति उपन्यास दैनन्दिन जीवन की सामान्य घटनाओ में खोजता है। अत अंतिम लक्ष्य दोनो का समान

१. 'The Art of Novelist', Luthrop, p 14
२. "The novel is a picture of real life and manner of time in which it is written."—Progress of Romance.
३. 'हिन्दी उपन्यास', श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ४४०।

है। उपेक्षित पात्रों की करुणा को स्वर देने वाले महाकाव्य 'साकेत', 'यशोधरा', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' मे कथा-दृष्टि और भी निकट आ गई है। अतः यथार्थवादी और आदर्शवादी कसौटी पर भी महाकाव्य और उपन्यासो मे विरोध नहीं रहा है, वे एक-दूसरे के सन्निकट ही रहे है। दृष्टिकोण यथार्थवादी हो अथवा आदर्शवादी, महाकाव्यात्मकता का मानदण्ड है सारभूत प्रभाव का विस्तार और शाश्वतता। श्रेष्ठ उपन्यासो की कसौटी भी यही है और यही महाकाव्यात्मक उपन्यास का सर्वस्वीकृत लक्षण माना जा सकता है।

५. फलागम : महाकाव्य मे फलागम के द्वारा कथा की समाप्ति की जाती है अर्थात् आरम्भ, विकास और अन्त तीनो अवस्थाओं का स्पष्ट चित्रण होता है। पश्चिम मे केवल त्रासदी मे ही फलागम असिद्ध होता है, महाकाव्य में नहीं। महाकाव्य मे 'आदर्श जीवन' की पूर्णता की दृष्टि से फलागम को अनिवार्य लक्षण माना गया है,[1] परन्तु उपन्यास मे जीवन-दृष्टि यथार्थता पर केन्द्रित रहती है। जीवन की अपूर्णता के परिप्रेक्ष्य मे कथानक मे भी फलागम की सयोजना प्राय. नही रहती अथवा उपन्यासकार इसके लिए सायास सन्नद्ध नही होता। महाकाव्य का सर्वगुण-सम्पन्न शक्तिशाली नायक यहाँ आवश्यक नही है, इस प्रकार उपन्यास में कथानक की पूर्णता भी आवश्यक नहीं मानी जाती। 'पूर्णता' की कसौटी 'फलागम' मात्र नही हो सकती। पूर्णता का अर्थ है उत्सुकता, जिज्ञासा की परिशान्ति, भावोद्वेलन की समाहिति, उपन्यास की परिसमाप्ति पर यह दोनों ही सिद्ध हो जाते है और इस तरह कथा अपूर्ण नही रहती। अर्वाचीन महाकाव्यों में भी 'फलसिद्धि' के लक्षण की अवहेलना हो रही है अतः यह अपूर्णता का आभास या फल की अप्राप्ति उपन्यास की महाकाव्यात्मकता का विरोधी तत्व नही माना जा सकता। महाकाव्यात्मक उपन्यास मे 'फलागम की असिद्धि' कथा की पूर्णता मे जिज्ञासा, उद्वेलन की परिशान्ति के कारण बाधक नही होती। अतः 'फलागम' का रूढ़ अर्थ उसके लिए अनिवार्य नही है। युग-चेतना के अनुरूप यथार्थ की प्रतिबद्धता के प्रति वफादारी के लिए उसकी यह 'असफलता' उसका वैशिष्ट्य बन जाती है। इस युग की सत्य-अभिव्यक्ति मे जिस बिन्दु पर महाकाव्य अपने को असमर्थ पाता है—वही महाकाव्यात्मक-उपन्यास अपने को सार्थक व सफल पाता है। दूसरे फलागम की असिद्धि के कारण कथा कह चुकने पर भी वह निःशेष नही होती वरन् अथक अविरल प्रवाह, घटना-वैभव तथा अनेकानेक व्यक्तित्वों में जिनका वह अनुसधान करती है, वह अपने अस्तित्व को ज्यों-का-त्यो बनाए रख पाती है।[2] अतः महा-

१. महाकाव्य का नायक अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त करता है। यदि नायक विफल रहता है तो रचना महाकाव्य के स्तर से गिर जायेगी।"—'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त', एस० पी० खत्री, पृ० २४५।

२. 'The structure of Novel', Edwin Muir, p. 102.

काव्यात्मक उपन्यासकाल की अनंतता एवं जीवन के अबाध प्रवाह की अभि-व्यंजना मे महाकाव्य से अधिक समर्थ हो पाता है।

३. नायक तथा पात्र

औदात्य (नायक-पूजा तथा प्रतीक-प्रतिनिधि चरित्र): महान कथा का नयन महाकाव्य मे महान नायक और उसके सहयोगी पात्रो द्वारा किया जाता हे। भारतीय व पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे नायक (कथा के नेता) की परिकल्पना आदर्श प्रेरित है। अरस्तु ने महाकाव्य और त्रासदी के लिए उच्चतर कोटि के पात्र—भद्र, कुलीन, यशस्वी, वैभवशाली उत्तम मानवीय गुणो से युक्त पात्रो तथा नायक को अनिवार्य माना। भारत मे 'धीरोदात्त नायक' में सर्वगुण-सम्पन्नता की कल्पना की गई है। नायक प्रतिनायक पद्धति, धीरोदात्तता, सज्जन-स्तुति, दुर्जन-निन्दा आदि उदात्त नायक की परिकल्पना तथा पात्र-सयोजना के साधन है। उपन्यास में 'धीरोदात्तता' अनिवार्य नही है, उसमे असाधारणता का अनुसंधान किया जाता है। महाकाव्य तथा उपन्यास के पात्र संबधी इस दृष्टि-भेद को आलोचकों ने पकड लिया है—"उपन्यास पात्रो के अवगुणों को उतना ही महत्त्व देता है जितना उनके गुणों को देता हे।"[१] उनके अनुसार इसीलिए उपन्यास के अनेक प्रभावशाली पात्र होरी, शेखर आदि एकात प्रशसनीय गुणों के प्रभाव मे 'महाकाव्य के नायकत्व के अधिकारी'[२] नही हो पायेगे। रैल्फ एलीसन ने भी इसी विचार का पोषण किया है, "न ही उपन्यास तत्कालीन जीवन की सम्पूर्णता और विराटता के उद्देरण में समर्थ हो सकता है जो महाकाव्य के युग-सुलभ प्रतिनिधि चरित्रों तथा आदर्शवादी कला का व्यक्तित्व है।"[३] रैल्फ फॉक्स ने इसका कारण बतलाया है कि "महाकाव्य के पात्रो तथा उस समाज के मध्य जिसमें वे रहते थे, एक सतुलन था, जो अब लुप्त हो चुका है। इसमे सदेह नही कि इलियड अपने पात्रो में से किसी एक का उतना पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करता जितना कि सम्पूर्ण समाज का।"[४] डॉ० गुलाबराय के अनुसार "महाकाव्य के नायक नायिका कुछ जातीय महत्त्व रखते है। राम या कृष्ण आदि महाकाव्यो के नायक जाति की भावनाओं और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए हमारे सामने आते है। उनका व्यक्तित्व जाति के श्रेष्ठतम भावो से बनता है—उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है।"[५]

विभिन्न आचार्यों ने जो विचार व्यक्त किए है वे उपन्यास की महा-

१-२. हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, डॉ० रांग्रा, पृ० ३२।
३. 'Society Morality and the Novel', p. 65.
४. 'Novel and the People', Ralph Fox, p. 80.
५. 'उपन्यास का शरीर विज्ञान'—'साहित्य-सन्देश', उपन्यास अंक, अक्तूबर-नवम्बर, १९४०।

काव्यात्मकता के विरोधी नही है, ये वे सीमाएँ है जो उपन्यास के महत्त्व को घटाती है। यों भी न प्रत्येक उपन्यास महाकाव्यात्मक होता है, न ही पूर्वनिश्चय से प्रयत्नपूर्वक उसका निर्माण किया जा सकता है, वह तो स्वय उद्भूत होता है। अर्नेस्ट सिमन्स ने 'वार एण्ड पीस' के लिए कहा था "An epic is born"। धीरोदात्तता, सर्वगुणसम्पन्नता, औदात्य, आदर्श आदि लक्षणों का ध्वन्यर्थ यह है कि महाकाव्य मे प्रतिनिधि प्रतीक पात्रो का चित्रण होता है। श्रेष्ठ उपन्यास का मानदण्ड भी यही है कि उसके नायक व पात्र शाश्वत मानवीय संवेदना का अधिकाधिक सम्प्रेषण कर सके, यह तभी संभव है जब वे अधिकाधिक युग, राष्ट्र और मानव जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकते हों। इसीलिए टी० एस० शिपले ने कहा है कि महाकाव्यात्मक उपन्यास मे "पात्रों की संख्या अधिक होती है, वे व्यक्ति-चरित्र की अपेक्षा वर्ग-चरित्र होते है और प्राय: उनमे से एक पात्र उभर कर आकर्पण का केन्द्र बन जाता है।"[१] 'होरी' ग्राम्य जीवन का तथा शेखर वैयक्तिकता से आक्रांत बुद्धिजीवी मनुष्य के प्रतीक है—तभी वे पाठक की चेतना में जीवित है। समसामयिक युग में महाकाव्य और उपन्यास दोनो ही क्षेत्रो मे औदात्य व महत्ता की मापक मानवीय-संवेदना तथा प्रभाव-विस्तृति समभी जाती है, इसके आधार पर नायक तथा पात्रों की दृष्टि से उपन्यास में महाकाव्यात्मकता की प्राप्ति सभव लगती है। उपेक्षित पात्रो पर आधृत महाकाव्य तो उपन्यास के अत्यंत निकट आ गए है। वास्तव में आज उपन्यास में ही नही, युगदृष्टि के फलस्वरूप सम्पूर्ण साहित्य में ही 'वीर नायक (Hero) की मृत्यु' हो चुकी है।[२] सामान्य व्यक्ति के प्रति रुचि आकर्पण महाकाव्य की अवन्नति का कारण बन गया है;[३] जबकि उपन्यास 'नायक-हीनता' के आघात को भी झेल गया है। इस युग मे महाकाव्यात्मक उपन्यास मे वीर-पूजा की भावना से प्रेरित उदात्त नायक तथा पात्र सभव नही है परन्तु उसमे प्रतीक-प्रतिनिधि चरित्र व व्यक्तित्व की प्रस्तुति 'प्रभावान्विति' के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी महाकाव्य मे। सामान्य साधारण मानवीय चरित्रांकन के कारण इस उपन्यास-विधा मे प्रतीकत्व महाकाव्य की अपेक्षा अधिक सहज सरल है, परिणामत: इन उपन्यासों मे उसका अधिक सफल रूप परिलक्षित होता है।

यद्यपि उपन्यास के क्षेत्र मे 'नायक' के विलुप्त होने की घोषणा कर दी गई है परन्तु व्यवहार मे प्राय: ऐसा नही हो पाया है। नायक कहीं भी पूर्णत: तिरोहित नही हुआ है। 'नायक' के स्वरूप का कोण ही बदला है। अधिकांश आलोचक

१. 'Dictionary of World Literature', T. S. Shipley, p. 28.
२. "Human personality has disappeared from the Contemporary novel and with it the 'Hero'—'Novel and the People', R. Fox, p. 89.
३. 'हिन्दी उपन्यास', श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ४४०।

उपन्यास मे 'नायक' को अनिवार्य मानते है, अधिकाश उपन्यासो में मुख्य-चरित्र है, जो उपन्यास का नयन करने के कारण नायक ही कहा जाएगा। पर्सील्यूबक के अनुसार नायक न केवल उपन्यास में केन्द्र बिन्दु की स्थापना करता है वरन् शक्ति गरिमा और संवेदना को परिवर्द्धित करता है। इस दृष्टि से महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए वह अनिवार्य हो जाता है। हेनरी लूथ्रोप ने तो स्पष्ट शब्दो के महाकाव्यात्मक उपन्यास को एक नायक की कथा बताया है जिसे वह वैविध्य पूर्ण जीवन की विस्तृत पृष्ठभूमि मे देखता है।[1]

२. **मानवीय करुणा** : नायक के साथ प्रतिनायक (खलनायक) भी रूढ़ अर्थ मे उपन्यास से विलुप्त हो गया है। नायक या प्रमुख पात्र का सघर्ष किसी व्यक्ति से नही, सम्पूर्ण समाज या प्रकृति से होता है, इतने महान संघर्ष के कारण ही उसे महाकाव्य कहा गया है।[2] अत: इसमे समाज को ही प्रतिनायक माना जा सकता है। यही नही, कही-कही तो व्यक्ति किसी दूसरे से नही वरन् अपने आपसे चेतन-अवचेतन स्तर पर सघर्ष करता है। इस रूप मे उसमे 'महाकाव्यात्मक नायक' की मृत्यु हो चुकी है। थैकरे ने महाकाव्य की नायक-पूजा के विरोध मे ही अपने उपन्यास 'वैनेटी-फेयर' को 'नायक विहीन उपन्यास' घोषित किया था। मनोविज्ञान के प्रकाश मे जहाँ माहाकाव्यात्मक देवत्व के औदात्य का ह्रास हुआ है वहाँ खलता दुष्टता भी सहानुभूति के स्पर्श से मार्जित हो गई है। मानवीय करुणा ने उपन्यास में 'महाकाव्यात्मक नायक के औदात्य' के अभाव की 'स्थान-पूर्ति' बडी सफलता से की है। उसी से दुर्बल साधारण पात्र मे असाधारण का उद्घाटन संभव हो सका है। जहाँ कही उपन्यास मे सम्पूर्ण पात्र समूह संघर्षरत दिखाया गया है वहाँ नायक की 'विराटता' का भी आभास मिल जाता है। इसके अतिरिक्त उपन्यास-क्षेत्र मे फिर से 'नायकत्व' की पुनर्प्रतिष्ठा के प्रयत्न दिखाई दे रहे है। रेणु की 'परती परिकथा', 'मैला आचल', नागरजी का 'बूँद और समुद्र' इसके उदाहरण है। साराश यह है कि 'महाकाव्यात्मक नायक' के स्तर पर भी उपन्यास का महाकाव्यत्व असिद्ध नही हो पाता। नायक तथा पात्रों मे व्यजित मानवीय सवेदना तथा शाश्वत करुणा महाकाव्यत्मक उपन्यास का अनिवार्य लक्षण है।

पात्र तथा नायक सम्बन्धी दृष्टिकोण का विश्लेषण महाकाव्य की ही नही, उपन्यास की दृष्टि से भी अनिवार्य हो जाता है। 'व्यक्ति चरित्र' आधुनिक विशेषत. मनोवैज्ञानिक उपन्यास की बहुत बड़ी विशेपता है, महाकाव्य मे वह

१. "···a single story about a single hero but sees him against on extensive back ground of various life."
('The art of the Novelist', H. Lutherop, p. 14.

२. "The novel deals with the individual it is the epic of struggle of individual against society, against nature."—'Novel and the People', Ralph Fox, p. 44.)

नायक तथा पात्रों के प्रतीक प्रतिनिधि चरित्र के कारण प्रायः सभव नहीं होती। रैल्फ फॉक्स ने तो स्पष्ट शब्दो में घोषणा की थी कि सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र को व्यक्ति-चेतना में केन्द्रित करने के परिणामस्वरूप उपन्यास महाकाव्य के गुणों से शून्य हो जाएगा। अर्वाचीन महाकाव्यों मे ('कामायनी', 'यशोधरा', 'साकेत', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी', 'एकलव्य' आदि) व्यक्ति-चरित्र की दिशा में पर्याप्त प्रयत्न परिलक्षित हो रहे हे, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह वृत्ति 'अमहाकाव्यात्मक' नहीं है। अत. मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषण से सप्रेरित व्यक्ति-चरित्र भी उपन्यास को काव्य के निकट ही ले जाते है, उससे दूर नही करते। इस दृष्टि से अज्ञेय तथा स्टीफन स्पैंडर के विचार दर्शनीय हैं—"जब उपन्यासकार स्थूल वर्णनात्मकता से निकलकर मानस की अतल गहराइयों मे उतरने लगता है और उसके पात्रों का चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑफ कान्शसनेस) उमड़ पड़ता है, उपन्यास कविता के निकटतम पहुँच जाता हे।"[१] पात्रो की एक साथ कई स्तरो पर अभिव्यक्ति के लिए कविता उपयुक्त साधन है।[२] अतः व्यक्तिपरक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास भी महाकाव्यात्मक उपन्यास के गौरव के अधिकारी हो सकते है। 'यूलिसिस', 'शेखर : एक जीवनी', 'अमृत और विष' इसके सफल उदाहरण है।

देशकाल

राष्ट्र, युग तथा शाश्वत जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम देशकाल में आबद्ध जीवन होता है। महाकाव्य में जाति अथवा राष्ट्र सम्पूर्ण युग के परिप्रेक्ष्य में समग्रता से अंकित होता है, उपन्यास मे यह अनिवार्य नहीं है, उसकी दृष्टि जीवन के यथार्थ पर ही केन्द्रित होती है। महाकाव्य युगनिरपेक्ष्य होता हे, उपन्यास युग-सापेक्ष्य। इस दृष्टि-वैभिन्न्य पर अनेक विचारको ने प्रकाश डाला है। रैल्फ फॉक्स,[३] रैल्फ एलीसन,[४] डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी[५] आदि ने स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि महाकाव्य द्वारा समाज-जाति-राष्ट्र की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति संभव है, उपन्यासो द्वारा नहीं। इसका कारण कडॉवैल ने बताया है काव्य और उपन्यास में अपरिवर्तनशीलता और परिवर्तनशीलता का अन्तर।[६] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने माना है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुलाकर

१. **'आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण,—'कल्पना' (जून, १९५२), अज्ञेय।**
२. "......it shows that the poetry is really the medium most suited to such devices as the interior monologue and variations through the minds of several characters on a single theme"
—'The Novel and Narrative Poetry,' Stephen Spender.
३. 'Novel and the People', p. 81.
४. 'Society Morelity and the Novel,' p. 65.
५. **आधुनिक साहित्य, पृ० १५०।**
६. Illusion and reality, p. 208.

भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता, पर काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ सकता है।[१] इन विचारो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य में परम्परागत कथा, आदर्श महापुरुष आदि के द्वारा राष्ट्र-संस्कृति के पूर्णरूप में चिरन्तन जीवन को ध्वनित किया जाता है जबकि उपन्यास यथार्थ पर खडा होने के कारण परिवर्तनशील देशकाल के कारण अस्थिर है, उसमे शाश्वत जीवन का दर्शन संभव नही है।[२] वास्तव मे यह दृष्टिकोण केवल सामान्य उपन्यास तक ही लागू हो सकता है। यदि उसे कला-साहित्य होने के कारण शाश्वत मान-मूल्यों के द्वारा काल-प्रवाह में स्थिर होना है तब उसे महाकाव्य के इस गुण को प्राप्त करना आवश्यक होगा। यथार्थ और परिवर्तनशीलता के माध्यम से भी शाश्वत जीवन का उद्घाटन सभव है—'शेखर : एक जीवनी', 'गोदान' आदि इसके उदाहरण है कि देशकाल का वर्तमान यथार्थ 'देशकाल' से ऊपर शाश्वत जीवन-सिद्धि में बाधक नहीं है। अत' देशकाल की सीमा में मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करने के कारण उपन्यास भी महाकाव्यत्व की उपलब्धि कर सकता है, महाकाव्यात्मक उपन्यास इसी के प्रमाण है। महा-काव्यात्मक उपन्यास मे युग-जीवन के यथार्थ चित्रण के द्वारा सार्वभौमिक सार्व-कालिक शाश्वत जीवन का अनुसधान तथा उद्घाटन किया जाता है, यही गुण उसे सामान्य उपन्यास से भिन्न कर महाकाव्य के निकट पहुँचा देता है।

महाकाव्यात्मक उपन्यास में देशकाल की सीमाएँ अनिर्बद्ध होती है। वह जीवन की विहंगम परिदृश्यावली प्रस्तुत करता है। इसमे राष्ट्र, जाति व युग के सम्पूर्ण जीवन का वैविध्य विस्तार से सश्लिष्टपूर्ण चित्र उकेरा जाता है। जीवन के सतत अविरल प्रवाह को अकित करने की सामर्थ्य उसमे होती है, एक नही एक साथ कई पीढ़ियों[३] को लेकर कालगति शाश्वत—कालगति उसमे प्रवहमान दीख पड़ती है। 'युद्ध और शाति', 'गोदान', 'रंगभूमि', 'झूठा-सच', 'धूपछाँही रंग' आदि इसके अनेक उदाहरण है। इस प्रकार जीवन की चिरन्तन-धारा को प्रति-बिम्बित करता देशकाल का असीम विस्तार महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए अनिवार्य हो जाता है।

जीवन-दर्शन (उद्देश्य)

महाकाव्य की पहली शर्त है महत् उद्देश्य। महत् कथा, आदर्श चरित्र, युग-वातावरण इसके परिणाम मात्र है। आचार्य रुद्रट, दण्डी ने इसे 'चतुर्वर्गफलोपेत'

१. 'हिन्दी उपन्यास—सिद्धान्त और विवेचन', पृष्ठ १।
२. The novel belongs to a restless age where things are always happening to people and people therefore are always changing. Illusion and Reality : Coudwell, p. 20.
३. "Processional march of the generations always changing, always renewed." 'Craft of Fiction,' P. Labbock, p. 28.)

विशेषण से युक्त किया। अरस्तू ने इसे 'उच्चतर-जीवन का चित्रण माना। टिलि-यर्ड ने grandeur को महाकाव्य के मूल गुण के रूप मे मान्यता दी। डॉ० नगेन्द्र ने औदात्य या महान की उसके प्राण-रूप में प्रतिष्ठा की। अर्थात् प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय पाश्चात्य सभी प्रमुख आचार्यों ने 'महत्‌उद्देश्य' को महाकाव्य के लिए सर्वाधिक अनिवार्य तथा अंतिम मान-मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। यह महत् उद्देश्य सम्पूर्ण महाकाव्य मे चेतना-सा रमा होता है। अन्तिम सारभूत प्रभाव द्वारा उसकी अभिव्यंजना (ध्वनि) होती है, अर्थात् जीवन-दर्शन की गरिमा ही उसे 'महान्' सिद्ध करती है।

उपन्यास इस दृष्टि से उसके निकट है। जीवन के अनुभव, अध्ययन-अनुसंधान, चिन्तन-मनन, प्रतिभा-कल्पना से उपन्यासकार जीवन-दर्शन की जितनी ऊँचाई तक पहुँच जाता है उसका उपन्यास उतना ही 'महान्' होता है। रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास का महाकाव्य की दृष्टि से विवेचन करते हुए इसी तथ्य को प्रमाणित किया है। "यह सत्य है कि उपन्यास-लेखन दार्शनिक प्रक्रिया है। विश्व के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास, वस्तुत चिन्तनगरिमा, कल्पना एवं प्रतिभा की प्रेरणा के कारण ही महान है। यही 'गुण' प्रथम कोटि और द्वितीय कोटि मे अंतर स्पष्ट करता है।"[१] प्रसिद्ध उपन्यासकार डी० एच० लॉरेन्स ने दर्शन और उपन्यास मे आती हुई विच्छिन्नता के प्रति खेद प्रकट किया है।[२] अतः जीवन-दर्शन का गाम्भीर्य और औदात्य महाकाव्य और उपन्यास को समानता प्रदान करते है, इसे महाकाव्यात्मक उपन्यास के महत्त्वपूर्ण लक्षण के रूप मे ग्रहण किया जाता है।

उद्देश्य की दृष्टि से एक अन्तर सामने आता है और वह यह है कि महाकाव्य मे *रस-तत्व प्रधान है--उपन्यास मे उद्देश्य। काव्य की भावात्मकता के कारण* पहला संवेदनापरक है, दूसरा गद्य माध्यम के कारण कौतूहलप्रक। 'उपन्यास में कौतूहल वृत्ति प्रधान रहती है और रमणवृत्ति गोण।'[३] परन्तु यह अन्तराल भी अब दूर हो गया है क्योकि उपन्यास ने अपने विकास-क्रम के विभिन्न स्तरो पर काव्य-विधाओं के अनेक रूपो को आत्मसात कर लिया है।[४] महाकाव्यात्मक उपन्यास मे इसकी सम्भावना अपेक्षाकृत और अधिक है। उपन्यासकार की अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण ही गेटे ने उपन्यास को आत्मपरक महाकाव्य (Subjective Epic) कहा था। फिलिप हैंडर्सन के अनुसार उपन्यास अब मूलतः आत्म-

१. 'The novel and the people,' R. Fox, p. 91-92.
२. "It seems to me it was the greatest pity in the world when philosophy and fiction got split." 'Selected literray Criticism,' D. H. Lawrerce : (Ed.) Anthony Beal, p. 117
३. 'हिन्दी उपन्यास', शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३।
४. 'Dictionary of World Literary Terms,' Joseph T. Shipley, p. 283.

विश्लेषण की विधा के रूप मे स्वीकृत होता जा रहा है।[1] वह आत्माभिव्यक्तिपरक काव्य के अधिकाधिक निकट आ गया है।[2] इससे भी आगे कुछ आलोचक उसे कविता की एक शाखा मानने का प्रयत्न कर रहे है।[3] काव्य के इस गुण ने उसकी काव्यात्मकता मे सवृद्धि कर उसे महाकाव्य के और निकट पहुँचा दिया है। अत: उद्देश्य के स्तर पर भी उपन्यास महाकाव्यत्व तक पहुँचने की क्षमता रखता है, महाकाव्यात्मक उपन्यास का लक्ष्य यही है।

शैली-शिल्प

महत् के संवहन के लिए महाकाव्य मे उदात्त शैली की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, उपन्यास मे सामान्य जन-जीवन के यथार्थ के चित्रण के लिए सर्वसुलभ सामान्य शैली की ओर प्रवृत्ति रही है। जीवन की गरिमा के योग्य तथा सामंती युग की अभिव्यक्ति होने के कारण महाकाव्य मे अमिश्र काव्य की मान्यता दी गई है। उपन्यास ने जीवन के बहुमुखी यथार्थ के चित्रांकन के कारण अनेक काव्य-रूपों को यथोचित रूप मे आत्मसात् कर लिया है और परिणामत वह 'मिश्र काव्य रूप' बन गया है। यह उदार रूढि-विरोधी निर्बन्धता महाकाव्य और उपन्यास की शैली में बड़ा अन्तर उपस्थित करती है। उपन्यासकार रूढि लक्षणों को अस्वीकृत करता हुआ युगानुकूल गतिमान पाठक से ही बँधता है, अत उस शैली मे अधिक अनौपचारिक आत्मीयता होती है, उसकी अनुभूति की विश्वसनीयता, सप्रेषण-क्षमता बढ जाती है। शैलीगत प्रभाव की दृष्टि से महाकाव्य की अपेक्षा 'महत्' का आभास उपन्यास शैली अधिक दे पाती है। प्रभविष्णुता के कोण से उपन्यास का आयाम अधिक विशाल है, उसके पाठक भिन्न स्तरीय और बहुसंख्यक है। दूसरी ओर तीव्र प्रभावान्विति मे महाकाव्य कुछ आगे बढ़ जाता है। निष्कर्ष यह है कि शैली की दृष्टि से महाकाव्य और उपन्यास भिन्न हैं, औपन्यासिक अस्तित्व के सरक्षण के लिए शैलीगत प्रभाव को दूर ही रखना होगा। उपन्यास की महाकाव्यात्मकता की सिद्धि में औपन्यासिक शैली बाधक नही होती वरन् महाकाव्य के शैलीगत गुणो के आरोपण से उपन्यास 'उपन्यास' की सज्ञा से शून्य हो सकता है। अत महाकाव्यात्मक उपन्यास की शैली औपन्यासिक शैली ही होती है। उसकी शैली मे महत् उद्देश्य के अनुरूप गाभीर्य तथा औदात्य की अपेक्षा की जाती है परन्तु महाकाव्य के शैलीगत गाभीर्य औदात्य से वह भिन्न होता है।

महाकाव्यात्मक उपन्यास का आधार-फलक विराट् होता है, उसका आयाम विशाल होता है। सम्पूर्ण युग, राष्ट्र अथवा जाति के विविध-विस्तृत जीवन को समेटकर उसे पूर्णत: सुगठित सुव्यवस्थित कर पाना संभव नहीं हो पाता। अत:

१. 'An advance of the English Novel', p 5.
२. 'The novel like poem is, afterall a flower of individual presonality,'—Richard Church.
३. 'The novel is branch of peotry'.

इन उपन्यासों का कथा-संगठन अपेक्षाकृत, विशृंखलित, असम्बद्ध तथा बिखरा हुआ प्रतीत होता है। पर्सी ल्यूबकने उसे large crowded and unmanageable novel' कहा है। शिपले के अनुसार "उसका कथा-आधार शिथिल होता है, केन्द्र मे कोई एक सूत्र नही होता। घटनाएँ आकस्मिकता, पात्रों के चरित्र तथा परिस्थितियों के द्वारा आंशिक रूप से आबद्ध होती है।"[१] इन उपन्यासों में शैली-शिल्प पर कम, विपुलता विविधता पर अनुपातत अधिक बल दिया जाता है। परिणामत' जीवन के छोटे-बड़े अनेकानेक रूपो और पहलुओं की भरमार हो जाती है, जिसमे कथा-सूत्र बिखरते-उलझते चले जाते है। अतः बाह्य संगठन अस्त-व्यस्त हो जाता है। दूसरी ओर जीवन के जिस अंश को उपन्यासकार लेता है उसे सजीव रंगीन कलात्मक बना देता है। इस प्रकार महाकाव्यात्मक उपन्यासो का शैली-शिल्प केवल महाकाव्य अथवा उपन्यास-कला की रूढ कसौटी पर नही परखा जा सकता। वह दोनोसे विशिष्ट होताहै। उदाहरण के लिए इन उपन्यासो का विकास दोनो से भिन्न होता है, उसमें एक नही, कई चरम बिन्दु हो सकते है (reaches more than one climax of interest)[२] तथा फलागम अथवा अंत की ओर विशेप प्रवृत्ति नही होती। शिपले ने दूसरी कथा-विशेप की तुलना मोमबत्ती से की है जो या तो शनैः-शनैः क्षीण होती हुई चुक जाती है अथवा अचानक बुझ जाती है।[३] साराश यह कि महाकाव्यात्मक उपन्यास का शैली-शिल्प कठिन होता है और केवल विशेप प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व ही इसकी संरचना कर पाने मे समर्थ हो पाते है। विराट जीवन-आधार को रूप, आकार, कला-शिल्प मे संयोजित कर पाना, एक विशेष काव्य-रूप प्रदान करना महाकाव्यात्मक उपन्यासकार के द्वारा ही सभव है।

महाकाव्य के तत्त्वों के विश्लेपण तथा उपन्यास से उनके तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास महाकाव्यात्मक हो सकते है। उनमें वैपम्य सतही अधिक है, मौलिक या मूलभूत नगण्यप्राय। गंभीर जीवन-दृष्टि से प्रेरित कथा-पात्रो मे जीवित युग के माध्यम द्वारा शाश्वत-सत्य के अनुसंधान में प्रवृत्त औपन्यासिक वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखते हुए श्रेष्ठ उपन्यास महाकाव्यात्मक उपन्यास के गौरव का अधिकारी हो सकता है। महाकाव्य की मूल प्रवत्ति एवं उपन्यास का निजी वैशिष्ट्य इन दोनो के संतुलित सामंजस्यपूर्ण, समन्वित प्रयास इस उपन्यास-विधा की सार्थकता सिद्ध कर सकता है। साराश में महाकाव्यात्मक उपन्यास का लक्षण है:—महाकाव्य के मूल गुणों से युक्त उपन्यास, अर्थात् विराट् फलक पर विराट् जीवन का विविध रूपों मे चित्रण करनेवाला कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कार्य तथा जीवन-दर्शन और शैली की गरिमा से युक्त उपन्यास।

१. 'Craft of Fiction', p. 26.
२. 'The Art of Novelist', Henry Luthrop, p. 14.
३. 'Dictionary of World Literature', Shipley, pp. 286-87.

समसामयिक युग मे वैज्ञानिक, बौद्धिकतामूलक जीवन-चिन्तन के कारण भावनाश्रित काव्य की ओर प्रवृत्ति का ह्रास हो गया है। कवि को आत्माभिव्यक्ति एवं युग-सवेदना की समग्र अभिव्यजना के लिए काव्यात्मकला से अधिक गद्यात्मकता की ओर देखना अनिवार्य-सा हो गया है। कविता की गद्यात्मकता इसीका परिणाम है--गद्य और पद्य की विभाजक रेखाएँ विलुप्तप्राय हो चुकी है। बौद्धिक जटिलता, सकुल युग-जीवन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अनेकानेक प्रयोग कर रहा है। अत. रूढ़, अमिश्र काव्य रूप अब प्राय. नि शेष हो चुके है, सभी एक-दूसरे की सीमाएँ लाँघ रहे है। उनका पार्थक्य तथा अतराल तिरोहित होता चला जा रहा है, कविता कहानी, निबध, एकाकी आदि एक-दूसरे के अधिक निकट आ गए है। इसी तरह प्रबध-साहित्य मे महाकाव्य, उपन्यास, नाटक का अतर भी मिटता चला जा रहा है। महाकाव्य भावाश्रित काव्य होने के कारण युग की सहज एव पूर्ण अभिव्यक्ति मे अपने को असमर्थ पा रहा है। अत. पाठक तथा कवि के सस्कारो के कारण उसकी आत्मा ने 'उपन्यास' मे प्रवेश कर लिया है---परिणाम 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' है। महाकाव्य की आत्मा ने ही नाटक को 'उदात्त-गरिमा' से मडित कर उसे सर्वोत्तम काव्य-रूप मे प्रस्तुत किया था, आज वही युग-चेतना से प्रभावित हो अर्वाचीन युग की सर्वाधिक सशक्त साहित्याभिव्यक्ति उपन्यास को अपनी चेतना से गौरव प्रदान कर रही है। महा-काव्यात्मक उपन्यास आज के युग की सर्जन-अनिवार्यता बन गया है। उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसके स्वरूप का निर्भ्रान्त निर्धारण भी करना होगा। महाकाव्य की 'महाकाव्यात्मकता' और उपन्यास की 'औपन्यासिकता' दोनों ही उसका आधार होगी।

हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास

डॉ० प्रतापनारायण टण्डन

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य : हिन्दी उपन्यास का पृष्ठाधार

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य के अन्तर्गत जो-जो कथाएँ आती है, वे प्रायः (क) वैदिक कथाओ, (ख) संस्कृत कथाओ, (ग) पालि कथाओ, (घ) प्राकृत कथाओं, (ङ) अपभ्रंश कथाओं आदि पर आधारित है।

ऋग्वेद मे जो कथाएँ मिली बताई जाती हे, वे कथाएँ न होकर कथाओं के बीज हैं। वास्तव मे यह मंत्रो का संकलन है, जिसमे कथोपकथन का होना ही कथा का मूल कहा जा सकता है। इन्हे संवाद-सूत्र भी कहा जाता है। विद्वानो का अनुमान है कि कथा-साहित्य का मूल उद्‌गम-स्रोत ये ही सूत्र हे।

प्राचीन साहित्य में अनेक उपदेशात्मक आख्यानों के मूल भी मिलते हे। उदाहरण के लिए 'अपाला' आदि की कथा का नाम लिया जा सकता है। लेकिन यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जो कथाएँ अपने बीज-रूप मे ऋग्वेद में मिलती हे, वे ही परवर्ती साहित्य में किंचित् विस्तार से उपलब्ध होती है। 'निरुक्त' में इन कथाओं के मूल आधार को बताने का प्रयत्न किया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋग्वेद को ही आधुनिक कथा-साहित्य का उद्‌गम-स्थल माना जाता है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखने की है कि प्रायः सभी परवर्ती आख्यान ऋग्वेद में बीज-रूप में उपलब्ध हैं। इनका विस्तार से वर्णन 'उपनिषद्', 'निरुक्त', 'बृहद्देवता', 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' तथा पुराण आदि में मिलता है। अपाला, हरिश्चन्द्र, उर्वशी-पुरुरवा आदि की कथाएँ इसी कोटि में आती है।

उपनिषदों का कथा-साहित्य

उपनिषदो में जिन कथाओं के संकेत मिलते है, वे प्रायः धार्मिक हे। इन कथाओं की सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनमें उपदेशात्मकता अधिक मिलती है। ये कथाएँ बहुत मनोरंजक है तथा विविध प्रश्नों और शंकाओं के उत्तर तथा समाधान के रूप में स्थान-स्थान पर समावेशित हुई है। इन कथाओं

में 'देवताओ की शक्ति-परीक्षा', 'नचिकेता का साहस', 'सत्यकाम और गो-सेवा', 'याज्ञवल्क्य और गार्गी', 'श्वेतकेतु और उद्दालक', 'अश्विनीकुमार और गुरु दध्यग', 'सुकेशा' तथा 'महाशल्य शौनक और अगिरा' आदि कथाओं के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पुराणों का कथा-साहित्य

ऊपर कहा गया है कि वेदो तथा उपनिषदो मे जो कथा-साहित्य के बीज-रूप मिलते है, वे आधुनिक कथा साहित्य के मूल-स्रोत माने जाते है। परन्तु इस कथन से यह आशय न समझना चाहिए कि वे किन्ही युगीन विकसित कथा-तत्त्वों का परिचय दे सकने मे समर्थ है। वास्तव मे वेद या उपनिषद कथा-साहित्य के अन्तर्गत जिन कथाओ का उल्लेख किया जाता है, वे प्राय मूल रूप मे ही ग्रहण की जानी चाहिए। वे उस भावी कथा-साहित्य का मूल आधार है, जो उनकी प्रेरणा से आगे चलकर सर्जित हुआ। परवर्ती काल मे उन्ही के आधार पर अनेक पौराणिक कथाओ की भी सृष्टि हुई। इन्ही कथाओ के वृहत् सकलनो के आधार पर ही 'रामायण' तथा 'महाभारत' की भी रचना हुई। इन महाकाव्यो मे जो कथाएँ आयी है, उनमे से बहुत-सी अपने प्रारम्भिक रूप मे पहले से ही उपलब्ध थी। परन्तु कल्पना के आधार पर उन्हे अधिक विस्तार दिया गया तथा इन ग्रन्थो मे उनको विस्तृत रूप मे संगृहीत किया गया।

इन कथाओ के सामान्य रूप से दो भेद किए जा सकते है—

(क) मूल कथाएँ।

(ख) प्रासगिक कथाएँ।

इनमें से अधिकाश मूल-कथाएँ इनके आधार-ग्रन्थो मे मिलती है। परन्तु प्रासंगिक कथाओ के विषय मे यह बात नही कही जा सकती। इनमे कल्पना का पर्याप्त सम्मिश्रण है। ये प्रासगिक कथाएँ इन ग्रन्थो मे दो उद्देश्यों से समाविष्ट हुई है। पहला उद्देश्य है कथा मे चमत्कार सृष्टि करना तथा दूसरा उद्देश्य है कथा की पुष्टि।

पुराणों का महत्त्व

पुराणो का स्थान अनेक दृष्टियो से भारतीय साहित्य मे विशिष्ट है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार "धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल-सुबोध भाषा मे वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक नही रह गई तब उनके तत्त्वो को जनता तक पहुँचाने के लिए पुराण बनाये गए। पुराणोंका सामाजिक महत्त्व भी कम नही है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों मे ही उपलब्ध होता है। पुराणों मे प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढे-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण मे दिये गए इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से

और विदेशियो के यात्रा-विवरणो से पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान ऐतिहासिको का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है।"[1]

जातक-कथाएँ

बुद्ध-वचन का जिन नौ भागो मे वर्गीकरण किया गया है, उनमे से जातक भी एक है। जातक का महत्त्व इन सबसे अधिक है—प्रसिद्धि की दृष्टि से भी तथा प्राचीनता की दृष्टि से भी।

'जातक' का अर्थ—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है—'जातक' शब्द का अर्थ है जन्म-सम्बन्धी। विकास-वाद के अनुसार एक फूल को विकसित होने के लिए, उस पुष्प की जाति विशेष के अस्तित्व मे आने मे लाखो वर्ष लग जाते है। तब क्या कोई भी प्राणी साठ या सत्तर, अधिक से अधिक सौ वर्ष के जीवन से बुद्ध बन सकता है? उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने ही होगे। गौतम बुद्ध को भी धारण करने पड़े। बुद्ध होने से पूर्व अपने सब पिछले जन्मो तथा अन्तिम जन्म मे उनकी संज्ञा बोधिसत्व रही। बोधि का अर्थ बुद्धत्व और सत्व का अर्थ प्राणी—बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी।[2]

जातक-कथाओ का पूर्ववर्ती कथा-साहित्य से मुख्य अंतर—जातक-कथाओं से पूर्व का जो कथा-साहित्य उपलब्ध है, वह प्राय. सकेत, सवाद या किसी संदर्भ मे प्रासगिक रूप मे आया है। साथ ही, पौराणिक कथा-साहित्य के अतिरिक्त उसमे कोई विशेष क्रमबद्धता या कलात्मक पूर्णता भी नही मिलती है। परतु जातक-कथा-साहित्य मे, इस दृष्टि से, पूर्ववर्ती कथा-साहित्य से पर्याप्त अन्तर मिलता है। इसमें समस्त कथाओ मे एक प्रकार की पारम्परिक क्रमबद्धता-सी मिलती है, जिससे कथाओ का सूत्र बंधा रहता है। यों यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इन कथाओं का स्रोत भी—अन्य सम्पूर्ण कथा-साहित्य कीही भांति—ऋग्वेद आदि हैं।

जातक-कथाओं के विषय : श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन के शब्दों मे, "जातक मे केवल भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्मो से सबंध रखनेवाली गाथाएँ भर है। जातक अट्ठकथा मे अट्ठकथा सहित असल जातक कथाएँ आरम्भ होने से पहले निदान कथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान-कथा मे सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र के साथ उनके पूर्व के २७ बुद्धो का भी जीवन-चरित्र है।"

जातक-कथाओं का प्रसार-विस्तार और परवर्ती कथा-साहित्य पर प्रभाव : गौतम बुद्ध के पूर्व-जीवन-विवरण के आधार पर लिखी गई इन जातक-कथाओं का

१. देखिए, संस्कृत साहित्य का इतिहास', श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ५६।
२. 'जातक'—प्रथम खण्ड, सं०श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पृ० १२।

क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। ये कथाएँ इतनी रोचक और मर्मस्पर्शी है कि परवर्ती कथा-साहित्य पर जितना प्रभाव इनका पडा, उतना किसी साहित्य का नही। इस दृष्टि से इनका महत्त्व कितना अधिक है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

बृहत्कथा

विद्वानो ने 'बृहत्कथा' का प्राचीन सस्कृत कथा-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान बताया है।[1] इसका रचना काल ई० पू० छठी शताब्दी माना गया है। सर्वप्रथम इसकी रचना ई० पू० पहली शताब्दी मे गुणाढ्य नाम के किसी विद्वान् ने पैशाची भाषा मे की थी। यह ग्रथ अप्राप्य है। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'बृहत्कथा' का आदि-स्रोत जातक-कथा-साहित्य को ही माना है।[2] उनका अनुमान है कि 'ईसा की प्रथम शताब्दी मे आन्ध्र राजाओ के समय गुणाढ्य नाम के किसी पडित ने पैशाची भाषा[3] मे 'बृहत्कथा' नाम का एक ग्रथ लिखा था। यह गुणाढ्य कौन थे, कहना कठिन है। इनकी 'बृहत्कथा' एकदम अप्राप्य है। अब तक किसी के देखने मे नही आयी। इससे नही कहा जा सकता कि वह 'बृहत्कथा' कितनी बृहत् थी और उसमे क्या-क्या था। बाण के 'हर्षचरित' मे, दण्डी के 'काव्यादर्श' मे, क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा मजरी' मे और सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' मे उसका प्रमाण है।

शुक सप्तति

'शुक सप्तति' रोचक कथाओ का सग्रह है, जिसमे एक शुक अपने स्वामी के विदेश-यात्रा पर प्रस्थान करने के पश्चात अपनी स्वामिनी का मन मनोरंजक कथाओं से बहलाता है, जो पति की अनुपस्थिति मे अन्य पुरुषो के प्रति आकृष्ट होने लगी थी। इसका रचनाकाल बारहवी शताब्दी का है।

१. बाणभट्ट, दण्डी तथा सुबन्धु ने 'बृहत्कथा' की प्रशंसा क्रमशः इस प्रकार की है

(क) समुद्दीपितकन्दर्पा कृत गौरी प्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥

(ख) भूतभाषामयी प्राहुरद् भुतार्था बृहत्कथाम्।

(ग) बृहत्थालम्बैरिव सालभजिकानिवहै :॥

२. 'जातक'—प्रथम खण्ड, सं० श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पृ० २७१।

३. 'भारतभूमि और उसके निवासी' नामक ग्रन्थ के रचयिता का अनुमान है कि पैशाची भाषा या तो बरदी की पूर्वज भाषा थी या उज्जैन के निकट की कोई बोली।'' देखिए, उक्त ग्रन्थ, पृ० २०६।

पंचतंत्र

'पंचतंत्र' की गणना भारत के प्राचीन लोक-कथा-साहित्य के अंतर्गत की जाती है। ये कथाएँ पंडित विष्णु शर्मा द्वारा लिखी गई थीं। इनका संकलन पाच भागों मे किया जाने के कारण ही इनके सग्रह को 'पचतत्र' कहा जाता है। ये कथाएँ चूँकि एक विशिष्ट उद्देश्य से लिखी गई थी, अत' प्राचीन भारतीय नीति-शास्त्र के सैद्धातिक परिचय की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। ससार की प्राय: सभी प्रमुख भाषाओं मे इसके अनुवाद हो चुके है। प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वानों—सर विलियम जोन्स[1] तथा प्रोफेसर मूर्ले[2] ने इनकी प्रशसा करते हुए इनके महत्त्व को स्वीकार किया है। इन कथाओं का मूल स्रोत जातक-कथा-साहित्य है। इन दोनों मे मुख्य भेद यही है कि जातक-कथाएँ जन-साधारण के लिए लिखी गई थी और 'पंचतंत्र' की कथाएँ इस उद्देश्य से नही।

हितोपदेश

'पंचतंत्र' की ही भाँति 'हितोपदेश' की गणना भी प्राचीन भारतीय लोक-साहित्य के अन्तर्गत की जाती है। इसके लेखक नारायण पडित थे। विश्व-साहित्य में पशु-पक्षियो विषयक कथाओ का आरा म 'हितोपदेश' के द्वारा ही हुआ। 'पंचतत्र' और 'हितोपदेश' की रचना का मूल उद्देश्य एक ही था—अर्थात् राजकुमारों को राजनीति और व्यवहार-नीति की शिक्षा देना।[3]

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि खडीबोली हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही उपन्यास-साहित्य का भी विकास हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रारम्भिक शताब्दियो में गद्य का अभाव होने के कारण और केवल पद्य का ही प्रचलन होने के कारण कथा-साहित्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। उन्नीसवी शताब्दी मे, जब गद्य का अधिकाधिक प्रचार होने लगा, तब उपन्यास

१. "Their (the Hindoo's) Niti-Shastra, or system of Ethics, is yet preserved, and the fables of Vishnu Sharma, are the most beautiful, if not the most ancient collection of apologues in the world."

२. "It comes to us from a far place and times as a manual of worldly wisdom, inspired throughout by the religion of its place and time ..every fable of Panchtantra can still be applied to human character, thousand years ago, when parted from local accidents of form, might find its time for being quoted now in church or at home."

३. 'हितोपदेश', भाषान्तरकार—श्री आनन्द, भूमिका।

के विकास के लक्षण दिखाई देने लगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों मे जो कथा-साहित्य विषयक पुस्तकें मिलती है, उनमे 'रानी केतकी की कहानी' (सैयद इंशाअल्ला खॉ), 'सिहासन बत्तीसी', 'बेताल पच्चीसी', 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसागर' (लल्लूलाल), 'नासिकेतोपाख्यान' (सदल मिश्र) तथा 'गोरा-बादल की कथा' (जटमल) आदि उल्लेखनीय है।

(उदयभान चरित्र या) रानी केतकी की कहानी—हिन्दी उपन्यास के विकास के इस युग मे 'रानी केतकी की कहानी' का महत्त्व सर्वाधिक है। इसके लेखक सैयद इंशाअल्ला खॉ थे। खड़ीबोली के गद्य-साहित्य के इतिहास में इंशा-अल्ला खॉ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह अरबी-फारसी के पडित थे। उन्होंने हिन्दी की विविध शैलियो को मिश्रित कर उसी के आधार पर इस कहानी की रचना की थी।

लल्लूलालजी और उनकी कृतियाँ : लल्लूलालजी (सवत् १८२०-८२) गुजराती ब्राह्मण थे और आगरा मे निवास करते थे। यह संस्कृत और उर्दू भाषाएँ जानते थे। सवत् १८३० मे इन्होंने 'प्रेमसागर'[1] की रचना की थी। उनकी भाषा में उर्दू, अरबी, फारसी तथा तुर्की के शब्द भी मिलते है, यद्यपि उन्होने ऐसे शब्दों का अधिकाधिक बहिष्कार करने का प्रयत्न किया है।

आधुनिक युग के प्रारम्भिक वर्षों मे जिन कथाकारों का नाम आता है, उनमे लल्लूजी की निम्नलिखित कृतियो का भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है :

१. सिंहासन बत्तीसी[2]
२. बेताल पच्चीसी[3]
३. माधवानल कामकन्दला[4]
४. शकुन्तला[5]
५. प्रेमसागर।

उपर्युक्त कृतियो मे, जैसा कि उनके शीर्षको से स्पष्ट है 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बेताल पच्चीसी' कहानियो के संकलन है और ये प्राचीन कहानी-परम्परा से प्रभावित हे। स्रोत की दृष्टि से इन्हे संस्कृत के 'बेताल पंचविंशति' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का रूपान्तर कहा जा सकता है। 'प्रेमसागर' की कथा

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४२१।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. वही।

श्रीमद्भागवत पर आधारित कही जाती है। कुछ विद्वानों[1] ने उनकी 'माधव विलास' नामक कथाकृति का भी उल्लेख किया है।

प्रेमसागर : 'प्रेमसागर' की रचना के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"संवत् १८६० में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक जॉन गिल क्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ीबोली गद्य में 'प्रेमसागर' लिखा, जिसमें भागवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गई है।"[2] कुछ लोगों का अनुमान है कि 'प्रेमसागर' भागवत के दशम स्कन्ध का अक्षरशः अनुवाद है। वास्तव में यह धारणा मिथ्या है। इसमें उस अध्याय की कथा को ही वर्णित किया गया है, परन्तु अनूदित नहीं। इसमें उसकी समस्त कथाएं आ गई हैं, जो शुकदेव ने राजा परीक्षित को सुनाई थी।

'प्रेमसागर' की भाषा पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

"···लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की-सी ब्रज-रंजित खड़ीबोली है। 'संमुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजौ' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ीबोली लिखी थी, वैसी ही खड़ीबोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अन्तर इतना ही है कि गंग ने इधर-उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द बचाए हैं। भाषा की सजावट भी 'प्रेमसागर' में पूरी है। विरामों पर तुकबन्दी के अतिरिक्त वर्णनों में वाक्य भी बड़े-बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्र-तत्र है। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह है कि लल्लूलालजी का काव्याभास गद्य भक्तों की कथा-वार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य।"[3]

'प्रेमसागर' लल्लूलालजी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध रचना है। इसकी रचना, उद्देश्य और विषय आदि के सम्बन्ध में भूमिका के रूप में लिखा गया है—"···ऐक समै व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को चतुरभुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया सो पाठशाला के लिए श्री महाराजधिराज सकलगुन निधान पुन्यवान महाज्ञानमार को इस वलिजली गवर्नर जनरल प्रतापीके राज में और श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिल किरिस्त महाशय की आज्ञा से—संवत् १८६० में श्री लल्लूलालजी कवि ने उसका सार ले—यामिनी भाषा छोड़—दिल्ली आगरा की खड़ीबोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।"[4]

१. 'माधवविलास' और 'सभाविलास' नामक ब्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रन्थ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे—आचार्य शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास), पृ० ४२१।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४१९।
३. वही, पृ० ४२०।
४. 'प्रेमसागर', संस्करण १८०३, भूमिका, पृ० २।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'प्रेमसागर' पूर्णत: 'श्रीमद्भागवत' पर आधारित है और कम-से-कम उसकी कथावस्तु और विषय आदि मे कोई नवीनता नहीं है।[1] वास्तव मे इस ग्रथ की महत्ता केवल भाषा की दृष्टि से ही है और इसी कारण से इसका महत्त्व भी ऐतिहासिक है।

माधो-विलास[2] इसकी रचना लल्लूलालजी ने सन् १८११ म की थी। इस ग्रन्थ की रचना उन्होने अपनी इच्छा से की थी, अन्य प्रणीत ग्रथो की भाँति फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियो की इच्छानुसार नही। इसीलिए इस ग्रंथ की चर्चा बहुत से ग्रथो मे नही मिलती। यो गार्सा द तासी,[3] ग्रियर्सन,[4] शिवसिंह सेंगर[5] तथा मिश्रबधुओ[6] ने इसका उल्लेख किया है।

लल्लूलालजी ने इसकी रचना-भाषा आदि के विषय मे लिखा है—"···श्री गुरदेव के चरण-कमल को ध्यान धर किया योग सार ग्रथ ते माधव सुलोचन की कथा निकारी श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वारे ने उचित युक्ति करि गद्य पद्य व्रजभाषा मे ग्रंथ बनाय माधव-सुलोचना की कथा यामे है यासो याको नाम माधव विलास राख्यौ अरु निज छापे घर मे छपवायो संवत् १८१४ आश्वन मास मे इति।"

इस रचना मे गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग किया गया है।

इसका प्रारम्भ एक प्रश्न और उत्तर से होता है। यह प्रश्नोत्तर अधिकाशत पद्य मे है। प्रारम्भ मे लेखक ने यह संवाद प्रस्तुत करने के पश्चात् मुख्य कथा वर्णित की है। कथा-संगठन के आधार पर यह ग्रथ 'रानी केतकी की कहानी' की

१ डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है—"खड़ीबोली हिन्दी गद्य साहित्य के विषय-विस्तार की दृष्टि से ही उसमें नवीनता का अभाव नहीं है, वरन् रोचकता की दृष्टि से भी उसका अच्छा स्वागत हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी के अत्यंत प्रतिभाशाली कर्मचारी मेजर स्लीमैन के मतानुसार 'Prem Sagar' is perhaps the most wearisome *book in the world* ' इसी प्रकार १८४६ के *'कलकत्ता रिव्यू'* में एक समीक्षक का उसके बारे में कहना है, ' ··the subject matter is a wearisome and endless repitition of the amours of Krishna.. "

२ 'माधव विलास'।

३. गार्सा द तासी ने इसका उल्लेख 'इस्त्वार द ला लितरेच्योर हिंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' में किया है।

४. ग्रियर्सन ने भी 'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में इसका उल्लेख किया है।

५. 'शिवसिंह सरोज'।

६. 'मिश्रबन्धु-विनोद'।

परम्परा में आता है।

नासिकेतोपाख्यान—'नासिकेतोपाख्यान' के रचयिता सदल मिश्र बिहार के निवासी थे। फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों की इच्छानुसार ही इन्होंने संस्कृत से 'नासिकेतोपाख्यान' का अनुवाद सन् १८०३ मे किया था।[1] इनकी भाषा इनके समकालीन अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक होने के कारण कलापूर्ण है। इस ग्रंथ मे चंद्रावली की कथा का वर्णन किया गया है।

जैसा कि स्पष्ट है, 'नासिकेतोपाख्यान' की कथा वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है। इस कथा के स्थूल रूप से दो भाग है जिन्हें एक क्षीण सूत्र से सम्बद्ध किया गया है। ये कथा-खंड नासिकेत के जन्म तथा उसके यमलोक-प्रयाण तक सीमित है। इनके बीच में एक सधि है, जिसका आधार उसका वन-प्रवास है। अलौकिक तथा चमत्कारिक तत्त्वों के योग से इसकी कथा मे रोचकता आ गई है और गठन की दृष्टि से वह सफल भी है।

गोरा-बादल की कथा—१८८१ मे जटमल लिखित 'गोरा बादल री बात' का खडीबोली मे अनुवाद हुआ। जटमल ने इसकी रचना सवत् १६२० में की थी। कुछ लोग इसका रचनाकाल १६२५ भी मानते है। परन्तु आचार्य शुक्ल ने ऊपर वाले मत की ही पुष्टि की है। उनका अनुमान है कि सवत् १८८१ में किसी ने इस ग्रंथ का खडीबोली में अनुवाद किया, जिसे जटमल ने राजस्थानी पद्यों में संवत् १६२० मे लिखा था।[2] कुछ लोगों ने इसकी अन्य प्रतियो का भी उल्लेख किया है।[3]

इसकी कथा का आधार एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। मुगल शासक अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। यहाँ के गोरा और बादल नामक दो वीरों ने अत्यन्त साहस से उसका सामना किया और अन्त मे वीरगति को प्राप्त हुए। इस ऐतिहासिक कथा मे काल्पनिक और चमत्कारिक तत्त्वो का अधिकता से समावेश हुआ है।

आलोच्य कृतियों में कथा-शिल्प के रूप : सिंहावलोकन

इस अध्याय में हमने उन कृतियों की चर्चा की है, जो मूल रूप से हिन्दी उपन्यास के प्रेरणा-स्रोत है। वास्तव में जिस आदि कथा-साहित्य और उसकी विविध विकसित धाराओं का प्रभाव परवर्ती विकास-युगों मे लक्षित होता है, उनमें उपर्युक्त ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यों तो इन सभी कृतियो का

१. सदल मिश्र द्वारा अनूदित 'नासिकेतोपाख्यान', सं० डॉ० श्यामसुन्दर-दास।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४२३।
३. दे० ना० प्र० प०, भाग २३ में ओझाजी का 'गोरा बादल की बात' शीर्षक लेख, पृ० ४०२।

महत्त्व या तो ऐतिहासिक दृष्टि से है या भाषा की दृष्टि से, साहित्यिकता तथा कलात्मकता की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि उपर्युक्त कथा-कृतियो ने कथा-परम्परा की कडी के रूप मे न केवल भावी कथा-साहित्य को भूमि दी, वरन् एक क्षीण सूत्र-रेखा से उसे सम्बद्ध भी किया। साथ ही, शिल्प की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण न होने पर भी उसने इस क्षेत्र मे भावी कथा-साहित्य को प्रभावित किया। इस कथा-साहित्य मे वस्तु-विषय तथा उसके निर्धारण की दृष्टि से जो विशेषताएँ पायी जाती है, उन्हे निष्कर्ष रूप मे यहाँ लिखा जा रहा है.

(क) **धार्मिक-पौराणिक** : इस वर्ग मे सर्वप्रथम वैदिककालीन साहित्य आता है। इसमे कथा-रचना का आधार सवादात्मक तत्त्व है। वास्तव मे तत्कालीन समय की धार्मिक आस्था और संस्कारजन्य मान्यताएँ ही इनमे मिलती है। इनकी रचना के पीछे धार्मिक प्रचार का उद्देश्य था। ये वैदिक मन्त्र तथा स्तुति आदि के परिवर्तित रूप थे। विषयवस्तु की दृष्टि से व्यावहारिकता से इनका कोई सम्बन्ध नही है। इनमें उपदेशात्मकता का स्वर मुखरित हो उठा है, क्योकि इनके पूर्व-रूपो अर्थात् सूत्रों की रचना विविध धार्मिक आचार्यों एवं उनके शिष्यो के बीच हुए वार्तालाप के आधार पर हुई थी। परवर्ती युग मे जब इन सूत्रो की व्याख्या की दिशा मे प्रयत्न करते हुए उन्हे पल्लवित करने की चेष्टा हुई, तब उनमे उपदेशात्मकता का तत्त्व भी समावेशित हो गया। संवादात्मक शैली मे लिखे गए इन आख्यानों के विषय कोई गूढ़ दार्शनिक तत्त्व नही है। रोचक शैली में लिखे गए ये आख्यान धार्मिक हे और इनमें विविध शंकाओं के समाधान और प्रश्नो के उत्तर के रूप मे अनेक तात्त्विक विषयो का उल्लेख किया गया है।

इस वर्ग मे परवर्ती युग की केवल दो कृतियो का उल्लेख किया जा सकता है—'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान'।

(ख) **नीति-प्रधान** . इस वर्ग मे अधिकाशत' बौद्ध-साहित्य की गणना की जा सकती है। परवर्ती युगों के कथा-साहित्य को बौद्ध-साहित्य ने रूप-विकास की दृष्टि से बहुत प्रभावित किया है। जैसा कि हम कह आये है, बौद्ध कथा-साहित्य संकेत, सवाद आदि रूपो मे लघु आकार लिये हुए मिलता है। जहाँ तक पारस्परिक क्रमबद्धता का प्रश्न है, उसके तारतम्य का निर्वाह प्रासगिक विषयों की कथाओं द्वारा हुआ है। परतु उद्गमकी दृष्टि सेपरम्परानुकूल होते हुएभी यह प्राचीन कथा-परम्परा मे नही आता, क्योकि विपयवस्तु की दृष्टि से इनका मूल वे ही कथाएँ होने पर भी शिल्प की दृष्टि से दोनों में विभिन्नता है। साथ ही, आकार में लघुता होने के कारण इनमे कथा का वह बिखराव नहीं देख पड़ता, जो पूर्ववर्ती भिन्न प्रवृत्तियों के कथा-साहित्य मे मिलता है।

जैसा कि अभी हमने कहा, मौलिक सूत्रता के कारण बौद्ध तथा अबौद्ध कथा-साहित्य एक ही परम्परा मे आते है। अवश्य आगे इनमे भिन्नता मिलती है, परन्तु प्रारम्भिक रूपों मे यह भेद नही पाया जाता, क्योंकि मूल रूप से इनकी

पृष्ठभूमि में कथा का एक सूत्र तत्व रूप में विद्यमान था। आगे चलकर उसे विविध स्थानों और सम्प्रदायों द्वारा विभिन्न रूपों में ग्रहण किया गया। फिर वे अपने सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित स्वरूप के अनुसार ही पहचानी जाने लगीं। उनका परवर्ती रूप उनके साम्प्रदायिक तत्त्वों के सन्दर्भ में मान्यता-प्राप्त हुआ।

जातक-कथा-साहित्य के अंतर्गत जितनी भी कथाएं आती हैं, उनमें शिल्प की दृष्टि से अलग विशेषताएँ मिलती हैं। प्रायः प्रत्येक जातक-कथा चार भागों में विभक्त होती है—प्रथम भाग 'पच्चुपन्न वत्थु', द्वितीय भाग 'अतीत वत्थु', तृतीय भाग 'अत्थ वण्णना' तथा चतुर्थ भाग 'समोधान'। पहले से वर्तमान कथा का संकेत होता है, अर्थात् बुद्ध के जीवन-काल की कोई घटना का, दूसरे से किसी प्रासंगिक परन्तु पूर्व-जन्म की घटना का, तीसरे से इन्हीं की व्याख्या और चौथे में स्पष्टीकरण के रूप में कोई कथन होता है।

'बृहत्कथा', 'बृहत्कथा श्लोक', 'बृहत्कथा मंजरी' और 'कथा-सरित्सागर' में कथा-वर्णन शैली विशिष्ट है। इनमें कथा-शिल्प की दृष्टि से जो विशेषताएँ मिलती हैं, उनमें सर्वप्रथम यह है कि इस युग के अन्य कथा-ग्रन्थों में अनावश्यक रूप से प्रासंगिक कथाएँ तथा विवरण भरकर जो बिखराव उत्पन्न कर दिया जाता था, उसका पूर्णतः अभाव है। इसी के फलस्वरूप इनमें कुछ अन्य विशेषताएँ भी आ गई हैं, जैसे कथा का सुसंगठित होना, कथा-चक्र का मूल सूत्र पर केन्द्रित रहना, क्योंकि मूल कथा पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ा। कथा की एकता, उसकी केन्द्रगतता, गठन आदि की दृष्टि से इन कथाओं का महत्त्व इस युग के कथा-साहित्य में विशिष्ट है।

इस युग के कथा-साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ बहुलता से मिलती हैं, उनमें एक यह है कि जो बृहत् कथाएँ उपलब्ध होती हैं, वे अनेक प्रकार की और विविध विषयों की असंख्य छोटी-छोटी कथाओं का संग्रह मात्र हैं। एकसूत्रता के तत्त्व इनमें बहुत क्षीण हैं, जिसके कारण उनका अभाव प्रतीत होता है। इस प्रवृत्ति को इस युग के कथा-साहित्य की सर्वप्रमुख शिल्पगत विशेषता कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि 'शुक सप्तति' आदि की कोटि में आने-वाली रचनाएँ भिन्न तत्त्वों के विद्यमान होने का आभास देती हैं, क्योंकि उनकी कथा में कथानक-तत्त्व की एकता की रक्षा की जा सकी है।

(ग) लोक-तत्व-प्रधान—'पंचतंत्र' की गणना भारत के प्राचीन लोक-कथा-साहित्य के अंतर्गत की जाती है। इसका शिल्प-रूप इसलिए भिन्न है क्योंकि इसकी रचना सोद्देश्य की गई और इसका अंत इस दृष्टि से निष्कर्षात्मक होना आवश्यक था। ठीक इसी उद्देश्य से 'हितोपदेश' की रचना भी की गई थी। हाँ, दोनों में प्रमुख भेद यह है कि जहाँ सभी जातकों के आरम्भ में वाराणसी में किसी ब्रह्मदत्त नाम के राजा के राज्य करने की बात अवश्य आती है, वहाँ इस प्रकार का कोई पूर्व-निर्धारित कथा-क्रम 'हितोपदेश' की कथाओं में नहीं मिलता, यद्यपि निष्कर्षात्मक अंत की दृष्टि से दोनों समान हैं।

(घ) **ऐतिहासिक**—इस युग की कथा-कृतियों में केवल 'गोरा बादल की कथा' ही एक ऐसी है, जिसकी कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है। इतिहास मे मुगल सम्राट् अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण एक प्रसिद्ध घटना है। उसके आक्रमण के समय चित्तौड़ के गोरा तथा बादल नाम के दो वीरो ने साहस के साथ उसका सामना किया और जन्मभूमि के गौरव की रक्षा के लिए अपने प्राणो का बलिदान कर दिया। इसी कथा को इस कृति मे ऐतिहासिक तथ्यो की पृष्ठ-भूमि लेकर प्रस्तुत किया गया है।

(ङ) **कल्पनात्मक**—इस युग की जिन कथा-कृतियों की कथावस्तु पूर्णतः कल्पनात्मक है, अथवा जिनमे कल्पना-तत्त्व का आधिक्य है, उनमे 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'बेताल पच्चीसी' आदि है।

'रानी केतकी की कहानी' का साहित्यिक दृष्टि से भले ही महत्त्व न हो, परन्तु परम्परागत विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से इसमे कुछ उल्लेखनीय तत्त्व मिलते है। वास्तव मे इस प्रारम्भिक युग के कथा-साहित्य मे, भले ही वह किसी भी रूप में उपलब्ध होता हो, कुछ परम्परागत कथा-तत्त्व स्पष्ट रूप से पाये जाते है। उदाहरण के लिए इस युग के जो अन्य गद्यकार थे, उन्होने रीति-कालीन विषय-परम्परा से प्रभावित होते हुए भी अपनी रचनाओ मे यथासम्भव उसकी छाप न आने दी। अधिकांशतः उन्होने परम्परागत धार्मिक विषयो पर लिखा है, और इस दृष्टि से यह व्यर्थ ही होगा कि उनकी रचनाओ मे किन्ही ऐसे तत्त्वो को ढूंढ़ने की चेष्टा की जाय, जिन्हे युग की प्रवृत्तियों की दृष्टि से नवीनतर कहा जाता है।

स्पष्ट है कि 'रानी केतकी की कहानी' का महत्त्व उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे सहसा बढ जाता है। हम पूर्व के अध्यायो मे यह कह आये है कि मध्यकालीन साहित्य पर जो प्राचीन युग के कथा-सूत्रों का प्रभाव किन्ही भी रूपों मे पडा था, उसके फलस्वरूप उसमे कई साहित्यिक धाराएं समानान्तर प्रवाहित हुई थी। इनमे से एक थी मध्यकालीन प्रेम-गाथा की परम्परा। मध्यकालीन युग मे एक विशिष्ट कथा-प्रवृत्ति के रूप मे इसे स्वीकार किया जाता है और इस दृष्टि से इसका महत्त्व सर्वमान्य है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि आधुनिक युग तक आते-आते उसका क्रम जो टूट जाता है, तो वह फिर कही किसी साहित्यिक धारा से सम्बद्ध होता नही दिखाई देता।

आधुनिक युग मे उसे अवश्य फिर उसी परम्परा से सम्बद्ध होकर विकास को प्राप्त होना चाहिए था। परन्तु लेखको की इस ओर से उदासीनता या अन्य किन्ही कारणों से ऐसा नहीं हुआ लगता। इस प्रारम्भिक युग में भी, जब गद्य की भाषा धीरे-धीरे सुनिश्चित-सी हो रही थी, लेखको ने इस ओर ध्यान न देकर धार्मिक विषयो से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य का ही प्रणयन किया, यह आश्चर्य की ही बात है। ऐसी स्थिति मे भी यदि कोई धार्मिक उद्देश्य से अलग लौकिक शृंगारिक भावना को ही आधार बनाकर इस प्रकार की किसी प्रेम-कथा का

सृजन करे, तो यह साधारण बात नहीं कही जानी चाहिए, क्योंकि सृजनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से इस प्रकार का प्रवृत्ति विद्रोह असामान्य कार्य ही माना जाना चाहिए।

अब आधुनिक कथा-साहित्य मे प्रवृत्ति-प्रवर्तन की दृष्टि से इसका महत्त्व देखना चाहिए। जैसा कि इसकी कथा से स्पष्ट है, इसमे अस्वाभाविक, अलौकिक और चमत्कारिक तत्त्वो का समावेश भी है। मूल रूप से इस प्रकार के तत्त्वों का प्रवेश प्रासंगिक रूप से किया गया है तथा इनके समावेश का एकमात्र उद्देश्य कथा को मनोरंजक बनाना है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि यदि इसमें इनका समावेश न होता, तो शायद इसका वह रूप और महत्त्व न रह जाता, जो आज है।

ऊपर के विवरण से जो निष्कर्ष निकलते है, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. इस कथा-कृति मे परम्परागत कथा-सूत्र अवशिष्ट रूप मे विद्यमान है।
२. यह प्रेम-कथा-परम्परा मे आनेवाली इस युग की सर्वप्रथम कथा-कृति है।
३. यह शुद्ध शृंगारिक पक्ष के लौकिक आधार को लेकर लिखी गई है, जिसके पीछे कोई धार्मिक उद्देश्य नहीं।
४. यह परवर्ती युगो में चमत्कारिक कथा-तत्त्वों की प्रवर्तक कृति है।
५. इस युग की यह ऐसी कथा-कृति है, जिसका प्रारंभ और अन्त पद्य से होता है।

ध्यान देने की बात यह है कि आगे चलकर इसी परम्परा के प्रभावस्वरूप भारतेन्दुयुगीन उपन्यास में भी ऐसे अनेक पद्य मिलते है, जिनसे उनका प्रत्येक अध्याय प्रारम्भ होता है।

परन्तु 'रानी केतकी की कहानी' के कथा-रूप का प्रभाव आगे चलकर सीधे भारतेन्दु-युग मे ही उपन्यासों मे दिखाई देता है, यह भी कहना उचित नहीं है। वास्तव मे इसी युग मे आगे चलकर 'माधव-विलास' में उसके कथा-रूप का प्रभाव मिलता है। यो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस कथा की रचना द्वारा कथाकार ने सर्वप्रचलित धार्मिक साहित्य की प्रवृत्ति से अलग कोई रचना करने का सर्वप्रथम प्रयास किया था।

लल्लूलाल कृत 'माधव-विलास' भी विषयवस्तु में कल्पनात्मकता की दृष्टि से इस युग की एक उल्लेखनीय रचना है। इसमें जो मूल कथा के सामान्य तत्त्व है, उन पर स्वभावतः ही युगीन प्रवृत्तियों की छाया दृष्टिगोचर होती है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस कृति में इन सामान्य बातों से अलग भी बहुत कुछ है। और वह यह है कि अब तक इस युग की जिन कथा-कृतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें मूल-तत्त्व तो अवश्य विद्यमान है, और एक दृष्टि से उनके एकमात्र ऐतिहासिक महत्त्व का यही कारण भी है, परन्तु जहाँ तक अन्य कथा-

तत्त्वो के समावेशित होने का प्रश्न है, यह कहना अनुचित न होगा कि उनका उसमे पूर्ण अभाव है। यदि कुछ विद्वान् इसी दृष्टिकोण को अपने अध्ययन का आधार बनाकर इन कथा-कृतियों की उपेक्षा करते है, तो वे भी इसी अभाव को सर्वप्रथम ध्यान मे रखते है। परन्तु जब कथा-शिल्प के क्रमिक विकास के अध्ययन के दृष्टिकोण से किसी कृति पर विचार किया जाता है, तब स्वभावत' ही कुछ ऐसी बाते सामने आती है, जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

इसकी कथा मे मध्ययुगीन काव्य-परम्परा की प्रेम-गाथाओ का प्रभाव है। एकरूपता की दृष्टि से यह मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' के निकट है। इसी प्रकार उपसहार उपदेशात्मक हो गया है, जिसमे यह कहा गया है कि जो कोई इस कथा का पारायण करेगा, वह कभी भी किसी से धोखा नही उठाएगा और साथ ही उसे अपने गार्हस्थ्य जीवन मे भी सुख मिलेगा।

प्राचीन कथा-साहित्य का शिल्प की दृष्टि से अध्ययन करते समय यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इस युग की शिल्पगत विशेषताओ को विशिष्ट कृतियों के संदर्भ में देखना तो ठीक है, परन्तु प्रवृत्तिगत रचना-विकास की दृष्टि से नही। इसका कारण यह है कि एक तो इस युग के अनेक कथा-ग्रथो की रचना तिथि के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है और दूसरे प्रक्षिप्त अशो के विषय में भी उनमे मतैक्य नही है। यों इस रचनाकाल तथा प्रक्षिप्त अंशों की प्रामाणिकता के विवाद से हमारे विषय का विशेष सम्बन्ध नही है, परन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि यदि इस विषय मे, इनमे रचना-काल सम्बन्धी वैभिन्न्य है, तो यह मान लेना उचित न होगा कि इनमे पायी जानेवाली विशेषताएँ भी किसी एक काल की ही है। वास्तव में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि प्राचीन कथा-साहित्य ने परवर्ती युगों के साहित्य को प्रभावित किया, परन्तु इसके साथ ही साथ, कथा शिल्प का विकास, प्रत्येक नवीन युग मे, उसके समानान्तर ही, स्वतन्त्र रूप से भी हुआ है।

हिन्दी का प्रथम उपन्यास

डॉ० उषा पाण्डेय

उपन्यास को सम-सामयिक युग के बहुविध यथार्थ को व्यक्त करने मे सर्वाधिक समर्थ काव्य-विधा माना गया है। हिन्दी मे इस काव्य-रूप का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नही है। अपनी दुःख-सुखात्मक भावनाओं को कथा-कहानियों से वाणी देने की सामान्य मानव-प्रवृत्ति भारत में भी विद्यमान रही है। संस्कृत की 'पचतंत्र', 'कथा सरित्सागर', 'कादम्बरी' की समृद्ध परम्परा और हिन्दी मे प्रेमाख्यान, वीरगाथाओं, नानी की कहानियो की लिखित और अलिखित शृंखला लोकरजन, दुःख-सुख-कथन और उपदेश की वृत्ति से अनुप्रेरित ही है। परन्तु गद्य के समुचित रूप के अभाव मे ये कहानियाँ पद्य-बद्ध रूप में ही मिलती है। अतः तर्कशील आलोचक भले ही इन्हें उपन्यास की शृंखला से सम्बद्ध करने का आग्रह करे, परन्तु इनका प्रेममूलक दृष्टिकोण, अमानुषिक और दैवी प्रसगों का समावेश और सबसे अधिक पद्यात्मकता उपन्यास से भिन्नता स्पष्ट कर देती है। आचार्य द्विवेदी ने इन्हें उपन्यास जातीय मानते हुए भी आधुनिक वैयक्तितावादी दृष्टिकोण को रूपायित करने वाले उपन्यास से भिन्न माना है।[1] हिन्दी का उपन्यास शब्द, संस्कृत से उद्भूत होते हुए भी, व्युत्पत्तिमूलक अर्थ (किसी तथ्य को युक्तियुक्त रूप मे प्रस्तुत करना) अथवा संस्कृत नाट्यशास्त्र मे प्रयुक्त प्रतिमुख सधि के उपभेद 'उपन्यास' का बोधक न होकर अगरेजी 'नावेल' शब्द का पर्याय अथवा समानधर्मी है।

विभिन्न अंगरेजी विद्वानों की परिभाषाओं के अनुसार 'नावेल' शब्द काल्पनिक गद्यकथा मात्र न होकर नवीनता का बोधक, मानव जीवन का गद्य व्यक्तित्व की समग्र अभिव्यक्ति मे प्रयत्नशील यथार्थपरक कला-रूप है।[2] अन्यत्र इसी विद्वान ने 'नावेल' को आधुनिक बुर्जुआ वर्ग का महाकाव्यात्मक काव्य रूप भी

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ४१३।

२. The novel is not merely fictional prose, it is the prose of the man's life, the first attempt to take the whole man and give him expression."

—राल्फ फॉक्स 'द नावेल एण्ड द पीपुल', पृष्ठ ६२।

कहा है।[1] वाल्टर एलेन्स उपन्यास को परिभाषातीत मान अपनी अशक्यता स्वीकार करते हुए भी इसे जनता से सम्बन्धित कहते है।[2] भारतीय विद्वानों मे आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इसे काल्पनिक गद्य-कथा की संज्ञा दी, प्रेमचन्द ने उपन्यास मे यथार्थपरक पक्ष को प्रधानता देते हुए इसे जीवन का चित्र माना है। डॉ० गोपाल राय ने उपन्यास की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन के पश्चात निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि उपन्यास पर्याप्त लम्बाई मे लिखित वह गद्य-कथा है जो पाठक को लेखक द्वारा सृष्ट नवीन काल्पनिक परन्तु यथार्थ संसार मे ले जाती है। साहित्य का अन्य मौखिक कविता वर्णन दृष्टान्त तथ्य मन: कल्पना, तथ्य सूत्र या उपदेशाख्यान उपन्यास नही है। इसी स्थान पर उन्होने उपन्यास को समयानुक्रम मे बद्ध भी माना।

उपन्यास की पूर्व-कथित परिभाषाओ के आधार पर उसके स्वरूप विवेचन और मूल्यांकन के लिए निकष प्रस्तुत हो सकता है। स्पष्टत. उपन्यास ऐसा गद्य ~~काव्य~~ रूप है, जिसमे समयानुक्रम बद्ध कथा, लेखक की कल्पना की सृष्टि होते हुए भी विश्वसनीय और यथार्थ घटनाएं और पात्र, विशिष्ट देशकाल, चरित्रो और कथा को गति देने वाले रोचक संवाद, आधुनिक वैयक्तिततावादी दृष्टिकोण और सम्पूर्ण पाश्चात्य शिल्प की योजना हो। इस रूप मे उपन्यास अंगरेजी फिक्शन (Fiction) और नावेल (नवीनता) दोनो के अर्थों को अतर्भूत किए हुए है।

प्रस्तुत अर्थ मे उपन्यास शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नही है, उपन्यास के शोधकर्ताओं ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। भारतीय भाषाओ मे गद्यबद्ध कथा के रूप में उपन्यास का सर्वप्रथम प्रयोग बँगला की भूदेव की पुस्तक के लिए हुआ। डॉ० कैलाशप्रकाश ने 'नव बाबू विलास' से बँगला उपन्यास का आरम्भ मानते हुए 'आलालेर घरेर दुलाल' को बँगला का प्रथम उपन्यास माना। हिन्दी में बँगला उपन्यासो के अनुवादो की परम्परा के साथ ही 'नावेल' के पर्याय रूप मे उपन्यास शब्द का प्रयोग हुआ होगा। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' के मतानुसार सन् १८७१ में सर्वप्रथम मनोहर उपन्यास (लेखक ?) के लिए उपन्यास का शब्द आधुनिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ। हिन्दी का पहला उपन्यास कौन-सा है, इस विषय को आचार्य शुक्ल, डॉ० वार्ष्णेय, डॉ० श्रीकृष्णलाल ने, सम्भवत: विवाद से बचने के कारण, अधिक स्पष्ट नही किया है। उपन्यास साहित्य के शोधकर्ताओ ने ऐतिहासिक कालक्रम को प्राथमिकता देते, अथवा युगीन यथार्थ शिल्पगत सजगता आदि तत्त्वो का हवाला देते हुए 'रानी केतकी की कहानी' से 'नि.सहाय हिन्दू' तक के कालक्रम के विभिन्न उपन्यासो को मौलिकता और प्रथम प्रयोग की गरिमा देने का प्रयास किया। उनके तर्को की सशक्तता, अपने निर्णय को सर्वमान्य सिद्ध करने के आग्रह से इस समस्या का समाधान और भी जटिल

१. राल्स फॉक्स— 'द नावेल एण्ड द पीपुल', पृष्ठ ६२।
२. वाल्टर एलेन्स—'हेन्डिग ए नावेल', पृष्ठ १५।

हो गया। इन विद्वानों के उपन्यास सम्बन्धी तर्कों को दृष्टिपथ मे रखते हुए ही इस संदर्भ में कोई सुझाव प्रस्तुत किया जा सकता है।

ऐतिहासिक कालक्रम और कथा की दृष्टि से इन्शाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी के प्रथम उपन्यास के लिए प्रस्तावित पहली रचना है।[1] हिन्दी गद्य की प्रथम कथात्मक कृति होने के कारण विभिन्न आलोचकों द्वारा प्रथम उपन्यास और प्रथम कहानी की संज्ञा मिली। परन्तु, स्पष्टतः गद्य माध्यम तथा पर्याप्त लम्बाई की कथात्मक कृति होने पर भी 'रानी केतकी की कहानी' मे कृत्रिम भाषा मे जिस काल्पनिक संसार और अति-मानवीय पात्रो की सयोजना हुई वे उपन्यास के लिए अपेक्षित विश्वसनीय यथार्थ पर प्रश्नचिह्न लगा देते है। इन्ही कारणो से डॉ० गोपालराय इसे उपन्यास मानने को सहमत नही है।[2] 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तको के समान 'रानी केतकी की कहानी' मे कथा-शिल्प है।[1] 'देवरानी जिठानी की कहानी' (गौरीदत्त तिवारी १८७० ई०) को भी इस दृष्टि से विवेच्य माना गया है। आलोचको ने इसमे उपन्यास की कतिपय विशेषताओ—कथा में आए व्यक्तियो और नामों का विशिष्ट होना, तत्कालीन जीवन (वैश्य परिवार) का सास्कृतिक और यथार्थ चित्र तदनुरूप अकृत्रिम भाषा को—लक्ष्य किया है। परन्तु, औपन्यासिक शिल्प—नाटकीय पद्धति पर कार्यों की योजना—के अभाव मे डॉ० गोपालराय ने इसे भी उपन्यास की संज्ञा नही दी।[3] 'वामा-शिक्षक' (मुंशी ईश्वरीप्रसाद कृत) भी विद्वानों द्वारा उपदेशाख्यान की श्रेणी मे वर्गीकृत हुई। इस कालखण्ड में अनूदित उपन्यासों की अनवरत परम्परा मे मौलिकता का निर्णय दुस्तर हो गया। इसी भ्रान्ति मे भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' को उनके द्वारा लिखा मान हिन्दी का प्रथम उपन्यास घोषित कर दिया गया। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने इसे गुजराती और डॉ० वार्ष्णेय ने मराठी से अनूदित बताया है।[4]

भारतेन्दु की एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' तथा अपूर्ण 'मालती' उपन्यास के आधार पर यह सभावना की गई है कि यदि वे कुछ दिन और जीवित रहते तो उपन्यास की परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हे मिल सकता था।[5] भारतेन्दु ने उपन्यास काव्य विधा से पूर्ण परिचित होते हुए भी 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' को कहानी ही कहा है। डॉ० कैलाशप्रकाश ने इस

१. शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ६१।
   नलिन विलोचन शर्मा, 'दृष्टिकोण' (हिन्दी उपन्यास आरम्भिक काल)।
२. डॉ० गोपालराय, 'हिन्दी कथा साहित्य और पाठकों की रुचि', पृष्ठ २१५।
३. वही।
४. डॉ० वार्ष्णेय, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ २०१-२१६।
५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ४१५।
   डॉ० कैलाश प्रकाश, 'प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास', पृ० ८७।

अपूर्ण कृति को उपन्यासकला की दृष्टि से पूर्ण माना और विजयशंकर भल्ला ने भी उपन्यास की संज्ञा देते हुए 'परीक्षा-गुरु' की सांकेतिक भूमिका कहा। भारतेन्दु को, उपन्यास-लेखन की उनकी क्षमता को स्वीकार करते हुए भी इस अपूर्ण कृति के आधार पर, हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार की संज्ञा देना समीचीन नहीं होगा। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने शोध-प्रबन्ध में राधाकृष्णदास और ब्रजरत्नदास की भारतेन्दु के उपन्यासकार रूप की संभावनाओं का उल्लेख करते हुए भी शैली के आधार पर प्रस्तुत कृति (कुछ आप बीती कुछ जग बीती) को संस्मरण कहा है।[1] उनके द्वारा उपन्यास-कला में योग देने वाले उपन्यासकारों में श्रीनिवासदास की गणना की गई है। किशोरीलाल गोस्वामी को महत्त्व देते हुए भी प्रथम उपन्यासकार संबंधी स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने भी संभवतः अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'[2] की समय-सीमा १९००-२५ से पूर्व की समस्या होने के कारण गूढता से विचार किए बिना ही तिलस्मी उपन्यासों को साहित्यिक उपन्यासों का प्रथम रूप स्वीकार कर लिया—"हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकीनंदन खत्री का 'चन्द्रकांता' है जो सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ", परन्तु 'श्रीनिवास ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने 'परीक्षा-गुरु' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास कहा है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में गद्य साहित्य के संकोच और विस्तार के अनुरूप ही प्रथम उत्थान में सभी काव्य-विधाओं का मिश्रित विवरण और द्वितीय उत्थान में पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत उल्लेख मिलता है। प्रथम उत्थान के साहित्यिक परिचय में श्रीनिवासदास के सम्पूर्ण कृतित्व के संदर्भ में 'परीक्षा-गुरु' का उल्लेख शिक्षाप्रद उपन्यास के रूप में किया, अन्यत्र इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास बताया।[3] प्रथम उत्थान के पूर्व ही श्रद्धाराम फुल्लौरी की हिन्दी सेवा का विवेचन करते हुए 'भाग्यवती' को सामाजिक उपन्यास की संज्ञा दी। द्वितीय उत्थान के उपन्यासकारों के विवेचन में उन्होंने लोकप्रियता की दृष्टि से द्वितीय उत्थान में देवकीनन्दन को प्रथम और परिमाण और कलात्मकता के दृष्टिकोण से किशोरीलाल गोस्वामी को द्वितीय माना।[4] इस कथन में अन्तर्विरोध नहीं है, चाहे आलोचकों को भ्रान्ति हो।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् प्रथम उपन्यास के स्थान के लिए तीन प्रमुख कृतियां ही शेष रहती हैं—श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती' राधाकृष्णदास रचित 'निस्सहाय हिन्दू' और श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा-गुरु'। इन उपन्यासों का सम्यक् मूल्यांकन दो आधार-बिन्दुओं के अनुसार किया जा सकता है—

ऐतिहासिक कालक्रम

१. डा० वार्ष्णेय, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० २०३।

२. डा० श्रीकृष्णलाल, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० २७५, २७७।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४४६, ४७३।

४. वही, पृ० ४९९।

औपन्यासिक शिल्प (अंग्रेजी)

श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती', रचनाकाल (शुक्ल जी के अनुसार) १८९१ :

कथानक—इसकी कथा मे सामाजिक आदर्शों और शिक्षा की प्रवृत्ति की प्रधानता है। भूमिका मे लेखक ने स्वीकार किया है कि कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों को व्यावहारिक ज्ञान तथा गृहस्थी की शिक्षा देने की दृष्टि से ही उसने प्रस्तुत उपन्यास की रचना की। कथा सीधी और रोचक है। नायिका भाग्यवती काशी नगर के पं० उमादत्त की समस्त गुणो से अलंकृत पुत्री है। विवाहोपरान्त अपने गुणों से घर और बाहर आदर की पात्र बनती है। परिस्थितियो की विषमता के कारण पति मनोहरलाल उससे विमुख होकर गृह से निष्कासित करता है। साधन-हीना भाग्यवती अपनी योग्यता से जीवन-निर्वाह का प्रयास करती है। अन्त में भ्रम टूटने पर पति द्वारा उसका पुन: समादर होता है और एक पुत्री की माता होने के साथ ही उसके जीवन मे सुख-समृद्धि की व्याप्ति होती है।

उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से 'भाग्यवती' मे वैशिष्ट्य नहीं है। गतिहीन, वैचित्र्य और कुतूहल से रहित कथा की पौराणिक कहानियों के समान सुखान्त परिणति होती है। भाग्यवती ही प्रमुख चरित्र है, जिसकी अतिशय आदर्शमयता मे किसी प्रकार के उतार-चढाव का अवकाश नही है। लेखक ने सायास उसे भारतीय नारी के आदर्शों से समन्वित रूप दिया है। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भाग्यवती के विवाह के प्रसंग मे बाल-विवाह की युग-व्यापी समस्या को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत कृति की भाषा सरल और दैनिक व्यवहार की है। डॉ० सुरेश सिन्हा ने इसे प्रथम उपन्यास होने का गौरव देते हुए बडी प्रांजल, गरिमायुक्त भाषा मे इसकी विशेषताओं का निर्देश किया है—"'भाग्यवती' शिल्प की दृष्टि से प्रौढ रचना है। रचनाकार के कलात्मक कौशल ने पराजित पीढ़ी के घृणास्पद एवं दमघुटने वाले वातावरण में आशा और विश्वास का संचार करने का प्रयास किया है। भाग्यवती आदर्श का भावनात्मक चित्र नही, जीवन का यथार्थ है। 'भाग्यवती' निर्विवाद रूप से हिन्दी का पहला मौलिक एवं आधुनिक उपन्यास है।"[1] वस्तुतः 'भाग्यवती' एक सुखान्त पारिवारिक कथा है जिसके विधान से भासित होता है कि यह मौखिक कथा-परम्परा का ही विकसित और परिवर्धित रूप है। उदात्त आलोचना भी इसे अन-अपेक्षित गरिमा देने में असमर्थ है। डॉ० सत्यपाल चुघ ने इसमे उपन्यास-शिल्प की असावधानी और उसके ऐसे बीज लक्षित किए जिनका विकास नहीं हो सका।[2] डॉ० गोपालराय के अनुसार 'भाग्यवती' को 'देवरानी जिठानी', 'वामा शिक्षक' के साथ एक वर्ग मे रखकर इन पुस्तकों को उपन्यास के निकट उपदेशाख्यानक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है, विशुद्ध उपन्यास की

१. डॉ० सुरेश सिन्हा, 'हिन्दी उपन्यास : उद्‌भव और विकास', पृष्ठ ५१।
२ "यह रचना संस्कृत की नीतिकथा और तत्कालीन निबन्ध का मिला-जुला रूप बनकर रह गई है।" डा० चुघ, 'हिन्दी वार्षिकी', १९६० (भाग्यवती), पृष्ठ ९९।

नहीं।

राधाकृष्णदासकृत 'निःसहाय हिन्दू' (१८८१ में लिखित)

शुक्लजी ने राधाकृष्णदास का उल्लेख बँगला उपन्यासों के अनुवादक और एक छोटे उपन्यास के रचयिता के रूप मे किया है। बँगला उपन्यासो का अनुवाद करते रहने के कारण राधाकृष्णदास बँगला के माध्यम से उपन्यास-कला के जानकार बने थे।

'निःसहाय हिन्दू' की कथा गोवध की समस्या मे केन्द्रित है। लेखक ने एक मुसलमान पात्र द्वारा गोवध के निवारण के लिए प्राणोत्सर्ग कराके कृति को साम्प्रदायिकता से बचा लिया है। उसने तत्कालीन जीवन के अन्य पक्षों—बनियो का दीन जीवन, काशी मे गुडों की प्रबलता, घूसखोरी और दलालो की कुटिलता का भी वर्णनात्मक शैली मे चित्रण किया है। डॉ० गोपालराय के अनुसार यह कृति अपनी शिल्पगत नवीनता के कारण प्रथम उपन्यास के लिए विवेच्य 'परीक्षा गुरु' आदि से श्रेष्ठ है। इसमे वस्तु-शिल्प की सजगता, युगपत सक्रमण (साइमल-टेनियस प्रोग्रेशन), नाटकीय पद्धति पर घटनाओं के चित्रण आदि विशेषताओं को इंगित करते हुए वे उपन्यास की दृष्टि से सफल मानते है—"इस प्रकार विषय, शिल्प और भाषा सभी दृष्टियों से 'निस्सहाय हिन्दू' हिन्दी का पहला विशुद्ध उपन्यास है। कथानक, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अनेक दोष और न्यूनताएँ इस उपन्यास मे है। इसे उत्तम कोटि का उपन्यास नही कहा जा सकता परन्तु यह उपन्यास अवश्य है, यही इसकी सबसे बडी उपलब्धि है।'[२]

'परीक्षागुरु' (प्रकाशन तिथि १८८२)

'परीक्षा-गुरु' श्रीनिवासदास लिखित उपन्यास है, जिसका प्रथम सस्करण १८८२ से ८४ और द्वितीय १८८७ माना गया है। लेखक ने इसे स्वयं नवीन और अंग्रेजी ढंग का नावेल कहा है। रचनाकार ने किस्से-कहानियो की परम्परागत पद्धति 'एक था राजा' का बहिष्कार कर कथा का आरभ मध्य से किया है और बाद को पात्र-परिचय दिया। उपन्यास की कथा दिल्ली के एक रईस मदनमोहन के जीवन के उतार-चढाव को प्रस्तुत करती है। कथा की नवीनता के विषय मे शिवनारायण श्रीवास्तव का मत है—"चिर-परिचित रीतिबद्ध सरिता के पार भी कुछ है इसकी ओर इन्होने ही सकेत किया।"[३] स्पष्ट है कि इसकी कथा प्रणय और विलास के चटुल रगो मे न उलझकर जीवन के गभीर पक्ष का चित्राकन करती है। जीवन के यथार्थ पर आधृत कथानक मे अतिमानवीय व्यापार, चमत्कार पूर्ण घटनाएँ, चौकानेवाले प्रसग न होकर एक धनी व्यक्ति के जीवन का

१. डॉ० गोपालराय, 'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव', पृष्ठ २१८।
२. डॉ० गोपालराय, 'हिन्दी कथा-साहित्य और पाठकों की रुचि', पृष्ठ २२०।
३. शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ६३।

समयानुक्रम से चित्रण हुआ है। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से विमोहित मदनमोहन की चाटुकार मित्रों के परामर्श से जो दुखान्त परिणति होती है, वह दैनिक जीवन में घटित होने वाली कथा है। कथा को यह यथार्थपरक रूप देकर लेखक आदर्श की संयोजना कर पथभ्रष्ट मदनमोहन को सजग करता है। सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की सहायता और पतिप्राणा सुशीला के प्रयास से मदनमोहन इस परीक्षा में सफल होता है। मोहभंग के पश्चात मदनमोहन जीवन की इस परीक्षा को ही गुरु कहता है।

उपन्यास के चरित्र मानवीय धरातल पर ही चित्रित हुए हैं। मदनमोहन, चुन्नीलाल, शंभुदयाल का यथार्थपरक रूप और ब्रजकिशोर तथा सुशीला के आदर्श चरित्र इस लोक में ही मिल जाते हैं। यह मानना पड़ेगा कि सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा उद्देश्य होने के कारण चरित्र-चित्रण निरपेक्ष नहीं रहा है। उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से 'परीक्षागुरु' में नाटकीय पद्धति, परिच्छेदों में कथा का सुविभाजन, दैनिक व्यवहार की भाषा आदि विशेषताएँ विद्यमान हैं। उपदेश की प्रवृत्ति के कारण कथा का प्रवाह अविच्छिन्न नहीं रहा है, रोचकता भी न्यून हो गई। परन्तु अंग्रेजी उपन्यास-शिल्प संबंधी प्रथम प्रयोग मानकर समीक्षकों ने इन दोषों को उपेक्षणीय माना और हिन्दी के प्रथम उपन्यास की संज्ञा दी। आचार्य शुक्ल ने श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को ही अंग्रेजी ढंग का प्रथम उपन्यास माना, राधाकृष्णदास के 'निःसहाय हिन्दू' को परवर्ती कृति माना।[1] शिवनारायण श्रीवास्तव भी इसे प्रथम औपन्यासिक कृति की संज्ञा देते हुए उपन्यास वाङ्मय के पथ-निर्देश का श्रेय देते हैं।[2] डॉ० कैलाश ने भारतेन्दु की उपन्यासकार की संभावनाओं और क्षमता को स्पष्ट करते हुए भी 'परीक्षा-गुरु' को ही प्रथम मौलिकतापूर्ण उपन्यास माना।[3] ब्रजरत्नदास ने भी 'परीक्षा-गुरु' के शिल्प पर अंग्रेजी के प्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार कर पाश्चात्य ढंग पर लिखा पहला मौलिक उपन्यास कहा है।[4] डॉ० कोतभिरे, डॉ० त्रिभुवनसिंह, डॉ० प्रतापनारायण टंडन, डॉ० रणवीर राग्रा आदि उपन्यास-साहित्य के शोध-विशेषज्ञों ने 'परीक्षा-गुरु' को ही प्रथम उपन्यास माना है। 'निःसहाय हिन्दू' को प्रथम उपन्यास रूप में घोषित करने वाले डॉ० गोपालराय ने भी 'परीक्षा-गुरु' की शिल्पगत नवीनता को स्वीकार किया है।[5]

"इस विवेचन के पश्चात सुस्पष्ट हो जाता है कि 'परीक्षा-गुरु' ही हिन्दी का

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४५५।
२. शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ६३।
३. डा० कैलाशप्रकाश, 'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ ६७।
४. डा० ब्रजरत्नदास, 'हिन्दी उपन्यास साहित्य', पृष्ठ १३२।
५. डा० गोपालराय, 'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव', पृष्ठ २२३।

पाश्चात्य ढग (नावेल के अर्थ मे) पर लिखा स प्रथम उपन्यास है। इस क्षेत्र की सर्वप्रथम रचना होने के कारण लेखक के समक्ष हिन्दी मे रचना-शिल्प का कोई आदर्श नही था। अंग्रेजी साहित्य को दृष्टि मे रखकर लिखी इस औपन्यासिक कृति मे कलागत न्यूनताएँ हो सकती है। भारतेन्दु-युग की साहित्य की सोद्देश्यता की प्रवृत्ति के कारण इसमे उपदेश और आदर्शवाद प्रधान हो गया है। परन्तु इस सदर्भ मे 'परीक्षा-गुरु' की कलात्मकता का विवेचन इष्ट नही है। 'परीक्षा-गुरु' पाश्चात्य 'नावेल' की पद्धति पर लिखा हुआ हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास है। औपन्यासिक गुण अनुपात 'नि'सहाय हिन्दू' मे अधिक हो सकते है परन्तु 'परीक्षा-गुरु' का प्रकाशन पहले हुआ। अत' हिन्दी का प्रथम उपन्यास न तो देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'अमृत-चरित्र' (अप्रकाशित और अप्राप्य) को कहा जा सकता है, न 'परीक्षा-गुरु' के पश्चात प्रकाशित 'नि सहाय हिन्दू' को। जब तक शोधकार्य द्वारा अन्य कोई ग्रथ प्रकाश मे नही आता, अंग्रेजी ढग पर लिखे हिन्दीके प्रथम उपन्यास होने का गौरव 'परीक्षा-गुरु' को ही उपलब्ध रहेगा।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य की मर्यादा सन् १८७७ से १९१८ ई० तक मान्य हो सकती है। सन् १८७७ ई० में श्रद्धाराम फल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा था, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी।[1] अंग्रेजी ढग का मौलिक उपन्यास चाहे यह न हो किन्तु विषयवस्तु की नवीनता की दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास अवश्य कहा जा सकता है। इसके पूर्व के सदानन्द मिश्र और शम्भुनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित जिस 'मनोहर उपन्यास'[2] (सन् १८७१) का उल्लेख डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने किया है, वह एक तो सम्पादकों द्वारा सगृहीत और संशोधित होने के कारण निश्चय ही मौलिक नहीं है, दूसरे उसकी कथावस्तु के विषय मे कोई जानकारी न होने के कारण उसकी आधुनिकता भी विवादास्पद है। सन् १९१८ मे प्रेमचन्द का 'सेवासदन' उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी उपन्यासो के विकासक्रम में निश्चित रूप से नए युग के सूत्रपात का द्योतक है। अत: प्रेमचन्द-पूर्व युग के अन्तर्गत सन् १८७७ ई० से १९१८ ई० तक के प्रकाशित उपन्यासो का अध्ययन ही समीचीन होगा।

आज 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी 'नावेल' के अर्थ मे रूढ़ हो गया है। 'नावेल' के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग बँगला साहित्य मे प्यारीचन्द मित्र उर्फ टेकचन्द ठाकुर (सन् १८१४-८३) के 'आलालेर घरेर दुलाल' के प्रकाशनकाल (सन् १८५८) से होने लगा था। हिन्दी मे 'नावेल' शब्द के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग बँगला के अनुकरण पर ही प्रचलित हुआ। नवम्बर, सन् १८७५ मे 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' मे 'नाटकोपन्यास' पाक्षिक पुस्तिका का विज्ञापन निकला था, जिसमें 'नावेल' के लिए 'उपन्यास' शब्द का स्पष्ट प्रयोग था।[3] उपन्यास का शाब्दिक अर्थ

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४६।

२. 'हिन्दी पुस्तक साहित्य', डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६।

३. "हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का पूर्णरूप से अभाव है। विशेष करके अंग्रेजी और बंगभाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत कम प्रकाशित हुए हैं, और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वागत से भी हमारे देश के बांधवगण वंचित है। इस हेतु विचार किया गया है कि एक मासिक

वागारम्भ (कथन), नियोजन, निर्देश, सकेत, घोषणा, धरोहर, प्रसादन आदि होता है। इन अर्थों से उसके आधुनिक अभिप्राय की सगति नही बैठती। बगला मे अग्रेजी के 'रोमास' के लिए उपन्यास शब्द प्रयुक्त होता था। प्राचीन कथा साहित्य को 'उपकथा' या 'उपाख्यान' कहते थे। सम्भवत 'उपाख्यान' का 'उपसर्ग' 'उप' और 'रमन्यास' के 'न्यास' के आकस्मिक सयोग से उपन्यास शब्द बना और वह अग्रेजी के नावेल और रोमास के सम्मिलित अर्थ का द्योतक हुआ। बँगला के सम्पर्क मे आने के कारण ही भारतेन्दु ने इसे ज्यो-का-त्यो नावेल के अर्थ में ग्रहण कर लिया। इसीलिए बँगला के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर की उन्नत भाषाओ मे 'नवल कथा' और 'वार्त्ता', मराठी मे 'नवलिका' और 'कादम्बरी' तथा उर्दू मे 'नाविल' और 'अफसाना' शब्दो का प्रचलन हुआ। हिन्दी मे भी लाला श्रीनिवासदास (सन् १८५१-८७) ने 'परीक्षा-गुरु' को अग्रेजी मे 'नावेल' तथा हिन्दी मे 'ससारी वार्त्ता' कहा है, किन्तु भारतेन्दु के व्यापक प्रभाव के कारण 'उपन्यास' शब्द की अधिक महिमा हुई और 'वार्त्ता' शब्द अधिक लोकप्रिय न हो सका। किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासो के मुखपृष्ठ पर 'उपन्यासस्तु वाङ्‌मुखम्' मुद्रित है। इससे प्रकट है कि गोस्वामीजी उपन्यास के प्राचीन अर्थ से न केवल परिचित थे, वरन् अपने 'उपन्यासो को सस्कृत की परम्परा' से सम्बद्ध भी करना चाहते थे। कुछ भी हो, हिन्दी मे भारतेन्दु-युग से ही 'उपन्यास' शब्द सर्वस्वीकृत होकर अंग्रेजी के 'नावेल' के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा था और आज इसके शाब्दिक अर्थ की ओर ध्यान न जाकर सीधे नावेल का ही अर्थ ग्रहण होता है।

प्रेरणास्रोत

हिन्दी में उपन्यास-रचना की प्रेरणा बँगला साहित्य से प्राप्त हुई। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी उपन्यासो पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"नाटको और निबन्धो की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग-भाषा की देखा-देखी नए ढग के उपन्यासो की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बग-भाषा मे बहुत-से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अत. साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।'[1] स्पष्ट है कि हिन्दी-लेखको का नए ढग के उपन्यासो की रचना की ओर बग-भाषा की देखा-देखी ध्यान आकृष्ट हुआ। इसमे सदेह नही कि 'भाग्यवती' की रचना (सन् १८७७ ई०) के पूर्व ही बगला मे सामाजिक और ऐतिहासिक दोनो ही प्रकार के

पुस्तिका २० पृष्ठ की हिन्दी भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो और उसमें केवल उपन्यास और नाटक रहें।" हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका'—नवम्बर, १८७८ ई०।

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४५५।

कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। भवानीचरण बन्द्योपाध्याय का 'नव बाबू विलास' (सन् १८२५ ई०) और टेकचन्द ठाकुर का 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् १८५७ ई०) बँगला मे बहुत ही लोकप्रिय हुए थे। किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला' उपन्यास (सन् १९०३ ई०) मे 'नव बाबू विलास' की छाया स्पष्ट है। ऐतिहासिक उपन्यासो के क्षेत्र मे बँगला मे बंकिमबाबू को आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके तीन उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी' (१८६५ ई०), 'मृणालिनी' (१८६९ ई०), 'युगलांगुरीय' (१८७४ ई०) क्रमशः १८७३ ई०, १८८० ई० मे हिन्दी में अनूदित हुए थे। किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासो पर बंकिम का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। बंगला मे भी उपन्यास-रचना की मूल प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से प्राप्त हुई थी। 'आलालेर घरेर दुलाल' की रचना हेनरी फील्डिंग (१७०७-५४ ई०) के 'टाम जोन्स' (१७४९ ई०) के आदर्श पर हुई थी। स्वयं बंकिमबाबू अंग्रेजी के दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकारो स्कॉट (१७७१-१८३२ ई०) और टेलर (१८०८–७६ ई०) से प्रभावित थे। इस प्रकार हिन्दी में उपन्यास-रचना की प्रेरणा प्रत्यक्षतः बँगला और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी से प्राप्त हुई। 'परीक्षा-गुरु' (१८८२ ई०) पर तो सीधे अंग्रेजी का प्रभाव स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि प्रारम्भिक उपन्यासों पर ध्यान दिया जाये तो उनमे बीज रूप से भारत का प्राचीन कथा-साहित्य भी प्रेरक तत्त्व के रूप में कार्य करता हुआ लक्षित होता है। किशोरीलाल गोस्वामी के प्रसिद्ध 'पुनर्जन्म' या 'सौतिया डाह' (१९०७ ई०) मे सुशीला और सुन्दरी का चरित्र 'वासवदत्ता' और 'रत्नावली' के आदर्श पर ढाला गया है। देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय के 'सुन्दर-सरोजिनी' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों के आदर्श पर रची गई है और इसमें नायक-नायिका के बीच प्रेमोदय का आधार स्वप्न दर्शन माना गया है। ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्याम स्वप्न' संस्कृत-कथा के आदर्श पर रची गई एक प्रेम-कहानी है। वस्तुतः प्रारम्भिक हिन्दी-लेखको का कथा-रचना-संस्कार अंग्रेजी 'नावेल' और बँगला 'उपन्यास' के साथ ही संस्कृत की कथा-आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम-कहानियों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। यह अवश्य है कि क्रमशः हिन्दी-उपन्यास प्राचीन संस्कारों से मुक्त होता गया और अब वह पूर्णतः अंग्रेजी का 'नावेल' हो गया है। आज प्राचीन गद्य काव्य की कोई विधा इसे अपने भीतर समेट नही सकती।

वर्गीकरण

प्रेमचन्द-पूर्व युग के प्रमुख उपन्यासकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों को सामाजिक, ऐतिहासिक तथा घटनात्मक—इन तीनों वर्गों में रखा है। इनके द्वारा किये गए 'धार्मिक' या 'गार्हस्थ्य' आदि भेद सामाजिक के अन्तर्गत ही आ जाते है। बँगला के प्रारम्भिक उपन्यासों का वर्गीकरण भी लगभग इसी आधार पर किया गया है। तत्कालीन बँगला उपन्यासों के तीन वर्ग—सामाजिक,

ऐतिहासिक और अद्भुत किये गए है। गोस्वामीजी के घटनात्मक उपन्यास बँगला के अद्भुत उपन्यासो के समकक्ष रखे जा सकते है। शिवनारायण श्रीवास्तव ने इस युग के उपन्यासो को सामाजिक, ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक तथा भाव-प्रधान—इन पाच वर्गों मे रखा है।[1] इस वर्गीकरण मे ऐयारी-तिलस्मी और जासूसी उपन्यास तो घटनात्मक वर्ग के ही है; हा, भावप्रधान उपन्यासो के एक नए वर्ग का सकेत अवश्य मिलता है। डॉ० श्रीवास्तव का यह वर्गीकरण बहुत कुछ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' पर आधृत है। शुक्ल जी ने 'भावो या मनोविकारो' की प्रगल्भ और वेगवती व्यजना वाले भाव-प्रधान उपन्यासो की एक पृथक् कोटि निर्धारित की है और बाबू ब्रजनन्दन सहाय को बंग-भाषा के अनुकरण पर हिन्दी मे भी ऐसे उपन्यासो की रचना मे प्रवृत्त बताया है।[2] श्रीकृष्णलाल ने रचना-शैली के आधार पर वर्गीकरण करते हुए तत्युगीन समस्त उपन्यासो को चरित्र-प्रधान और कथा-प्रधान इन दो वर्गो मे रखा है।[3] चरित्र-प्रधान उपन्यासो मे उन्होंने श्री लज्जाराम मेहता, हरिऔध और मन्नन द्विवेदी के कुछ उपन्यासो की चर्चा की है और कथा-प्रधान उपन्यासो के कुल छ भेद-तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासिक एव पौराणिक किये है। इस वर्गीकरण मे सामाजिक वर्ग को महत्त्व नही दिया गया है। इस युग के अधिकाश सामाजिक उपन्यास कथा-प्रधान ही है, अत जिन्हे चरित्र-प्रधान उपन्यासो की श्रेणी मे नही रखा गया है उनकी गणना कथा-प्रधान सामाजिक उपन्यासों में होनी चाहिए थी। श्री कृष्णलाल ने जिन उपन्यासो को चरित्र-प्रधान माना है, सच्चे अर्थों मे वे भी कथा-प्रधान सामाजिक उपन्यास ही है। यो तो तिलस्मी-ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के पात्रो मे भी कोई-न-कोई चारित्रिक विशेषता मिल ही जाती है। माताप्रसाद गुप्त ने इस युग के उपन्यासो पर विचार करते हुए उन्हे चार प्रमुख धाराओ मे विभक्त किया है—सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी-तिलस्मी और जासूसी। पुनः उन्होने सामाजिक उपन्यासो के चार उपभेद किये है—उद्देश्य-प्रधान, रस-प्रधान, वस्तु-प्रधान और चरित्र-प्रधान।[4] उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों से डॉ० गुप्त का तात्पर्य शिक्षाप्रद उपन्यासो से है। इस युग के अधिकाश सामाजिक उपन्यास इसी कोटि में आते है। रस-प्रधान उपन्यासो से तात्पर्य शृगारिक उपन्यासो से है। वस्तु-प्रधान उपन्यास वस्तुत' घटना-प्रधान है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों मे डॉ० गुप्त ने जगमोहनसिह, अयोध्यासिह उपाध्याय, लज्जाराम शर्मा तथा ब्रजनन्दनसहाय के कुछ उपन्यासो की गणना की है। डॉ० गुप्त का यह वर्गीकरण भी सन्तोषजनक नही है। रस-प्रधान उपन्यासो को

१. 'हिन्दी उपन्यास', शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० २३।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ५०१।
३. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० २९२।
४. 'हिन्दी पुस्तक-साहित्य', माताप्रसाद गुप्त, पृ० २६।

शृंगारिक उपन्यासो का ही पर्याय कैसे मान लिया जाय ? यदि ऐसा मान भी ले तो इस युग के ऐतिहासिक उपन्यास कही अधिक रस-प्रधान है। (शृंगारिक अर्थ में ही) ऐसी स्थिति में सामाजिक उपन्यासों का ही यह भेद क्यों गिना गया ? इस प्रकार जासूसी, तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास अपेक्षाकृत अधिक वस्तु प्रधान है। अतः सामाजिक उपन्यासो मे ही वस्तु-प्रधान उपन्यासो की एक पृथक् कोटि निर्धारित करना भी समीचीन नही प्रतीत होता। इनके अतिरिक्त इस वर्गीकरण में उन उपन्यासो की ओर ध्यान ही नही दिया गया है जो साहसिक, सनसनीखेज घटनाओ से युक्त है, किन्तु जासूसी, ऐयारी या तिलस्मी नही है। इधर कैलाश-प्रकाश ने अपने शोध-प्रबन्ध 'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास' मे तत्कालीन उपन्यासो को तीन वर्गों—सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक—में रखा है। उनके अनुसार घटनात्मक वर्ग बडा व्यापक और अनिश्चित है। इस वर्ग मे सामान्यतः दो प्रकार के उपन्यास आते है—चित्र-विचित्र घटनाओ से भरे हुए जासूसी, तिलस्मी और ऐयारी ढग के अनूठे उपन्यास तथा वे उपन्यास जिनमे रंगीले, भड़कीले, अनूठे और जानदार कथानको मे 'किस्मत का खेल', 'प्रेम का फल', 'चालों की चालाकी', 'चोरो की दगाबाजी', 'ठगो की धोखेबाजी', 'जिन्दो की महफिल' आदि चित्र-विचित्र विषय अंकित किये है।[1] कैलाशप्रकाश का यह वर्गीकरण किशोरीलाल गोस्वामी के वर्गीकरण से समर्थित है और तत्कालीन उपन्यासों के विवेचन के लिए पर्याप्त सुविधाजनक है।

वस्तुतः प्रेमचन्द-पूर्व युग में हमारी साहित्य-चेतना दो प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचालित थी—एक प्रवृत्ति मनोरजन की थी, दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी एवं चित्र-विचित्र रहस्यमय वासनापरक प्राण-चित्रों से युक्त दोनों ही प्रकार के उपन्यास मनोरंजन की ही प्रवृत्ति से परिचालित थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास, जिनमे औपन्यासिक शैली मे इतिहास के सत्य का अनुसंधान और प्रकाशन का लक्ष्य होता है, इस युग में बहुत कम लिखे गए। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालित उपन्यास उपदेश-प्रधान और सुधारवादी थे। इनमे से कुछ नवयुग के परिवर्तन से भयभीत सनातन-धर्म की प्राचीन परपरा के पोषण मे प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नये सुधारो का समर्थन कर रहे थे। जिन उपन्यासो को भावप्रधान कहा गया है वे भी सामाजिक चेतना से अछूते नही है। ब्रजनन्दन सहाय के सौन्दर्योपासक की प्रगल्भ भावुकता के मूल में समाज-वर्जित प्रेम की मनोवैज्ञानिक समस्या लक्ष्य की जा सकती है। इस प्रकार यदि हम उपन्यासो की रचना के मूल में कार्य करने वाली प्रवृत्तियों को ध्यान मे रखकर वर्गीकरण करें तो समूचा उपन्यास-साहित्य प्रमुखतः दो वर्गों मे सीमित हो सकता है—मनोरंजन-प्रधान तथा सामाजिक चेतना से युक्त। किन्तु यह वर्गीकरण उस युग की मनःस्थिति को समझने में सहायक होते

१. 'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास', कैलाशप्रकाश, पृष्ठ ७७।

हुए भी कृतियो के विवेचन के लिए सुविधाजनक नही है। मनोरजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के कथा-साहित्य का प्रेरक होता है। प्रेमचन्द-पूर्व सामाजिक जागरूकता से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नही है। इसलिए विषय को दृष्टि मे रखकर किया गया किशोरीलाल गोस्वामी का वर्गीकरण ही अध्ययन के लिए अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास-साहित्य प्रमुखत: तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक। इस वर्गीकरण को और अधिक विश्लेषणपरक और वैज्ञानिक बनाना चाहे तो इन प्रमुख वर्गों को उपवर्गों मे विभाजित कर सकते है। उदाहरणार्थ, सामाजिक उपन्यासो के तीन उपवर्ग—घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान—हो सकते हे। ऐतिहासिक उपन्यासो के दो उपवर्ग—शुद्ध ऐतिहासिक और ऐतिहासिक रोमास-कथा; इसी प्रकार घटनात्मक उपन्यासो के तीन उपवर्ग—ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी तथा साहसिक एवं चित्र-विचित्र घटनात्मक किये जा सकते है।

सामाजिक उपन्यासकार और उपन्यास

प्रेमचन्द-पूर्व सामाजिक उपन्यासकारो में श्रद्धाराम फिल्लौरी (सन् १८८१ ई० में मृत्यु), लाला श्रीनिवासदास (१८५१–८७ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४ ई०), जगमोहनसिह (१८४७–९९ ई०), राधाकृष्णदास (१८६५–१९०७ ई०), लज्जाराम शर्मा (१८६३–१९३१ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५–१९३२ ई०), अयोध्यासिह उपाध्याय (१८६५–१९४१ ई०), ब्रजनन्दनसहाय (१८७४–) तथा मन्नन द्विवेदी (१८८४–१९२१ ई०) प्रमुख है।

श्रद्धाराम फिल्लौरी ने एक ही उपन्यास 'भाग्यवती' (सन् १८७९ ई०) लिखा। फिल्लौरीजी मुख्यतः धर्मोपदेशक थे, अत उन्होने 'भाग्यवती' के रूप मे ऐसी पोथी हिन्दी भाषा मे लिखी कि जिसके पढ़ने से भरत-खण्ड की स्त्रियो को गृहस्थधर्म की शिक्षा प्राप्त हो सके।[1] यह ग्रन्थ सुगम हिन्दी भाषा मे लिखा गया है।

लाला श्रीनिवासदास बहुपठित व्यक्ति थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' (सन् १८८२ ई०) "अपनी भाषा मे नई चाल की पुस्तक है।"[2] लेखक ने 'नई चाल' को समझाते हुए लिखा है, अपनी भाषा मे अब तक वार्ता रूपी जो पुस्तक लिखी गई है उनमे अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हाल ठेटसे सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है, जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ-साहूकार का लड़का था, उसके मन मे इससे यह रुचि हुई है और उसका यह परिणाम निकला,

१. 'भाग्यवती' की भूमिका से।
२. 'परीक्षा-गुरु' की भूमिका से।

ऐसा सिलसिला कुछ मालूम नही होता। लाला मदनमोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दूकान मे असबाब देख रहे है। लाला ब्रजकिशोर, मुशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उन के साथ हे। इनमे मदनमोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भूदयाल कौन हे ? इनका स्वभाव कैसा हे ? परस्पर सम्बन्ध कैसा है ? हरेक की हालत क्या है ? यहाँ इस समय किसलिए इकट्ठे हुए है ? ये बातें पहले से कुछ भी नही बताई गई। हाँ, पढने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अन्त तक सब मेल मिल जाएगा।"[1] प्रकट है कि लेखक ने इस नाटकीय 'आरम्भ' को ही नई चाल कहा हे। रचना की यह 'नई चाल' उसने अंग्रेजी उपन्यासो से प्रेरित होकर अपनायी होगी। उसने स्वयं भी महाभारतादि (संस्कृत), गुलिस्तां वगैरह (फ़ारसी) साथ ही स्पेक्टैटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखो से सहायता लेने की बात कही है।[2] इस तकनीक की नवीनता की दृढता से, निश्चय ही 'परीक्षा-गुरु' हिन्दी का प्रथम अंग्रेजी ढग का उपन्यास हे। इस उपन्यास मे दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनमोहन का स्वाभाविक चित्र उतारा गया है। लाला मदनमोहन रईस आदमी हे। उनका जीवन झूठे खुशामदियो के बीच भोग-विलास मे व्यतीत होता हे। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर वकील हे। ये विवेक-शील और चरित्रवान व्यक्ति है। जीवन में अनेक कठिनाइयों को झेलने के बाद लाला ब्रजकिशोर के प्रयत्न से लाला मदनमोहन सही रास्ते पर आते हे। लेखक के अनुसार जो बात सौ बार समझाने से समझ मे नही आती वह एक बार की परीक्षा से मन मे बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरु मानते हे। इसी आधार पर लेखक ने अपनी इस कृति का नाम 'परीक्षा गुरु' रखा है। यह रचना उपदेश-प्रधान है। इसकी रचना 'संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दो की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालो की साधारण बोल-चाल' में हुई है।[3]

बालकृष्ण भट्ट के दो उपन्यास---'नूतन ब्रह्मचारी' (सन् १८८६ ई०), 'सौ अजान एक सुजान' (सन् १८९२ ई०) प्रसिद्ध हे। मधुकर भट्ट ने सन् १८७९ ई० के नवम्बर मास मे 'हिन्दी प्रदीप' की फाइलो के आधार पर उनके 'रहस्य-कथा' नामक तीसरे उपन्यास का उल्लेख किया हे। यह कृति अपूर्ण प्राप्त हुई हे। 'नूतन ब्रह्मचारी' मे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्ठलराव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव मे डाकुओ के सरदार का हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियो को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। 'सौ अजान एक सुजान' युवकों के लिए लिखा गया है। इसमे अवध प्रान्त के अनन्तपुर निवासी

१. 'परीक्षा-गुरु', भूमिका।
२ वही, भूमिका, पृष्ठ २।
३. वही, भूमिका।

परम धार्मिक सेठ हीराचन्द के दो पौत्र ऋद्धिनाथ और निधिनाथ अजानो के फेर मे पड़कर विलासी जीवन व्यतीत करते है। उनका शिक्षक चन्द्रशेखर (सुजान) कुछ दिनों के लिए उनका साथ छोड देता है। अन्तत. ऋद्धिनाथ और निधिनाथ जालसाजी के अपराध मे पकडे जाते है और चन्द्रशेखर (सुजान) आकर उन्हे बचाता है। यह उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' की परम्परा मे रखा जा सकता है।

जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न' (सन् १८८८ ई०) श्यामा (ब्राह्मण-कुमारी) और श्यामसुन्दर (क्षत्रिय-कुमार) की प्रणय-कथा का एक काल्पनिक चित्र है। इसमे मध्यकालीन प्रेम-कहानियों के सभी उपकरण सखी, दूती, प्रेम-पत्र, मिलन, विरह आदि विद्यमान है। इसके दृश्य वर्णन संस्कृत कवियो की स्मृति सजीव कर देते है। काल्पनिक कहानी होते हुए भी 'श्यामा-स्वप्न' ब्राह्मणकुमारी और क्षत्रियकुमार के प्रणय-सम्बन्ध की सम्भावना की ओर सकेत करके नव्य समाज की नवीन मान्यताओ का प्रतिनिधित्व करती है।

राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू' (सन् १८९० ई०) नामक उपन्यास गोवध-निवारण की भावना से प्रेरित होकर लिखा। वस्तुत राधाकृष्णदास जी उपन्यासकार नही थे, इसलिए कला की दृष्टि मे इस उपन्यास का विशेष महत्त्व नही है।

लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' (सन् १८८९ ई०), 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (सन् १८९९ ई०), 'आदर्श दम्पति' (सन् १९०४ ई०), 'बिगडे का सुधार' अथवा 'सती सुखदेवी' (सन् १९०७ ई०) तथा 'आदर्श हिन्दू' (सन् १९१४ ई०) आदि कई उपन्यास प्रसिद्ध है।

'धूर्त रसिकलाल' उपन्यास मे रसिकलाल की धूर्तता दिखाई गई है। वह अपने मित्र सेठ सोहनलाल को अनेक दुर्व्यसनो मे फँसाकर उनका सर्वस्व हरण करता है, किन्तु अन्ततः वह पकड़ा जाता है और दण्ड पाता है। कहना चाहे तो इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास कह सकते है। 'स्वतत्र रमा और परतत्र लक्ष्मी' मे 'रमा' और 'लक्ष्मी' नामक दो सगी बहनो की कहानी है। 'रमा' अग्रेजी शिक्षा से प्रभावित है और स्वतत्र जीवन व्यतीत करना चाहती है। 'लक्ष्मी' भारतीय सस्कृति के अनुकूल पतिव्रता नारी का जीवन व्यतीत करती है। लेखक तुलनात्मक आधार पर भारतीय नारी के पातिव्रत की महत्ता सिद्ध करता है। 'आदर्श-दम्पति' मे पति-पत्नी दोनों ही भारतीय सस्कृति के अनुसार एक-दूसरे को प्रेम करते हुए आदर्श जीवन व्यतीत करते है। 'बिगडे का सुधार' अथवा 'सती सुखदेवी' मे एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त नई सभ्यता के हिमायती वनमाली बाबू और उनकी पत्नी सती-साध्वी सुखदेवी की कहानी कही गई है। वनमाली बाबू नई रोशनी की धुन मे एक होटल की नौकरानी मेम से ब्याह करते है किन्तु अन्त मे उनके मन से परदेशीपन का भूत निकल जाता है और वे पुन. 'स्त्रियो की रानी' सुखदेवी को स्वीकार करते है। 'आदर्श हिन्दू' मे पं० प्रियानाथ और उनके अनुज कान्तानाथ की कहानी कही गई है। प्रियानाथ की पत्नी प्रियंवदा आदर्श हिन्दू महिला है।

कान्तानाथ की पत्नी सुखदा वस्तुत. दुखदा है और निरन्तर कलह करती रहती है। तीर्थयात्रा में उसका सब-कुछ लुट जाता है और अन्त मे वह सुधर जाती है। लेखक ने इस उपन्यास मे तीर्थयात्रा के व्याज से एक ब्राह्मण कुटुम्ब मे सनातन धर्म का दिग्दर्शन, हिन्दूपन का नमूना, आजकल की त्रुटियाँ, राजभक्ति का स्वरूप, परमेश्वर-भक्ति का आदर्श और अपने विचारों की बानगी प्रस्तुत की है।

शर्माजी वस्तुत. भारतीय संस्कृति के समर्थक एक अखबार-नवीस थे। इसलिए उपन्यास-रचना के क्षेत्र मे उन्हे किशोरीलाल गोस्वामी जैसी लोकप्रियता नही प्राप्त हुई।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी प्रेमचन्द-पूर्व युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार है। इनका जन्म काशी मे सन् १८६५ ई० मे हुआ था। इनके नाना कृष्ण चैतन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्यिक गुरु थे। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके विचार सनातन हिन्दू धर्म के अनुकूल है। इन्होंने सब मिलाकर लगभग ६५ उपन्यास लिखे है। इनके सामाजिक उपन्यासो में 'त्रिवेणी या सौभाग्य श्रेणी' (१८९० ई०), 'लीलावती' या 'आदर्श सती' (१९०१ ई०), 'राजकुमारी' (१९०२ ई०), 'चपला' या 'नव्य समाज' (१९०३-४ ई०), 'पुनर्जन्म' या 'सौतिया डाह' (१९०७ ई०), 'माधवी माधव या मदन मोहिनी' (१९०९-१० ई०), *'अँगूठी का नगीना' (१९१८ ई०) आदि प्रसिद्ध है।*

'त्रिवेणी या सौभाग्य श्रेणी' मे मनोहरदास नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति की कहानी है। मनोहरदास नौका डूबने की दुर्घटना के कारण अपनी गुणवती पत्नी त्रिवेणी से वियुक्त हो जाता है। शोक-सतप्त होकर वह संन्यासी का जीवन व्यतीत करता है। तीन वर्ष बाद त्रिवेणी के तट पर कुम्भ मेला के अवसर पर वह अपनी पत्नी और श्वसुर को पुनः प्राप्त करता है। उसका जीवन सुखमय हो जाता है। 'लीलावती या आदर्श सती' में लीलावती और कलावती नामक दो स्त्रियो की कहानी है। लीलावती सती-साध्वी स्त्री है और वह ललितकिशोर से प्रेम करती है। लीलावती की दूर की बहन कलावती नव्य जीवन की चमक-दमक से प्रभावित है। वह लम्पट बालकृष्ण के साथ भागकर सिविल मैरिज करती है। उसकी वासना अतृप्त रहती है और अवसर देखकर वह नौकर के साथ भाग जाती है। उसके जीवन मे यही क्रम चलता रहता है और अन्ततः घृणित रोग से पीड़ित होकर वह यमुना मे कूदकर आत्महत्या कर लेती है। लेखक ने इस प्रकार नवीन समाज की विडम्बना दिखाई है। 'राजकुमारी' उपन्यास मे भाग्यचक्र कुछ ऐसा चलता है कि मुँगेर के जमीदार हीराचन्द की पुत्री सुकुमारी पैदा होते ही उनके दीवान के घर पहुँच जाती है और दीवान साहब का पुत्र मानिक जमीदार के यहाँ पहुँच जाता है। कुछ दिनों बाद दीवान राजा साहब (मुँगेर के जमींदार) को कैद कर लेता है और स्वयं राजा बन बैठता है। कुछ दिनों बाद उसकी कुटिल नीति का भेद खुलता है और लाट साहब की सहायता से राजा साहब मुक्त होते है। मानिक और सुकुमारी का ब्याह हो जाता है।

सुकुमारी वस्तुतः राजकुमारी है, इसीलिए उपन्यास का नाम 'राजकुमारी' रखा गया है। 'चपला' या 'नव्य समाज' चित्र पर्याप्त बड़ा और अपने समय का बहुचर्चित उपन्यास है। इसे बँगला के 'नव्वाब विलास' की परम्परा मे रखा जा सकता है। उपन्यास की मुख्य कहानी राजा राधाकिशोर के परिवार से सम्बन्ध रखती है। राजा साहब के दो पुत्र है—कमलकिशोर और ब्रजकिशोर। बाबू हरप्रसाद का एक दूसरा परिवार है। उनकी तीन बहने है—कामिनी, चपला और कादम्बिनी। कमलकिशोर दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति है। वह नव्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है। ब्रजकिशोर आचरणशील व्यक्ति है। उसका व्याह कादम्बिनी से हुआ है। कमलकिशोर एक दिन चपला को उसके घर से उडाकर अपने तिलस्मी मकान मे बन्द कर देता है। चपला का व्याह घनश्याम नामक एक युवक से होने वाला था। कमलकिशोर अपना मार्ग एकदम साफ देखने के उद्देश्य से उसे भी पकड़वाकर बन्द कर देते है। कमलकिशोर के सारे दुष्ट प्रयत्नो के बावजूद चपला अपने सतीत्व पर अडिग है। अन्तत. कमलकिशोर के दुष्कृत्यो का भण्डाफोड होता है। उसे पुलिस गिरफ्तार कर लेती है और वह आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार एक पापी को ईश्वरीय न्याय के अनुसार अपने कर्मों का दण्ड मिलता है। लेखक के दो प्रतिपाद्य है—एक तो यह कि नवीन समाज का वातावरण अवाछित है क्योंकि वह कमलकिशोर जैसे व्यक्तियो को जन्म देता है। दूसरा यह कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म का फल अवश्य देता है। 'पुनर्जन्म' या 'सौतिया डाह' मे अयोध्या के प्रतिष्ठित जमीदार सज्जनसिंह की पत्नी 'सुशीला' अभिमानिनी और कुटिल स्वभाव की है। सज्जनसिंह एक अन्य स्त्री 'सुन्दरी' को प्यार करते है जो अत्यन्त विनम्र और मृदु स्वभाव की है। सुशीला को पति पर सन्देह है और घर मे इसी प्रश्न को लेकर आए दिन कलह मचती रहती है। सुन्दरी सुशीला के मार्ग का काँटा नही बनना चाहती। वह अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करने के लिए प्रस्तुत है। सुशीला जब सुन्दरी के शील से परिचित होती है तो वह तब स्वयं आग्रहपूर्वक सुन्दरी का व्याह सज्जनसिंह से उसी प्रकार करा देती है जिस प्रकार वासवदत्ता ने रत्नावली का उदयन से कराया था। लेखक की सम्मति है—कि सौतिने सुशीला और सुन्दरी का-सा व्यवहार करे। 'माधवी माधव' या 'मदनमोहिनी' उपन्यास मे धर्म से धर्म, काम से काम और मोक्ष से मोक्ष-तीनो की सिद्धि दिखाने की चेष्टा की गई है। मुख्य कथा नायक माधव और नायिका माधवी के प्रेम और विवाह की है। मदन उपनायक और मोहिनी उपनायिका है। इनकी जोडी भी आदर्श है। इन सभी पात्रो का विवाह धर्मानुसार होता है। लेखक ने इन आदर्श पात्रो के विवाह मे बाधा डालने वाले अधर्मी पात्रो का दुखद अन्त दिखाकर धर्म एव नीति की श्रेष्ठता प्रमाणित की है। 'अँगूठी का नगीना' उपन्यास में मदनमोहन और लक्ष्मी के मर्यादित प्रेम की कहानी वर्णित है। रामसरन खलनायक है। वह स्वय लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है। अंतत सच्चे प्रेम की जय होती है और लक्ष्मी मदनमोहन को प्राप्त होती है।

इन उपन्यासो के अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'प्रणयिनी परिणय' (१८८० ई०), 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' (१८८९ ई०), 'सुख शर्वरी' (१८९१ ई०), 'प्रेममयी' (१९०१ ई०), 'चन्द्रावती' या 'कुलटा कुतूहल' (१९०५ ई०), 'चन्द्रिका' या 'जडाऊ चम्पाकली', 'तरुण तपस्विनी या 'कुटीर वासिनी' (१९०६ ई०), 'इन्दुमती' या 'वनविहगिनी' (१९०६ ई०) तथा 'लावण्यमयी' आदि अनेक प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास है। गोस्वामीजी के प्रायः सभी उपन्यास स्त्री-प्रधान है और उनमे प्रेम के विविध रूपो का चित्रण मिलता है। इन्होंने यदि एक ओर सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है तो दूसरी ओर साली-बहनोई के अवैध प्रेम, विधवाओ के व्यभिचार, वेश्याओ के कुत्सित जीवन, देवदासियों की विलासलीला आदि का भी सजीव चित्रांकन किया है। ऐसा दिखाने मे आपका उद्देश्य यह रहा हे कि पाठक नारकीय और आदर्श जीवन-चित्रो को एक साथ देखकर अपने आचरण को उज्ज्वल बनाने की चेष्टा करेंगे। विचारो से आप सनातनधर्मी और प्राचीनता-प्रेमी हे। नव्य समाज के प्रति आप न्याय नही कर सके है। फिर भी तत्युगीन समाज की एक प्रतिनिधि मनोवृत्ति को समझने के लिए आपके उपन्यासों का अध्ययन आवश्यक है और प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यासकारों में निर्विवाद रूप से आपका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 'ठेठ हिन्दी का ठाट' या 'देवबाला' (सन् १८९९ ई०) तथा 'अधखिला फूल' (सन् १९०७ ई०) दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' मे अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है। 'अधखिला फूल' मे धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई हे और प्रसंगवश धार्मिक अंधविश्वासो का कुपरिणाम भी दिखाया गया हे। इन उपन्यासो का महत्त्व भाषा-सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से कही अधिक हे। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में तो लेखक ने संकल्प लेकर ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया है। 'अधखिला फूल' में भी छोटे-छोटे तद्भव शब्दों का ही प्रयोग अधिक किया गया है।

व्रजनन्दनसहाय ने बंगीय कथा-साहित्य से प्रभावित होकर 'सौन्दर्योपासक' (१९१२ ई०) और 'राधाकान्त' (१९१८ ई०) दो सामाजिक उपन्यास लिखे। 'सौन्दर्योपासक' मे नायक अपनी सालीसे प्रेम करता हे। साली भीउसे चाहतीहै। 'सौन्दर्योपासक' की पत्नी इस तथ्य से अवगत होने पर दुखी रहने लगती है और अन्त मे वह मर जाती हे। साली भी यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर स्वर्गवासिनी होती है। बेचारा सौन्दर्योपासक विरह-सन्तप्त होकर दुखी जीवन व्यतीत करता हे। उपन्यास का महत्त्व एक मनोवैज्ञानिक समस्या की भावमयी अभिव्यक्ति में है। 'राधाकान्त' आत्मकथात्मक शैली मे दो खण्डों में लिखा गया है। प्रथम खण्ड में राधाकान्त ने और द्वितीय खण्ड मे उसके मित्र हरेन्द्र ने अपनी आत्मकथा कही है। राधाकान्त और हरेन्द्र दोनों सहपाठी हैं। राधाकान्त साधारण किसान का बालक हे। उसमें अनेक मानवीय दुर्बलताएँ हैं। वह क्रमशः पतन की ओर

बढता है किन्तु अन्ततः उसमे सुधार होता है और वह एक आदर्श मित्र सिद्ध होता है। इसे हम एक चरित्र-प्रधान उपन्यास कह सकते है।

'अद्भुत प्रायश्चित्त' (१९०१ ई०), 'राजेन्द्र मालती' (१९०६ ई०), 'अरण्य-बाला' (१९१५ ई०) आदि आपके अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है।

मन्नन द्विवेदी गजपुरी प्रेमचन्द-पूर्व के एक सशक्त उपन्यास-लेखक है। इनके दो उपन्यासों—'रामलाल' (१९१७ ई०) और 'कल्याणी' (१९२० ई०) का उल्लेख मिलता है। 'कल्याणी' प्रेमचन्द-युग की रचना है। 'रामलाल' की रचना १९१४ ई० में हो गई थी। इसमे पुलिस, अदालत, पटवारी, पोस्टमैन, भगत, साहूकार—सभी का बडा ही सजीव और व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया गया है। गाँवों से सम्बन्धित कथानक प्रस्तुत करने वाली यह प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति है। लेखक का दृष्टिकोण सुधारवादी है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपर्युक्त, प्रमुख सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त देवीप्रसाद शर्मा कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (सन् १८९३ ई०), मुरलीधर शर्मा कृत 'सत्कुलाचारण' (१९०० ई०), कमलाप्रसाद कृत 'कुल-कलंकिनी' (१९०५ ई०), लोचनप्रसाद पाण्डेय कृत 'दो मित्र' (१९०६ ई०), रामजीदास वैश्य कृत 'सती' (१९०७ ई०), बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'संसार' (१९०७ ई०), ईश्वरीप्रसाद शर्मा कृत 'हिरण्यमयी' (१९०८ ई०) तथा 'स्वर्णमयी (१९१० ई०), हरस्वरूप पाठक कृत 'भारत माता' (१९१५ ई०), श्रीकृष्णलाल वर्मा 'चम्पा' (१९१६ ई०), श्यामकिशोर वर्मा कृत 'काशी यात्रा' (१९१६ ई०), गगाप्रसाद गुप्त कृत 'लक्ष्मीदेवी' तथा रुद्रदत्त शर्मा कृत 'स्वर्ग मे महासभा' आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय है। इन उपन्यासो मे भी तज्जुगीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ—धर्म की जय, आदर्श आचरण का महत्त्व, नवीनता का समर्थन या विरोध, अधविश्वासो के परित्याग, सतीत्व की महिमा, ईश्वरीय न्याय मे विश्वास, राष्ट्र-प्रेम आदि का चित्रण किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार

प्रेमचन्द-पूर्व युग (१८७७–१९१८ ई०) में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासो का अभाव था। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त, मथुराप्रसाद शर्मा, बलदेव-प्रसाद मिश्र तथा बाबू व्रजनन्दनसहाय और मिश्र-बन्धुओ ने इस दिशा मे यथा-साध्य महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जा सकते है। इनके 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी' (१९०२ ई०), 'कनककुसुम वा मस्तानी' (१९०३ ई०), 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल मे हलाहल', (१९०४ ई०), 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' (१९०४ ई०), 'लवंगलता वा आदर्श बाला' (१९०४ ई०), 'मल्लिका देवी वा वग सरोजिनी' (१९०५ ई०), 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' (१९०९-११ ई०), 'गुलबहार का आदर्श भ्रातृ स्नेह'

(१९१६ ई०) तथा 'लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा' (१९१७ ई०) प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है।

'तारा या क्षात्र कुल कमलिनी' मे जोधपुर के महाराज गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह की पुत्री तारा की कहानी वर्णित है। तारा का ब्याह उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ निश्चित हो चुका था। बादशाह शाहजहा का खजांची सलावत खॉ इसमे बाधक था। अमरसिंह ने भरे दरबार मे सलावत खॉ को कटार भोककर मार डाला। गोस्वामीजी के इस उपन्यास की बडी प्रशसा हुई थी। उन्होने इसके लिखने मे कर्नल टाड कृत 'राजस्थान', फ्रेंच यात्री बर्नियर के यात्रा-विवरण तथा सिगनर म्यानिसी के लिखित वर्णन से पर्याप्त सहायता ली है। इतिहास के तथ्य को कल्पना के रंग मे रंगकर वाछित वातावरण प्रस्तुत करने मे वे पूर्णतः कुशल थे। इस उपन्यास मे उन्होने इतिहास के माध्यम से आर्यों के यथार्थ गौरव का गुणकीर्तन गान किया है। 'कनक कुसुम वा मस्तानी' मे निजाम की भोग्या एक हसीन औरत की पुत्री मस्तानी ओर पेशवा बाजीराव के प्रणय की रोमासपूर्ण कहानी वर्णित है। 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रगमहल मे हलाहल' में सुल्ताना रजिया (१९३६-४० ई०) और उसके अस्तबल के दारोगा हब्शी याकूत की प्रेम-कथा और उसका दुर्भाग्यपूर्ण अन्त वर्णित है। 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' मे रंगपुर (बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत) के कुमार नरेन्द्रसिंह और कृष्णनगर की राजकन्या कुसुमकुमारी के साहस, धैर्य और प्रेम की कथा वर्णित है। इस कथा के माध्यम से लेखक ने नवाब सिराजुद्दौला (सन् १७५६-५७ ई०) के समय के अव्यवस्थित और क्षुब्ध बंगाल का चित्र उपस्थित किया है। 'लवगलता वा आदर्शबाला' मे रंगपुर के कुमार नरेन्द्रसिंह की बहन लवंगलता को अत्याचारी नवाब सिराजुद्दौला पकड़वाकर हीरा झील नामक महल मे कैद कर लेता है। लवगलता का प्रेमी मदनमोहन उसका उद्धार करता है। इस बीच प्लासी का युद्ध छिड़ता है और सिराजुद्दौला मारा जाता है। इस उपन्यास को हृदयहारिणी का उपसहार भाग कहा गया है। 'मल्लिकादेवी वा बंग-सरोजिनी' में गयासुद्दीन बलवन (१२६६-८६ ई०) के बंगाल के सूबेदार तुगरिल खॉ (१२७९ ई०) के अत्याचारो की कहानी वर्णित है। इसमे लेखक ने कल्पना से अधिक काम लिया है। 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' मे अकबर के खास जौहरी हीराचन्द की पुत्री पन्नाबाई और उसके प्रेमी मानिक की कहानी कही गई है। इस उपन्यास को ऐतिहासिक नही कहा जा सकता। इसके नायक-नायिका इतिहास-प्रसिद्ध नही है। 'गुलबहार वा आदर्श भ्रातृ स्नेह' मे बंगाल के अंतिम नवाब मीर कासिम (१७६०-६५ ई०) की पुत्री गुल और पुत्र बहार की करुण कथा कही गई है। लेखक को इस उपन्यास की प्रेरणा मुंगेर स्थित 'गुल' और 'बहार' की कब्र, क्लाइव की डायरी तथा जनश्रुतियों से प्राप्त हुई। क्लाइव ने नवाब मीर कासिम के पुत्र बहार और पुत्री गुल को निर्दयतापूर्वक मरवा डाला था। इसके बाद ही उसे इंग्लैण्ड से अपने पुत्र और पुत्री की मृत्यु की सूचना मिली

थी। लेखक ने इस करुण कहानी के माध्यम से काल की महिमा का प्रतिपादन किया है। 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' मे लखनऊ के नवाबी महल के वैभव-विलास की विस्तृत कथा चित्रित की गई है। यह कृति 'बादशाह के गुप्त चरित' नामक किसी अंग्रेजी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। लेखक की दृष्टि से नवाबी महल का विलास ही लखनऊ के नवाबो के लिए कब्र बन गया। इसीलिए उपन्यास का नाम 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' सार्थक है। इस कृति मे आद्योपान्त उर्दू भाषा का प्रयोग किया गया है। वातावरण नवाबी काल की मुसलिम संस्कृति के अनुकूल चित्रित किया गया है। लेखक ने इतिहास समर्थक घटनाओं के उल्लेख के साथ ही अनेक ऐसे रहस्यमय प्रसंगो की कल्पना की है, जिनका इतिहास से कोई सम्बन्ध नही है।

गगाप्रसाद गुप्त ने कई ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनमे 'नूरजहाँ' (सन् १९०२ ई०), 'वीर पत्नी' (१९०३ ई०), 'कुमारसिंह सेनापति' (१९०३ ई०), 'हम्मीर' आदि (१९०३ ई०) प्रमुख है।

जयरामदास गुप्त ने 'काश्मीर पतन' (सन् १९०७ ई०), 'रग मे भग' (१९०७ ई०), मायारानी' (१९०८ ई०), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह' (१९०९ ई०), 'कलावती' (१९०९ ई०) तथा 'मल्का चाँद बीबी' (१९०९ ई०) आदि कई ऐतिहासिक परम्परा के उपन्यास लिखे। 'काश्मीर पतन' में रणजीतसिंह द्वारा (१८१८ ई०) मे काश्मीर पर जय प्राप्त करने के बाद उसकी हीनावस्था का चित्रण किया गया है। इसे अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासो की कोटि मे रखा जाता है। 'नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह' मे लखनऊ के अन्तिम नवाब की विलासपूर्ण दिनचर्या, बेगमो की परस्पर ईर्ष्या, रहस्य-गोपन के प्रयत्न मे बाँदियो और सेवको की अकारण हत्या, रूपसियो को प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले छल-प्रपंचो आदि का विस्तृत वर्णन है। किशोरीलाल गोस्वामी की भाँति आपने भी ऐतिहासिक तथ्यो के अभाव मे कल्पना से अधिक काम लिया है। गुप्तजी के अन्य उपन्यास साधारण कोटि के है। कला की दृष्टि से इन उपन्यासो का विशेष महत्त्व नही है।

मथुराप्रसाद सिन्हा का एक ही ऐतिहासिक उपन्यास 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर' (सन् १९०५ ई०) प्रसिद्ध है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे इतिहास अधिक है, कल्पना कम है। वस्तुत' नूरजहाँ का जीवन स्वय उपन्यास है। लेखक ने नूरजहाँ और जहाँगीर के चिरपरिचित वृत्तान्त को कथा-क्रम मे ढालकर उपस्थित किया है।

बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'अनारकली' (१९०० ई०), पृथ्वीराज चौहान' (१९०२ ई०) तथा 'पानीपत' (सन् १९०२ ई०) तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। मिश्रजी ने मुगलकाल के इतिहास से परे जाकर अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के जीवन पर उपन्यास लिखा। यह उनकी एक विशेषता मानी जायगी। मिश्रजी के उपन्यास प्रारम्भिक युग की कृतियाँ है। अतः उनमे कलात्मक

सौष्ठव का अभाव स्वाभाविक है।

बाबू ब्रजनन्दनसहाय ने 'लाल चीन' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखा। इस उपन्यास मे तुर्की गुलामों के सरदार तुगलचीन और दक्षिण के शासक गयासुद्दीन (सन् १३९७ ई०) के सघर्ष की कहानी कही गई है। तुगलचीन को ही उपन्यासकार ने लाल चीन बना दिया है। लेखक ने इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परिस्थितियाँ मानव-चरित्र मे ग्रामूल परिवर्तन कर देती है।

मिश्र-बन्धुओ के 'वीरमणि' नामक ऐतिहासिक उपन्यास मे नैमिषारण्य के नैमिषनाथ त्रिपाठी के पुत्र वीरमणि त्रिपाठी के माध्यम से कान्यकुब्ज ब्राह्मणो का उल्लेख है। लेखको ने वर्तमान हिन्दू समाज की समस्याओ की ओर भी सकेत किया है। उनका दृष्टिकोण सुधारवादी है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के ऐतिहासिक उपन्यासो के सम्बन्ध मे यह जान लेना आवश्यक है कि ये सच्चे अर्थों मे ऐतिहासिक उपन्यास नही है। लेखको कीप्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय-कथाग्रो, विलास-लीलाग्रो, रहस्यपूर्ण प्रसगों तथा कुतूहलवर्धक घटनाक्रमो की कल्पना मे लीन हो जाती है। वे कल्पना से अधिक कार्य लेते है। ऐतिहासिक छानबीन कम करते है। अतीत उनकी मुक्त कल्पना की उडान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है और वे इतिहास की चिन्ता छोड़कर पाठको के चित्त को रजन करने वाली कथा-धारा मे बह जाते है। इसी-लिए इस युग मे उत्तम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गए।

घटनात्मक उपन्यास : तिलस्मी-ऐयारी

तिलस्म शब्द यूनानी 'टेलेस्मा' और अरबी 'तिलस्म' का हिन्दी सस्करण है। इसका अर्थ जादू, इन्द्रजाल या अलौकिक रचना या गड़े हुए धन आदि के ऊपर बनाई गई सर्पादि की भयावनी आकृति है। प्राचीन काल मे राजा और धनाधीश लोग तिलस्मी किले और महल बनवाते थे। तिलस्मी महल प्राय. किसी बहुत बड़े खजाने के ऊपर बनाया जाता था। प्राय: खजाना गाड़ने वाले के वंश मे होने वाला कोई प्रतापी पुरुष ही उसे तोड़कर खजाना प्राप्त करता था। तिलस्म बाँधने में बड़े-बड़े ज्योतिषियो, तान्त्रिको और गुणियो की सहायता ली जाती थी। सामान्यत: जिन उपन्यासो मे नायक द्वारा तिलस्मी महलों को तोडकर खजाना प्राप्त करने की कथा वर्णित होती है, उन्हे तिलस्मी उपन्यास कहते है। इस कार्य मे नायक को अपने ऐयारों से बड़ी सहायता मिलती है। ऐयार अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ तीव्रगामी या चपल व्यक्ति है। देवकीनन्दन खत्री के अनु-सार "ऐयार उसको कहते है, जो हरेक फन जानता हो। शक्ल बदलना और दौड़ना उनका मुख्य कार्य है।"[1] तिलस्मी उपन्यासों में ऐयारों का उल्लेख अवश्य होता है क्योकि इन्ही पर नायक की सम्पूर्ण कार्य-शक्ति केन्द्रित होती है। प्राचीन

1. 'चन्द्रकांता', पाद टिप्पणी, पृ० २।

भारतीय राजनीति के गूढ पुरुषो का महत्त्व स्वीकृत है। गूढ पुरुष अपने राजा का कार्य सिद्ध करने के लिए हर प्रकार का कौशल प्रयोग मे लाते है। ऐयार भी एक प्रकार के गूढ पुरुष ही होते है। हिन्दी मे 'तिलिस्म' के साथ 'ऐयार' का कुछ इस प्रकार अनिवार्य-सा सम्बन्ध जुड गया है कि दोनो को एकसाथ मिलाकर 'तिलस्मी ऐयारी' उपन्यास कहने की परम्परा चल पडी है।

हिन्दी मे 'तिलस्मी-ऐयारी' उपन्यासों के प्रवर्तक देवकीनन्दन खत्री (सन् १८६१-१९१३ ई०) है। आपके पूर्वज लाहौर-निवासी थे। किन्तु बाद मे काशी आकर रहने लगे थे। काशीनरेश की कृपा से आपको चकिया और नौगढ केजगलो का ठेका मिल गया था। इन्ही जगलो और पहाड़ो मे अनेक प्राचीन इमारतो के भग्नावशेषो को देखने से आपकी रहस्यमयी कल्पनाशक्ति स्फुरित हुई और आपने 'चन्द्रकान्ता' (सन् १८८८ ई०) लिखकर हिन्दी मे 'तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासो' का प्रवर्तन किया। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार पहले मौलिक उपन्यास-लेखक, जिनके उपन्यासो की सर्वसाधारण-सी धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।[1] खत्री के 'चन्द्रकाता' उपन्यास का हिन्दी संसार मे अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उत्साहित होकर आपने 'चन्द्रकान्ता सतति—२४ भाग (सन् १८९६ ई०) 'नरेन्द्र मोहिनी' (१८९३ ई०), 'वीरेन्द्र वीर' (१८९५ ई०), 'कुसुमकुमारी' (१८९९ ई०), 'काजरकी कोठरी' (१९०२ ई०), 'गुप्त गोदना' (१९०६ ई०), 'अनूठी बेगम' (१९०५ ई०), भूतनाथ—प्रथम ६ भाग (१९०६ ई०) आदि अनेक उपन्यासो की रचना की। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की नायिका विजयगढ़ की राजकुमारी 'चन्द्रकान्ता' है। नौगढ़ के राजकुमार वीरेन्द्रसिंह उसके प्रेमी और उपन्यास-लेखक है। 'चन्द्रकान्ता' अपनी सखी चपला के साथ एक तिलस्म मे फँस जाती है। राजकुमार वीरेन्द्रसिह अपने ऐयारो की सहायता से तिलस्म तोड़ कर राजकुमारी को मुक्त करते है। अत मे दोनो का सौभाग्यपूर्ण मिलन होता है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' मे महारानी चन्द्रकान्ता के दो पुत्रो की कथा वर्णित है। महारानी के दोनों पुत्रो को दो राजकुमारियाँ प्रेम करती हैं, और उन्हे सदा के लिए अपना बनाने के उद्देश्य से एक रहस्यमय तिलस्म मे बन्द कर देती है। अपने ऐयारो की सहायता से दोनों राजकुमार तिलस्म को तोड़ने मे सफल होते है। वे न केवल उन रानियो के चँगुल से छूटते है, वरन् तिलस्म मे गडी हुई अपार धन-राशि भी प्राप्त करते हैं। 'नरेन्द्र मोहिनी' मे राजकुमार नरेन्द्र पर एक साथ दो राजकुमारियाँ आसक्त होती हैं। इन राजकुमारियो मे एक अत्यन्त धूर्ता एव कुटिला है। वह राजकुमार को धोखे मे डालकर तिलस्म मे फँसा लेती है। अंतत· राजकुमार मुक्त होता है और दूसरी राजकुमारी (मोहिनी), जो सरलहृदया और राजकुमार की सच्ची अनुरागिनी है, को प्राप्त करता है। 'भूतनाथ' मे चन्द्र-कान्ता सतति के ही एक अत्यन्त कुशल ऐयार भूतनाथ की दिलचस्प कथा वर्णित

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४९८।

है। वस्तुत. इन तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासो के मूल मे राजकुमारो और राजकुमारियों की प्रेम-कहानियाँ वर्णित है। घटनाओं के विकास-क्रम मे तिलिस्मो के विस्तृत वर्णन तथा नायकों-खलनायकों एव उनके ऐयारो के कौशल-विस्तार द्वारा कुतूहल उत्पन्न किया गया है।

देवकीनन्दन खत्री के बाद हरेकृष्ण जौहर ने इस क्षेत्र मे अपना जौहर दिखाया। उन्होंने 'कुसुमलता' (सन् १८९९ ई०), 'भयानक भ्रम' (१९०० ई०), 'नारी पिशाच' (१९०१ ई०), 'मयक मोहिनी या माया महल' (१९०० ई०) जादूगर (सन् १९०१ ई०), 'कमल कुमारी' (१९०२ ई०), 'निराला नकाबपोश' (१९०२ ई०), तथा 'भयानक खून' (१९०३ ई०) आदि कई तिलस्मी उपन्यास लिखे।

किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के साथ ही कुछ तिलिस्मी उपन्यास भी लिखे। उनका तिलिस्मी शीशमहल (१९०५ ई०) इसी परम्परा का उपन्यास है।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री (१८९५ ई०) ने अपने पिता की परम्परा को जीवित रखा। उन्होंने 'भूतनाथ' को पूरा किया और 'रोहतास मठ' नामक मौलिक तिलस्मी उपन्यास लिखा।

स्फुट प्रयत्नो मे देवीप्रसाद उपाध्याय का 'सुन्दर सरोजिनी' (१८९३ ई०) गुलाबदास का 'तिलिस्मी बुर्ज', विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा का 'वीरेन्द्र कुमार' (१९०६ ई०), रामलाल वर्मा का 'पुतली का महल' (१९०८ ई०) आदि उपन्यास उल्लेखनीय है। वस्तुतः तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासो के क्षेत्र मे सर्वाधिक सफलता बाबू देवकीनन्दन खत्री को मिली। इनके उपन्यासो का इतना प्रचार हुआ कि ऐतिहासिक उपन्यासो में भी तिलस्मी पुट दिया जाने लगा। इन उपन्यासों को रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य-कोटि मे नही रखा है। माताप्रसाद गुप्त के अनुसार अति प्राकृत भावना के आधार पर लिखे गए इन उपन्यासो की लोकप्रियता के लिए मध्ययुगीन विकृत रुचि ही उत्तरदायी है। कुछ भी हो, हिन्दी के प्रचार-प्रसार मे जितना योग इन तिलस्मी उपन्यासो का है, उतना अन्य किसी गद्य-विधा का नहीं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

घटनात्मक उपन्यास : जासूसी

उन्नीसवी शती मे अंग्रेजी मे सर आर्थर कानन डायल (१८५९-१९३० ई०) के जासूसी उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। अंग्रेजी के प्रभावस्वरूप बंगला मे भी जासूसी उपन्यास लिखे जाने लगे। सन् १८९८ ई० मे गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६ ई०) ने बंगला से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनूदित कर प्रकाशित कराया। इसे पाठको ने पसन्द किया। उत्साहित होकर गहमरीजी ने १९०० ई० मे गहमर से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाला। इसके लिए आपको निरंतर जासूसी उपन्यास लिखने पड़े। आपने लगभग २०० जासूसी उपन्यास लिखे। आपके

उपन्यासों में 'अद्भुत लाश' (१८९६ ई०), 'गुप्तचर' (१८९९ ई०), 'बेकसूर की फाँसी' (१९०० ई०), 'सरकती लाश' (१९०० ई०), 'खूनी कौन' (१९०० ई०), 'बेगुनाह का खून' (१९०० ई०); 'जमुना का खून', (१९०० ई०), 'डबल जासूस' (१९०० ई०), 'मायाविनी' (१९०१ ई०), 'चक्करदार चोरी' (१९०१ ई०), 'जासूस की भूल' (१९०१ ई०), 'भयकर चोरी' (१९०१ ई०), 'जादूगरनी', 'मनोरमा' (१९०१ ई०), 'मालगोदाम की चोरी' (१९०२ ई०), 'जासूस की चोरी' (१९०२ ई०), 'अद्भुत खून' (१९०२ ई०), 'जासूस पर जासूसी' (१९०४ ई०), 'डाके पर डाका' (१९०४ ई०), 'जासूस चक्कर मे' (१९०२ ई०), 'खूनी का भेद' (१९१० ई०), 'खूनी की खोज' (१९१० ई०), 'इन्द्रजालक जासूस' (१९१० ई०), 'लाइन पर लाश' (१९१० ई०), 'किले मे खून' (१९१० ई०), 'भोजपुर की ठगी' (१९११ ई०), 'गुप्त भेद' (१९१३ ई०) 'जासूस की ऐयारी' (१९१४ ई०) आदि प्रसिद्ध है। जासूसी उपन्यासो मे प्रायः चोरी-डकैती, खून-ठगी आदि से सम्बन्धित कोई भयकर काण्ड घटित हो जाता है। जासूस उसके सुराग मे लग जाता है। क्रमश उसी प्रकार के अन्य काण्ड घटित होते है। कथानक उलझ जाता है। अन्तत. जासूस की बुद्धि, धैर्य, साहस और कौशल से घटना का रहस्य उद्घाटित होता है। इसी टेकनीक के आधार पर ये उपन्यास लिखे जाते है। इन उपन्यासो का उद्देश्य भी हल्के ढग का मनोरंजन ही है। उद्देश्य की दृष्टि से तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यासो के निकट होते हुए भी वस्तुत. ये उपन्यास उनसे भिन्न कोटि के होते है। जासूसी उपन्यासो मे घटित होने वाली घटनाएँ जीवन की यथार्थ स्थिति के निकट होती है। उनमे कल्पना के साथ ही बुद्धि का भी योग होता है। गोपालराम गहमरी ने अपने उपन्यासो मे एक प्रकार का नैतिक दृष्टिकोण भी रखा है। इन्होनेआचरणशील पात्रो के जीवन का अंतिम परिणाम शुभ दिखाकर युग की आदर्शवादी मनोवृत्ति के साथ अपना मानसिक तादात्म्य दिखाया है। उन्हे हिन्दी का 'कानन डायल' कहा गया है।

बाबू गोपालराम गहमरी के बाद रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता', 'अस्सी हजार की चोरी' आदि कई उपन्यास लिखकर जासूसी उपन्यासों की परम्परा को जीवित रखा। इनके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'जिन्दे की लाश' (१९०६ ई०), जयरामदास गुप्त का 'लगडा खूनी' (१९०७ ई०) तथा काला चाँद', रामप्रसाद लाल का 'हम्माम का मुर्दा' (१९०३ ई०) आदि उपन्यास भी जासूसी-परम्परा मे रखे जा सकते है। जासूसी उपन्यासो के क्षेत्र मे सर्वाधिक सफलता बाबू गोपालराम गहमरी को ही प्राप्त हुई।

घटनात्मक उपन्यास : अद्भुत घटनाप्रधान

प्रेमचन्द-पूर्व युग मे ऐसे घटनात्मक उपन्यास लिखे गए जिनमे चोरी-डकैती, जाल-फरेब, जुआ, खून आदि से सम्बन्धित अद्भुत काण्डो का जाल रहता था।

इस प्रकार के उपन्यासों की प्रेरणा रेनाल्ड्स कृत 'मिस्ट्रीज ऑफ दी कोर्ट ऑफ लन्दन' के अनुवाद 'लन्दन रहस्य' से प्राप्त हुई थी। उपन्यास तिलस्मी ऐयारी और जासूसी उपन्यासों से भिन्न होते हुए भी मनोरंजन में उनसे किसी प्रकार भी कम न होते थे। रोमांचकारी रहस्य इन उपन्यासों का प्राण होता था। इन उपन्यासों में श्री निहालचन्द वर्मा कृत 'प्रेम का फल' या 'मिस जौहर' (सन् १६३१), प्रेमविलास वर्मा कृत 'प्रेम माधुरी' या 'अनंग कान्ता' (१६१५ ई०) श्री विट्ठलदास नागर कृत 'किस्मत का खेल' (१६०५ ई०), श्री बाँकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफनाक खून' (१६१२ ई०) आदि उल्लेखनीय है। इस परम्परा में आगे चलकर श्री दुर्गाप्रसाद खत्री ने वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर रहस्य की सृष्टि करते हुए 'प्रतिशोध' (१६२५ ई०), 'लाल पंजा' (१६२५ ई०), 'रक्तमंडल' (१६२७ ई०) आदि उपन्यासों की रचना की। श्री दुर्गाप्रसाद खत्री के इन उपन्यासों में रहस्य के साथ ही राष्ट्रीयता एवं सशस्त्र क्रांति की भावना का भी सन्निवेश किया गया है। यद्यपि ये उपन्यास प्रेमचन्द-युग के आरम्भ (सन् १६१८ ई०) के बाद लिखे गए हैं किन्तु इनमें मनोरंजन और रहस्यसृष्टि की परम्परा ही विद्यमान है।

अनूदित उपन्यास

भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद की परम्परा आरम्भ हो गई थी। प्रेमचन्द-पूर्व युग में सबसे अधिक अनुवाद बंगला साहित्य से किये गए। मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजी और उर्दू से भी कुछ अनुवाद हुए। बंगला अनुवादों से हिन्दी उपन्यास साहित्य का स्तर थोड़ा ऊँचा हुआ। भारत में नवीन सामाजिक जागरण का आरम्भ बंग प्रदेश से ही हुआ था। अतः उपन्यासों के अनुवाद के माध्यम से उस नवीन जागृति का विस्तार हिन्दी प्रदेश में भी हुआ। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगला-साहित्य में बंकिमचन्द्र चटर्जी (सन् १८३८--९४ ई०), दामोदर मुकर्जी (१८५३--१९०७ ई०), रमेशचन्द्र दत्त (१८४८--१९०९ ई०), तारकनाथ गांगुली (१८४५--९१ ई०) तथा स्वर्णकुमारी (१८५५-१९३२ ई०) के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे। इसलिए प्रारम्भ में हिन्दी के अनुवाद प्रकाशित हुए। श्री गदाधरसिंह ने रमेशचन्द्र दत्त कृत 'बंग विजेता' और बंकिमचन्द्र कृत 'दुर्गेश नन्दिनी' का अनुवाद किया। रमेशचन्द्र दत्त कृत 'माधवी कंकण' और 'राजपूत जीवन संध्या' का अनुवाद जनार्दन झा ने क्रमशः सन् १९१२ ई० और १९१३ ई० में किया। 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात का अनुवाद रुद्र नारायण ने किया। बाबू राधाकृष्णदास ने तारकनाथ गांगुली के 'स्वर्णलता' का अनुवाद किया। प्रतापनारायण मिश्र ने बंकिम कृत 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधा-रानी' और 'युगलांगुरीय' का अनुवाद किया। राधाचरण गोस्वामी ने दामोदर मुकर्जी के 'मृण्मयी' का अनुवाद किया। मुंशी उदितनारायण लाल ने स्वर्णकुमारी कृत 'दीप निर्वाण' का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त राधाचरण

गोस्वामी ने 'विरजा' और 'जाविनी', बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौर चातकी' (१८९५ ई०), बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१८९५ ई०) और 'प्रमिला' (१८९६ ई०), 'जया' तथा 'मधुमालती' तथा बाबू गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चचला' (१८९३ ई०), 'भानमती' (१८९४ ई०), 'नये बाबू' (१८९४ ई०), 'बड़ा भाई' (१९०० ई०), 'देवरानी-जिठानी' (१९०१ ई०), 'दो बहने' (१९०२), 'तीन पतोहू' (१९०४ ई०) आदि उपन्यासो का अनुवाद किया। गहमरीजी ने प्राय. भावानुवाद प्रस्तुत किया है। इस युग के अनुवादको की भाषा परिमार्जित नही है। आगे चलकर ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पाडेय ने शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी मे अच्छे अनुवाद प्रस्तुत किये।

'मराठी' से 'चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश' का अनुवाद श्रीमती मल्लिकादेवी ने भारतेन्दु से प्रेरित होकर किया था। बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित 'छत्रसाल' की अच्छी प्रसिद्धि हुई थी। गुजराती से लज्जाराम शर्मा ने 'कपटी मित्र' का अनुवाद किया, अग्रेजी से रेनाल्ड्स कृत 'लैला', 'लन्दन रहस्य' और 'नर-पिशाच' अनूदित हुए। 'नर-पिशाच' का अनुवाद हरेकृष्ण जौहर ने किया। श्रीमती स्टो (१८११–९६ ई०) कृत 'टाम काका की कुटिया' का अनुवाद भी उसी समय हुआ। उर्दू से अनुवाद करने वालो मे बाबू रामकृष्ण वर्मा और गगाप्रसाद गुप्त उल्लेखनीय है। वर्माजी ने कुछ अद्भुत घटना-प्रधान उपन्यासो—'अमला वृत्तान्त माला', 'कास्टेबुल वृत्तान्त माला', 'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि का अनुवाद उर्दू से किया। गगाप्रसाद गुप्त ने 'पूना मे हलचल' का अनुवाद किया।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के उपर्युक्त अनूदित उपन्यासो का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग है। इन अनुवादों के माध्यम से हिन्दी लेखको का मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ और उन्होने हिन्दी उपन्यास साहित्य को अधिक प्रेरणाप्रद और कलात्मक बनाने की चेष्टा की।

उपसंहार

प्रेमचन्द-पूर्व युग मे उपन्यास साहित्य की रचना नवीन सामाजिक मूल्यो की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त काव्य-माध्यम की खोज के परिणाम-रूप मे आरंभ हुई थी। प० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने तत्कालीन नारी-समाज मे व्याप्त मध्ययुगीन अधविश्वासपूर्ण कुरीतियो को मिटाकर उन्हे नवीन युग के अनुकूल आचरण करने मे समर्थ बनाने के लिए ही 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना की थी। 'परीक्षा-गुरु', 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा सौ सुजान एक अजान' आदि उपन्यासो की रचना सामाजिक उत्थान की प्रेरणा से ही की गई थी। हिन्दी प्रदेश मे नवीन सामाजिक चेतना को जनसाधारण तक पहुचाने का श्रेय आर्यसमाज (१८७८ ई०) आन्दोलन को है। इस आन्दोलन का हिन्दी साहित्य पर व्यापक प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यासकारो मे रुद्रदत्त शर्मा,

श्यामकिशोर वर्मा तथा श्रीकृष्णलाल वर्मा आदि आर्यसमाज से प्रेरित थे। आर्यसमाज आन्दोलन की प्रक्रियास्वरूप सनातन धर्म ने भी नई शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की। प्रेमचन्द-पूर्वयुग के प्रमुख सामाजिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी, लल्जाराम शर्मा, गगाप्रसाद गुप्त—सनातन धर्म के समर्थक थे। इन दोनो पक्षो के बीच अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मन्नन द्विवेदी प्रभृति उपन्यासकार आते है जो किसी सुधारवादी आन्दोलन के सदस्य नही थे, किन्तु हिन्दू धर्म मे युगानुकूल परिवर्तन एवं सुधार चाहते थे।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के अर्द्धशिक्षित पाठको के सस्कार अधिक उन्नत नही थे। उनमे सुरुचि का अभाव था। वे अब भी सो रहे थे। उपन्यासकारो का एक बहुत बड़ा समुदाय उन्हे जगाने के बजाय उनके मनोरंजन मे ही लग गया। फलस्वरूप प्रेम-प्रधान, रोमांचकारी, साहसिक तथा अद्भुत घटना-प्रधान उपन्यासों की भरमार हो गई। हिन्दी कथा-साहित्य का क्षितिज तिलिस्मी-ऐयारी, जासूसी और साहसिक उपन्यासो की रगीन पतगों से भर गया। इस युग के सबसे बडे उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी भी प्रेम, चुहल, रोमास और कुतूहल के रहस्य-लोक के निर्माण में प्रवृत्त दिखाई पडते है। पाठको की मनोतुष्टि के प्रयत्न मे एक ही स्तर की सस्ती भावुकता और रहस्य-विधायनी कल्पना को महत्व देते हुए उपन्यासकार अपने व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य को खो बैठे। मनोरंजन-प्रधान ये उपन्यास आज इतिहास की वस्तु बनकर रह गए है।

प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास साहित्य की प्रेरक, सशक्त और स्फूर्तिदायिनी परम्परा सामाजिक जागृति के वाहक उपन्यासों की ही मानी जा सकती है। इन्ही उपन्यासों ने 'सेवा सदन' की रचना की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। प्रेमचन्द के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नये युग का आरम्भ हुआ, प्रेमचन्द इस नवीन युगचेतना के अग्रदूत बने।

हिन्दी उपन्यास का क्रमिक विकास : प्रेमचन्द-युग

डॉ० मक्खनलाल शर्मा

जब कोई देश एक शक्ति के हाथ से छूटकर दूसरी शक्ति के अधिक चतुर और राजनीति-कुशल हाथो मे पहुँचता है तो उससे देश की राजनीति मात्र मे ही परिवर्तन नहीं होता है, वरन् एक बार तो सारा समाज ही प्रभावित हो जाता है। सारे जन-जीवन, समाज, राजनीति, संस्कृति और साहित्य के मापक मान-मूल्य बदलने लगते है। ऐसे अनेक परिवर्तन भारतीय राजनीति मे आए है और प्रत्येक परिवर्तन एक नये मोड, नई दिशा का मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है। मुसलमानो से प्रभावित भारतवर्ष का जो नया रूप बना था, उस पर सभी दृष्टियो से प्रत्येक क्षत्र में अंग्रेजी प्रभाव पडा। अंग्रेजों से पूर्व फ्रासीसी, पुर्तगाली और डचो ने यहाँ अपने पैर जमाने की चेष्टा की थी, किन्तु अंग्रेजों के सामने उनकी एक न चली और धीरे-धीरे वे सिमटते गए तथा अंग्रेज फैलते गए। जहागीर के समय में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास मे विदेशी केवल व्यापार हेतु आए थे, किंतु भारतीय राजनीति मे कमजोरी से अधिक चातुर्य और अवसरवादिता के कारण यहाँ के शासक बन गए। देशी राजा चाहे आपस में द्वेष रखते हो, किन्तु अंग्रेजो की पराधीनता उन्हे खलने लगी थी। ईसाई धर्म-प्रचार ने इसमे आहुति का काम किया। साधारण जनता को अंग्रेजो का शासन, रहन-सहन और सुधारवादी नीति केवल भ्रष्टाचार और धर्म-भ्रष्ट करने का एक कौशलपूर्ण ढग मात्र प्रतीत हुई। धीरे-धीरे इस भाव को विकसित करने का कार्य किया जाने लगा और एक समय आया जब १८५७ की सशस्त्र क्राति के रूप मे इस असतोष को व्यक्त किया गया। यह क्राति केवल कुछ राजाओ और नवाबो की क्राति न थी वरन् उसमें कुछ अवसरवादियो को छोडकर सारे समाज का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग था, जिसने एक बार को तो अंग्रेजो की चौकडी भुला दी, किन्तु दमन-नीति के कारण अन्त में वे इसमें विजयी हुए और भारत ब्रिटिश इंडिया कपनी के हाथों से निकलकर इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया के अधिक शक्तिशाली पजे मे चला गया। इस परिवर्तन ने सारे भारतीय जीवन और विचार-क्षेत्र को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। इसका फल यह हुआ कि हम लोग पश्चिम के रंग में रगने लगे तथा देश का धन विदेशी कोषों को भरने लगा।

इस भारतीय दासता की कहानी का दूसरा पहलू भी है। अंग्रेजो ने रेल,

तार, डाक, नहर, सड़क, अंग्रेजी शिक्षा, स्थानीय स्वायत्त शासन आदि के द्वारा भारतीय जनता को विकसित किया और धीरे-धीरे उन्हें यन्त्र-युग की ओर अग्रसर किया। अनेक भारतीय इंग्लैण्ड जाकर अध्ययन करने लगे और लौटकर अंग्रेजी जीवन के प्रभावस्वरूप भारत में भी अपने शासन की माँग के सहयोगी सिद्ध हुए। उनमें से हीनता की भावना कम होने लगी और युग की माँग का आभास उन्हें अधिक स्पष्ट रूप से होने लगा। इतना ही नहीं, यूरोपीय देशों के अनेक विद्वान भारत आए और यहाँ के साहित्य, कला, इतिहास और संस्कृति आदि की विशेष खोजें हुई, जिससे भारतीय जनता का खोया हुआ आत्म-विश्वास जागने लगा और विदेशियों को अपनी ओर आकर्षित देखकर वे स्वयं अपने स्वरूप से परिचित होने के लिए मचल पड़े। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण का प्रारम्भ हुआ। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज आदि समाजव्यापी आंदोलन छेड़े गए जिनसे अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ मिटने लगी और राष्ट्र-प्रेम तथा स्वदेशी की भावना जोर पकड़ने लगी।

सारा देश एकता के सूत्र में बँधने लगा। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना एक अंग्रेज द्वारा हुई, जिसका प्रारम्भिक उद्देश्य सरकार के प्रति भारतीय जनता का मैत्री-भाव प्रकट करना था। किन्तु थोड़े समय बाद ही जब मध्यम वर्ग जागरूक होकर कांग्रेस का सहयोगी होने लगा तो अंग्रेजों के कान खड़े हुए। मुसलमान इससे अलग ही रहे। उनमें से अभी शासक की बू पूरी तरह नहीं गई थी। सर सैयद अहमद खाँ जैसे मुस्लिम नेता इसके विरोधी बने हुए थे। आगे जब तिलक ने इस आन्दोलन और संस्था को अपने हाथ में ले लिया तो संस्थान नरम दल और गरम दल दो दलों में विभक्त हो गई। तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष आदि गरम दल के नेता थे और नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, गोखले और मालवीय आदि नरम दल के। गरम दल का प्रभाव बढ़ने लगा था, और तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा लगा दिया था, जिसका युवकों पर विशेष रूप से जादू का-सा प्रभाव पड़ने लगा। १९०७ ई० के सूरत अधिवेशन में दोनों दल अलग-अलग हो चुके थे और १९०७-८ ई० में बंगाल में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टाएँ की गई थी। सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ जाने से कांग्रेस का कार्य ढीला पड़ने लगा और आदर्शपरायण भारतीय जनता अंग्रेजों पर आपत्ति आयी समझकर शासक और शासित का भेद भुलाकर युद्ध में पूर्ण सहयोग देने लगी। इधर कांग्रेस ने भी मुसलमानों के असहयोग की अपनी कमी को पूरा करने के लिए १९१६ ई० में लखनऊ में मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त किया और गरम व नरम दल के सहयोग के प्रयत्न भी किए गए। १९१६ ई० में तिलक की मृत्यु के पश्चात् महात्मा गांधी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्व चला गया और थोड़े ही समय में वे 'राष्ट्रपिता' के आसन पर सुशोभित होकर कांग्रेस की बागडोर सँभालने लगे। उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने का सफल यंत्र 'असह-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] या। सारा प्रेमचन्द-युगीन साहित्य इन्हीं प्रेरणाओं और

राजनीतिक समस्याओ से ओत-प्रोत है।

आलोच्य काल मे शहरो मे पूँजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी। नई-नई फैक्टरियाँ और बड़े-बड़े मिल खोलने के लिए अंग्रेज और भारतीय दोनों प्रयत्न-शील थे। टाटा ने लोहे का कारखाना खोल दिया था और बिजली के आविष्कार के कारण औद्योगिकरण धीरे-धीरे विकसित होता जा रहा था। देहात मे शुद्ध सामतवादी युग था। अनेक अग्रेज भी नील की खेती करने के बहाने गाँवों मे जाकर बस गए थे और भारतीय भूमि तथा भारतीय श्रमिक की दयनीयता से लाभान्वित हो रहे थे। मुगलो के समय का विश्व का सबसे बड़ा शहर आगरा व्यापारिक या औद्योगिक नगर न होने के कारण बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की अपेक्षा अत्यन्त नगण्य शहर होता चला जा रहा था। लन्दन विश्व का सबसे बडा बाजार था, जिसमे सारा यूरोप समाता चला जा रहा था, भारतीय व्यापारी कमीशन एजेण्ट से अधिक कुछ नही थे। वे यूरोपीय सामान को भारतीय मण्डियों तक भेजने और भारतीय मण्डियो के कच्चे माल को जहाजों मे लदवाने का व्यापार करके ही अपने को कृतकृत्य समझ रहे थे।

मुगल शासन के अन्त के साथ विलासप्रियता और मद्यपान का अन्त नही हुआ था, वरन् ये भारतीय जीवन के अविच्छिन्न अंग बनते जा रहे थे। समाज के प्रत्येक वर्ग मे अन्धविश्वास, अशिक्षा और अनेक प्रकार की कुरीतियाँ फैली हुई थी। ज्योतिष और धार्मिक अन्धविश्वास जनता को ठगता जा रहा था। बडे-बडे मदिर और मठ व्यभिचार तथा पतन के गढ बनते चले जा रहे थे। हीनता की भावना का ज्ञान इस बात से हो जाता है कि उड़ीसा और सिलहट आदि मे तो छोटे-छोटे बच्चो को नपुसक बना दिया जाता था। स्त्रियो मे पर्दा विशेष था और अशिक्षा तथा रूढि का सर्वत्र बोलबाला था। स्त्री-स्वातन्त्र्य की बात भी सोचना सभव नही था।

अठारह वर्ष (१९१८–३६) के प्रेमचन्द के युग मे तत्कालीन इतिहास और समाज का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यास को समाज के सघर्षपूर्ण अस्तित्व की व्याख्या कहा गया है। सम्भवतः यह कसौटी प्रेमचन्द-युगीन उपन्यास साहित्य को देखकर ही ठहराई गई प्रतीत होती है। प्रेमचन्द-युग तक आते-आते हिन्दी उपन्यास को कल्पना, रोमास, ऐयारी, तिलिस्मी तथा ऐतिहासिक भूमियाँ उपलब्ध हो चुकी थी, किन्तु इनमे प्रारम्भिक बचकानापन था और था प्रौढता का नितान्त अभाव। प्रेमचन्द-युगीन सघर्परत सामाजिक चेतना को नये अभिव्यक्ति-माध्यमों की अपेक्षा थी और समग्र चेतना की अभिव्यक्ति केवल उपन्यास द्वारा ही सम्भव थी। इसी का परिणाम हिन्दी उपन्यास का विकास है।

पुनर्जागरण काल ने हिन्दी उपन्यास को गहरे आदर्शवाद के रग मे डुबो दिया था। पथभ्रष्ट युवक के सुधार की कहानी 'परीक्षा-गुरु' से जो प्रारम्भ हुई तो सारे कथा-साहित्य को धीरे-धीरे उसने अपने क्रोड़ मे समेट लिया। प्रेमचन्द ने यद्यपि

इसका बहिष्कार तो न किया, किन्तु इसे सूक्ष्म और अधिक कलात्मक बना दिया। इसे मनोविज्ञान और यथार्थ की भूमियों पर उतारा गया, जिससे वह अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय, कलात्मक और व्यापक स्वरूप धारण करता चला गया। इस काल मे सामाजिक चेतना अनेक स्वरूपों मे आकलित की गई और हिन्दी उपन्यास मे वैविध्य को स्थान मिला। इस काल मे प्रेमचन्द, निराला, प्रसाद, कौशिक, जैनेन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन, ऋषभचरण, पाण्डेय बेचन शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, श्रीनाथसिह, प्रतापनारायण, सियारामशरण, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पत, राधिकारमण प्रसाद सिह आदि उल्लेखनीय उपन्यासकार समाज के प्राय सभी प्रमुख प्रश्नो को लेकर आगे आए।

प्रेमचन्द और उनके सहयोगियो ने प्राय' मध्यम वर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। हिन्दी कविता मे मर्यादा-पुरुषोत्तमो, राजाओ, सम्राटो और महान् पुरुषो का यथेष्ट कीर्ति-गान हो चुका था और जनता सोच रही थी कि मर्यादा-पुरुषोत्तम तो केवल आदर्श रहा होगा। राजा और सम्राट् हम नही है और न कभी हो सकते है। उनके दु ख और सुख चाहे हमारे जैसे ही हो, किन्तु उनका कारण निश्चित रूप से हमारे जैसा नही है। उन्हे रोटी-कपडे की तगी और शासित होने की आशका भी नही थी, जबकि हम दिन-रात यही यातना भोग रहे हे। पुनरुत्थान-काल के 'प्रिय प्रवास' के नायक (कृष्ण) के साथ भी अब उनका तादात्मय सम्भव नही था क्योकि समस्याएँ बदल चुकी थी और उनके निराकरण के प्रकार भी। विज्ञान के चमत्कार दिन-रात बढते हुए हमारी दासता को और सुदृढ कर रहे थे। एक कस होता तो कोई कृष्ण उत्पन्न होकर उसकी मृत्यु का कारण बन सकता था, किन्तु अब तो हजारो कंस समुद्र पार से आकर सर्वस्व का अपहरण करके अपने देश को ले जा रहे थे, और यही तक नही, हमारे घरों मे भी असंख्य कसों के वशज उत्पन्न हो चुके थे, जो उन्हे सहयोग देकर इस दासता के पाशों के प्रकारो को सुदृढ कर रहे थे। अब तो घर-घर मे कृष्ण के उत्पन्न होने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। यदि आदर्शवाद (महान् पुरुषत्व) घर-घर मे लाना है तो उसे यथार्थ या सामान्य की सज्ञा देनी पडेगी और यही हुआ। प्रेमचन्द ने सामान्यजनो को अपना नायक बनाया और सामान्य दैनिक जीवन की समस्याओ को उनके यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया गया। यथार्थ मे तो नायक समाज को (देश तक को) ही स्वीकार करना था, किन्तु यह धीरे-धीरे ही होना था, इसीलिए उस स्तर तक पहुँचने के लिए प्रारम्भिक स्थिति को भी पार करना था। यूरोप में उपन्यास-कला यथेष्ट विकसित हो चुकी थी और अब उसे 'युद्ध और शाति' जैसी उपलब्धियाँ होने के कारण हिन्दी मे भी यही दृष्टिकोण बढ़ने लगा। 'युद्ध और शाति' मे वेश्यावृत्ति के प्रश्न को राष्ट्र की भूमिका मे सुभाया गया है। प्रेमचन्द ने सामाजिक प्रश्नो को ही प्रमुखता दी और राजनीतिक तथा नारी-समस्या के मूल प्रश्न सामने लाए गए। टूटते हुए सामन्तवादी समाज और विक-सित होती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के सन्धिस्थल पर खड़े होने के कारण प्रेमचन्द

युग का महत्त्व और उत्तरदायित्व काफी बढ़ गया था।

इस काल मे सामाजिक कुरीतियो मे वेश्यावृत्ति की विभीषिका सभी को स्पष्ट हो चुकी थी। जिस समस्या को 'परीक्षा-गुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' में उठाया गया था, प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' मे उसी को प्रमुखता प्रदान की। उन्होने इस समस्या को अनेक पहलुओ से उठाया और उन कारणो पर भी प्रकाश डाला जो नारियो को वेश्या बनने पर मजबूर कर देते है। इस चित्रण मे प्रेमचन्द शॉ, इब्सन और गाल्सवर्दी के समान तीव्र और भारी कटु नही हुए, वरन् उन्हे तो नारी की इस दयनीय दशा पर सदैव ही तरस आया और इस वर्णन मे उन्होने सदैव सहृदयता का पल्ला पकड़े रखा, आदर्शवादी होने के कारण उनकी ध्येयोन्मुखता उन्हे दूर तक खीच ले गई और अपने उपन्यास की सारी शक्ति उन्होने इस प्रश्न का निराकरण करने मे लगा दी। उन्हे सेवा-सदन खुलवाना ही इस समस्या का सुन्दर समाधान प्रतीत हुआ और सम्भवतः वे इस समाधान से कुछ समय के लिए आश्वस्त भी हो गए होगे। किन्तु इस प्रश्न को अन्य लेखको ने इतना आसान न समझा। उन्होने इस प्रश्न को उठाया और उठाकर छोड दिया—हॉ, उसका समाजव्यापी प्रभाव अवश्य दिखाया। प्रेमचन्द के समान वे इसका तुरन्त निराकरण खोजने की चिन्ता मे अवश्य रहे होगे किन्तु कोई हल प्रस्तुत करना उनके बूते की बात न हुई। इस प्रश्न को कौशिक, राजेश्वरप्रसाद, ऋषभचरण जैन, मुक्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला और धनीराम प्रेम आदि ने उठाया,[1] किन्तु मूल प्रेरक शक्ति 'सेवा-सदन' ही है। प्रेमचन्द से पूर्व सामाजिक उपन्यासो मे एक-दो प्रश्नों को लेकर ही घटनाक्रम सजाया जाता था और पात्र Proto type होते थे किन्तु प्रेमचन्द ने समग्र जीवन और समाज के सभी पहलुओ को उपन्यासो में सँजोया। 'सेवा-सदन' मे ही दहेज-प्रथा, रिश्वतखोरी, सामाजिक सम्मान का मिथ्यात्व, अनमेल विवाह और पारिवारिक कलह आदि के अनेक प्रश्न गुम्फित है। हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम, स्थानीय निकाय-निर्वाचन आदि की समस्याएँ भी इसमे स्थान पा गई है। इतना ही नही, असन्तुष्ट गृहस्थ के साधु-जीवन-यापन पर भी इसमे तीव्र व्यंग्य उपस्थित किया गया है। इन सभी समस्याओं के पुंजीभूत कलात्मक स्वरूप का नाम है 'सेवा-सदन'। अनमेल विवाह और दहेज की समस्या का अनुभव इस काल के समाज के हृदय के घावो पर नमक बन रहे थे। प्रेमचन्द

१. राजेश्वरप्रसाद, 'मंच', १९२८।
कौशिक, 'माँ', १९२९।
ऋषभचरण, 'वेश्यापुत्र', १९२९।
निराला, 'अप्सरा', १९३१।
धनीराम प्रेम, 'वेश्या का हृदय', १९३२।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'पतिता की साधना', १९३६।
प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', 'पाप और पुण्य', १९३९ इत्यादि।

जैसे युग-कलाकार इससे विशेष प्रभावित हुए और इस विषय को बार-बार अपनी कलम से उभारते रहे। उन्होंने 'निर्मला' (१९२३) मे इन्ही समस्याओं को उपस्थित करने के लिए लिखा। 'निर्मला' में उनका विवेचित समाज सीमित और एक परिवार का ही है; यद्यपि समस्याएँ सुझाव रूप से व्यापक हे, किन्तु परिधि छोटी है। संवेदना की गहराई और सामाजिक मूल्यों की चुनौती 'अन्ना कैरेनिना' के प्रकार की है। निर्मला की ट्रेजेडी अन्ना की याद दिला देती है। सभी प्रकार से त्रस्त और बंदिनी नारी अन्त तक संघर्ष करती है, किंतु सिवा निराशा के उसके हाथ कुछ नही आता। जिसे वह प्रेम करती है—उसे अलग कर दिया जाता है; जिससे प्रेम किया जाना अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक है, वह प्रेम की अपेक्षा करता है; जो घृणास्पद है। वह प्राचीन होने वाले सम्बन्धो की दुहाई देकर उससे प्रेम-याचना करता है—ये है नारी-जीवन की कुछ विडम्बनाएँ जिन्हे निर्मला मे देखा जा सकता है। मध्यवर्गीय समाज की कुण्ठाओ और अर्थ-नीतियो की वैषम्यता समाज की जड़ता और शोषण का कारण है। अनेक कारणो से विवाहित युग्मों मे से अधिकाश अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट है और समाज के भय से ही भीत होकर इन बन्धनो को अस्वीकार करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हे। 'निर्मला' की ट्रेजेडी भारतीय नारी की ट्रेजेडी है। जिस कलाकार की भूमिका जितनी विशाल होगी, वह जितने व्यापक कैनवास को अपनायेगा, वह उतना ही महान् कलाकार होगा। प्रेमचन्द के इस छोटे उपन्यास 'निर्मला' में सारी पीड़ित नारियाँ अपनी गुहार मचाती हुई दिखाई देती है। इस प्रश्न को भी अनेक अन्य उपन्यासों में प्रश्रय मिला है।[1]

१९१९ से महात्मा गाधी काग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ले चुके थे और प्रेमचन्द-युगीन सभी कथाकार इस आंदोलन से किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित हुए थे। प्रेमचन्द पर भी इसका प्रभाव पड़ा और काग्रेस की हिन्दू-मुस्लिम-एकता नीति उनके उपन्यासो मे खूब फली-फूली। उन्होंने आदर्श की झोंक मे केवल उपदेश को ही स्थान न देकर यथार्थ को ही प्रमुखता प्रदान की। हिन्दू और मुसलमान दोनो में कुछ चक्रधर और कुछ ख्वाजा महमूद उपस्थित थे, किन्तु स्थिति उनके सँभाले सँभल नही पाती थी। कुछ बलिदान होते थे और झगड़े थोड़ी देर रुक जाते थे, किन्तु फिर मुल्ला और पडितो के पाखण्डपूर्ण मिथ्याचारो के परिणामस्वरूप 'धर्म खतरे मे' की आहुति पड़ने पर यह द्वेषाग्नि फिर भड़क उठती थी। अनेक 'सूरे' इनसे ऊपर उठकर देश का पथ-प्रदर्शन करते अवश्य है, किन्तु इनका हृदय-परिवर्तन नही हो पाता। चाहे थोड़ी देर के लिए

१. श्री नाथसिंह, 'क्षमा', १९२५।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'मीठी चुटकी', १९२७।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'अनाथ पत्नी', १९२२।
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त', 'तलाक', १९३२, आदि।

हमे दिखलाई अवश्य दे कि आदमी बदल गया है, किन्तु उसका फल तो अन्त में 'पाकिस्तान' हुआ ही, जो आज भी भारत का सबसे बडा शत्रु बना हुआ है। 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९२४), 'कायाकल्प' (१९२८)—सभी उपन्यास इस प्रश्न को आगे बढाते हे और बताते है कि सहिष्णुता ही इसका एकमात्र उपायहै और धार्मिक द्वेष के स्थान पर यदि प्रेम उत्पन्न हो जाए तो स्थिति सुधर सकती है। इसका आदर्श 'गोदान' मे गोबर और उसके मुसलमान दोस्तो का आपसी व्यवहार है। जहाँ आपसी प्रेम ऊपर आ जाता है और धर्म की सकीर्ण कारा टूट जाती है, चाहे वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द धर्म मे आस्थाहीन होने के कारण शालिगराम और नमाज को क्रमश 'बटिया' और 'उठक-बैठक' कह दें, किन्तु समाज मे मूल संघर्ष तो आर्थिक और निष्ठा का है, धर्म के बाह्य रूप और उससे उत्पन्न सघर्ष तो केवल थोडी देर के लिए अशिक्षितों को मूल प्रश्नो से भुलाए रखने के साधन मात्र है। इस तथ्य को परोक्ष रूप से प्रेमचन्द जानते और मानते थे, किन्तु यह रूप 'गोदान' मे ही उपस्थित हो सका, इससे पूर्व नही।

स्त्री-समस्या के विभिन्न पहलुओ पर दृष्टिपात करते समय उस युग मे कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गए[1], जिनमे नारी के आदर्श का खुलकर चित्रण हुआ। नारी-पात्रो को जीवन की विभिन्न परिस्थितियो मे रखकर उनके चरित्र की विशेषताओं का सुन्दर वर्णन किया गया। 'तितली' मे प्रसाद ने एक कलापूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया और नारी को उससे प्रेरित करके भारतीय संस्कृति और आदर्श की ओर उन्मुख किया। 'तितली' की तुलना मे यूरोपीय महिला 'शैला' को प्रस्तुत किया और दो विभिन्न तथा परस्पर-विरोधीजीवन-दर्शनो की तुलना करके सिद्ध किया कि भारतीय नारी के लिए कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। आलोच्य काल मे नारी की वीरता से ओत-प्रोत अन्य अनेक उपन्यास (जिनमे ऐतिहासिक उपन्यासों की मात्रा अधिक है) लिखे गए। इस काल मे देशभक्ति के आन्दोलन ने इस ओर उपन्यासकारो को प्रेरित करने का कार्य किया। विधवा की समस्या, जो हिन्दू समाज के भाल का कलक बनी हुई थी, 'प्रतिज्ञा' (१९२८) मे अपने नवीन स्वरूप के साथ प्रस्तुत की गई। विधवा के समक्ष कितने विकल्प आते है और अपने जीवन-चक्र को अग्रसर करने मे उसके सामने कितनी कठिनाइयाँ आती हे, इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार के उपन्यासो मे किया गया है। जैनेन्द्र ने 'परख' (१९३०) लिखकर इस समस्या को मनोवैज्ञानिक कसौटी पर परखने की स्तुत्य चेष्टा की। आदर्शवादी प्रेमचन्द के लिए उस काल मे यह असंभव था कि किसी सामाजिक दोष का चित्र दें और उसका निराकरण न दें, फलस्वरूप विधवा-समस्या का

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी 'त्यागमयी', १९३२।
शिवरानी देवी, 'नारी-हृदय', १९३२।
गोविन्दवल्लभ पंत, 'मदारी', १९३६।
उषादेवी मिश्रा, 'वचन का मोल', १९३६, आदि।

निराकरण भी आर्य-समाजियों की भाषा तथा पद्धति के अनुसार 'पुनर्विवाह' कराके प्रस्तुत किया गया। विधवाओं की समस्याओं का आकलन इस काल के अनेक अन्य उपन्यासों का विषय रहा है।[1]

स्वच्छंद प्रेम के विवेचन के बिना नारी-समस्या अधूरी रहेगी। इस काल की कविता मे नर और नारी के स्वच्छंदप्रेम को अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों (विशेषतः शैले और ब्राउनिंग आदि) के प्रभाव से उन्मुक्त विचरण का सुयोग उपलब्ध हुआ, जिसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ना स्वाभाविक था। हमारे प्राचीन काव्यो में भी प्रेम की प्रधानता रही है (भागवत में तो जार-प्रेम को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है) और बंगला के तत्कालीन उपन्यासकारों मे भी इस प्रेम की परिपाटी चल पड़ी थी, अतः इन सबसे प्रभावित हिन्दी उपन्यासकार भी इस ओर उन्मुख हुआ। उसकी दृष्टि घर के बाहर गई और जहाँ कहीं जिस किसी जाति, धर्म या देश की नारी उसे भा गई, वह प्रेम-सूत्र मे खिंच चला। यहाँ तक आते-आते ये बन्धन तो शिथिल होने ही लगे थे। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'प्रेम की भेंट' (१९३१) और 'कुण्डली चक्र' (१९३२) उपन्यास लिखे, जिनमे उन्मुक्त प्रेम को प्रश्रय दिया गया। इस प्रश्न मे जाति, धर्म और राष्ट्रीयता आदि से ऊपर उठकर प्रेम को महत्त्व तो दिया गया किन्तु प्रेम के इस आदर्श की झोंक में प्रेमचन्द ने यथार्थ का ही पल्ला पकड़ा, जबकि प्रसाद और आगे बढ़ गए और इन्द्रदेव तथा शैला जैसी जोड़ियाँ उपस्थित कर दी। 'आलोचना' (अंक १३, पृष्ठ ८३) में इस ओर इंगित करते हुए और प्रेमचन्द की सीमा-रेखा को स्पष्ट करते हुए डा० राम-रतन भटनागर ने लिखा है, "उपन्यासकारों ने इस प्रश्न को उठाया, पर वे सामाजिक विद्रोह की सीमा तक न उठ सके। फलतः हत्याओं और आत्मघातों के द्वारा एक प्रकार के समाधान को प्रस्तुत किया गया। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द इसीलिए सोफिया का बलिदान कर देते है और 'कर्मभूमि' मे सकीना के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को गिरा देते है।" इस युग के उपन्यास को मध्यवित्तीय मनोभावना का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब स्वीकार करके भी डा० भटनागर यह भूल जाते हैं कि यदि इस प्रकार से विवाह करा दिए जाते तो यह अयथार्थ होता—आदर्श चाहे भले ही हो। समाज में गुप-चुप यह चल सकता था, किन्तु खुलकर ऐसा करना मध्यवर्ग के लिए सम्भव न था। दूसरे, सामाजिकता का भूत और आर्थिक आश्रय व्यक्तियों को सामाजिक विद्रोह करने ही नहीं देता था, तब भला यथार्थ के जबरदस्त हिमायती प्रेमचन्द उसे अपने उपन्यास में स्थान कैसे देते? यह तो प्रेमचन्द के प्रति सरासर अन्याय है और—उनसे ऐसी आशा करना उपन्यास

१. तेजरानी दीक्षित, 'हृदय का काँटा', १९२८।
चन्द्रशेखर शास्त्री, 'विधवा के पत्र', १९३३।
चतुरसेन शास्त्री, 'अमर अभिलाषा', १९३३, 'आत्मदाह', १९३६ तथा 'नीलमणि' १९४०।

कला और प्रेमचन्द दोनो का अपमान है। उस काल में अनेक 'सोफियाएँ' अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धर्म और मर्यादाओं के नाम पर बलिदान हो गईं। नारी की सबसे बड़ी विडबना तो इसी मे निहित है कि वह परम्पराओ और धर्मान्धताओ के पाशों को अपनी स्वीकृति मान बैठी है। 'गोदान' के नायक होरी की छोटी पुत्री एक बुड्ढे के साथ ब्याह दी जाती है और वह उसी मे प्रसन्न है। वह शृंगार पति के लिए नही स्वय अपने लिए करती है और विवाह का उद्देश्य यह मान लेती है कि बाप के लिए एक दूध की गाय अपनी ससुराल से भेज सके। डॉ० भटनागर सम्भवतः इस भयंकर ट्रेजेडी को समझने मे असमर्थ रहे है जो भारतीय नारी के जीवन का अभिशाप बनकर रह गई है।

उन्मुक्त प्रेम की समस्या जो 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' से उठाई गई थी, 'गढ़ कुण्डार' से होती हुई 'सुनीता' (१९३६) मे अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति पा गई। नारी अपने पति के अतिरिक्त अन्य से (चाहे वह पति का मित्र ही क्यो न हो और चाहे पति की ही आज्ञा उसे रोक रखने के लिए मिली हो) प्रेम करती है और इसमें विशेषता यह है कि पर-पुरुष-प्रेम उसे पति प्रेम का विरोधी नही है—हाँ, बीच-बीच मे जब वह अपने को कमजोर पाती है तो पतिव्रत-धर्म की शरण जाकर साहस जुटाने का प्रयत्न करती है। यहाँ हमे अन्त मे आदर्शवाद के ही दर्शन होते है, किन्तु यह आदर्श भी अयथार्थवादी नही है। यह भी सम्भाव्य और औचित्य की कसौटी पर खरा उतरने वाला आदर्श है। आदर्श भी तो यथार्थ है, अत. उसे यथार्थ का विरोधी नही समझा जा सकता।

हिन्दी के कुछ अन्य आलोचकों ने 'सुनीता' के इस 'विवस्त्र दृश्य' की बड़ी मजाक उड़ाई है और इसे चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन तथा 'उग्र' के तथा-कथित 'घासलेटी साहित्य' की सीमा-रेखा तक खीच ले गए है। यह उनका अन्याय है। जिस कथा-साहित्य को 'घासलेटी' कहा गया, उसका सबसे बड़ा गुण (?) यह बताया गया कि उपन्यासकार अश्लील, कामुकतापूर्ण, घृणित और नग्न यौन दृश्यों के चित्रण मे स्वयं रस लेता प्रतीत होता है, जिससे पाठको की विकृति उत्तेजित होती है। इन सामाजिक जघन्यताओं के प्रति सामान्य पाठक कौतूहल वृत्ति से आकर्षित होते है, विगर्हणीय दृष्टि से घृणा नही करते; किन्तु 'सुनीता' मे यह वर्णन तटस्थ दृष्टिकोण से, किया गया है तथा हरिप्रसन्न के साथ ही पाठक भी इस ओर से आँखें मूँदकर तीव्रता से आगे की ओर बढ़ता है। हाँ, जिनकी आँखे ऐसे दृश्यो की खोज मे रहती है, वही ठहरकर उधर देखते है और फिर उस पर टिप्पणी करते हुए कहते है कि यह तो आदर्श के विरुद्ध है। 'सुनीता' की अन्य उपन्यासों[1] से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, 'गंगाजमुनी', १९२७।
चतुरसेन शास्त्री, 'हृदय की परख', १९१८ तथा 'व्यभिचार', १९२८।
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', 'दिल्ली का दलाल', १९२७, 'बुधुआ की बेटी', १९२८ तथा 'शराबी', १९३०।

जो लोग रक्त की शुद्धता और आभिजात्य परम्पराओं की दुहाई देते थे, उनकी खिल्ली शुद्ध यथार्थवादी उपन्यासों मे उड़ाई गई है। उदाहरणस्वरूप 'कंकाल' (१९३०) मे दिखाया गया है कि जितने सफेदपोश है, सभी वर्णसंकर है और जाति तथा वर्ण का मिथ्या अहंकार व्यर्थ है। इस उपन्यास में पीडित मानवता की मार्मिक व्यजना है जो अपना प्रभाव डालकर ही रहती है। शराबखोरी और धार्मिक दम्भ तथा आचारों की खुलकर धज्जियां उड़ाई गई है। कुछ लोग 'कंकाल' को प्रकृतवादी (*Naturalistic*) उपन्यासकार जोला, फ्लाबेयर तथा मोपासा की कोटि मे रखते है।[1] किन्तु यह तो प्रकृतवाद को उसके मूल रूप मे न समझने का परिणाम है। 'कंकाल' यथार्थवादी-समस्यामूलक उपन्यास है जिसमें केवल समस्याओं को उठाया गया है, उनका हल नही दिया गया है। कला की दृष्टि से यह उच्चकोटि का मानदंड माना गया है, जबकि कलाकार अपने उद्देश्य को अधिकाधिक गुप्त और अप्रत्यक्ष रखता है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को स्वीकार करने वाले प्रेमचन्द भी 'गोदान' में इस प्रकार के हल देने के पक्ष मे नहीं रहे थे—जिसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि उन्हे तत्कालीन समाज-व्यवस्था में आस्था नही रही थी और इसके निराकरण का एकमात्र उपाय वे नवीन सामाजिक मूल्यो की स्थापना मानते थे। यदि 'गोदान' प्रकृतवादी उपन्यास है तो 'कंकाल' को भी इस कोटि मे रखा जा सकता है और इससे 'कंकाल' की गौरव-वृद्धि की आशा है।

ग्रामीण और आर्थिक समस्याओं को लेकर इस काल मे सर्वाधिक कथा-साहित्य लिखा गया। स्वयं प्रेमचन्द और उनके समकालीन अनेक उपन्यासकार ग्रामीण क्षेत्र के निवासी थे। इन्होने अपने इस अनुभव को उपन्यासो के माध्यम से व्यक्त किया। कांग्रेस का आंदोलन जब तक केवल शहरी जनता के आकर्षण का केन्द्र बना रहा तबतक उसमें व्यापकता की कमी रही थी। महात्मा गांधी ने अन्त मे गाँवो की ओर कदम उठाने की प्रेरणा दी। शहर के नेता भी गाँवों का दौरा करने लगे। महात्मा जी शहरों मे भी झोंपडी बनाकर किसान के समान जीवन बिताने लगे। श्रम के महत्त्व को स्थापित करने और ग्रामराज्य के आधारभूत सिद्धान्त 'खद्दर' की प्रतिष्ठा-स्थापना से हिन्दी कथाकार भी ग्रामीण जनता की ओर उन्मुख हुए। बंगला मे 'पल्ली समाज' लिखा गया और हिन्दी मे प्रेमचन्द और प्रसाद ने व्यापक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर अनेक उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' मे जिस कृषक समस्या को उठाया है, वह 'गोदान' का अमर वरदान पाकर धन्य हो गई है। 'प्रसाद' ने 'तितली' मे इस समस्या पर विविध पहलुओ से दृष्टिपात किया है किन्तु सारी परम्परा और पृष्ठभूमि प्रेमचन्द की ही है। 'तितली' की बनजरिया 'प्रेमाश्रम' के आश्रम का ही प्रतिरूप है।

१. डा० रामरतन भटनागर का लेख 'आलोचना', अंक १३, पृ० ८५।

गाँवों मे समस्याओं की सीमा नही और उनको देखने वाली आँखें भी प्रेमचन्द की हे, जिनमे सारे विश्व की बारीकियो तक पहुँचने की अपूर्व क्षमता है। कांग्रेस का आन्दोलन चाहे स्वतन्त्रता-प्राप्ति का प्रयत्न रहा हो, किन्तु उससे भारतीय समाज में विभिन्न वर्ग और उनके संघर्ष उभरकर सामने आ गए थे। अंग्रेजो के सहायक निहित स्वार्थ वाले एक ओर थे और उन्हे अपदस्थ करके जनतंत्रात्मक स्वशासन स्थापित करने वाले क्रांतिकारी नेता और उनकी अनुगामिनी जनता दूसरी ओर। अंग्रेजों के सबसे बडे सहायक राजा, नवाब, रईस, मिल-मालिक और बड़े-बड़े सरकारी अफसर थे, जो एक ओर तो अंग्रेजो की गुलामी और खुशामद करते थे और दूसरी ओर सामान्य जनता का शोषण। इस काल का कलाकार शोषित की ओर झुका और उसकी दृष्टि मानवतावादी रही। वह तटस्थ न रह सका क्योकि वह भी मध्यवर्गीय था और उसने या तो कला के माध्यम से अथवा सक्रिय रूप से जन-आदोलन का ही पक्ष स्वीकार किया।

ग्रामीण क्षेत्र मे छुआछूत, ऋण, वर्णव्यवस्था, जमीदारी-प्रथा, पारस्परिक वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, पुलिस तथा शासक का अत्याचार, झूठी मुकदमेबाजी, बेगार, घूस, बहुविवाह, अनमेल विवाह अकाल, महावृष्टि, खेतों पर अतिरिक्त बोझ, कृषि-श्रमिक प्रश्न तथा पूँजीपति का कारखाने हेतु भूमिहस्तगत करना और अंग्रेजो का ग्रामीण भूमि मे नील की कोठी बनाकर अन्न के स्थान पर नील की खेती करना आदि है। अतिम प्रश्न 'तितली' और उससे पहला 'रगभूमि' मे अपनी संपूर्ण संभावनाओ के साथ उभारा गया है। और शेष प्रश्न तो प्रेमचन्द, मन्नन द्विवेदी ('रामलाल', १९२१) तथा शिवपूजनसहाय ('देहाती दुनिया', १९२६) आदि अनेक उपन्यासकारो ने उठाए हे।

प्रेमचन्द मे सबसे पहले ग्रामीण समस्याओ के दर्शन 'प्रेमाश्रम' मे होते है। 'सेवा-सदन' से अगला कदम क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' को माना जाता है, किन्तु आदर्श के प्रति मोह इसमे प्रबल हो उठा है। इसमे प्रेमचन्द का उपदेशात्मक रूप उभरकर सामने आ गया है। इसमे पात्र और घटनाएँ लेखक द्वारा निर्देशित प्रतीत होते है। यद्यपि 'प्रेमाश्रम' मे किसानों की दुरवस्था, जागीरदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकडे, अफसरो और उनके मातहतों की धाँधली, वकीलो की नमकहरामी और न्यायाधीशो आदि के ऐसे प्रश्न है जिन पर प्रकाश पडता है, किन्तु आर्थिक समस्या और उसकी मूलभूत स्थिति का चित्रण इसमे नही है। हाँ, उसकी ओर इंगित तो मिलता है किन्तु समस्या अपने बहुमुखी स्वरूप मे प्रस्तुत नही हो सकी है।

आपस की फूट, स्वार्थपरता आदि को किसान की दुरवस्था उत्पन्न करने वाला परिस्थितियो का कारण प्रेमचन्द मानते है।[1] कही-कही उन्होने मार्क्सवादी

१. "दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर (किसानों पर) नहीं बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है। और ये

और गाधीवादी दर्शनो के सामंजस्य के आधार पर जमीदारी-प्रथा और उसके कर्णधार जमीदारो को खूब कोसा है।[1] किसानों की दीनता का कारण वह जमीदारी को ही मानते थे। 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर ग्राम प्रेमचन्द के आदर्श-ग्राम का प्रतीक है। गाँव मे रहा जाए, दस-पाँच जानवर पाल लिए जाये और किसानों की सेवा की जाए तो जीवन सफल है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को ऐसी अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था। उनके लखनपुर की जमीदारी समाप्त होने पर जो कायापलट हो गई है, वह स्थिति उत्तरप्रदेश में जमीदारी उन्मूलन होने के सात वर्ष पश्चात् भी नही आ पायी है। देखिए—"मुन्शी को देखो, पहले बीस बीघे का काश्तकार था, १०० रु० लगान देने पड़ते थे। दस-बीस साल नजराने में निकल जाते थे। अब जुमला २० रु० लगान है और नजराना नही लगता। पहले अनाज खलियान से घर तक न आता था। आपके चपरासी-कारिन्दे वही दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते है और सुभीते से बेचते है। दो साल मे कुछ नही तो तीन-चार सौ बचे होगे। डेढ सौ की एक जोडी बैल लाये, घर की मरम्मत कराई, सायबान डाला। हाँडियो की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बडी बात यह है कि अब किसी की धौस नही। मालगुजारी

परिस्थितियाँ क्या है? आपस की फूट, स्वार्थपरायणता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है।"—'प्रेमाश्रम', पृ० ३११।

१. "भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने इसकी सृष्टि की थी या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप से ले या इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज-व्यवस्था का कलक-चिह्न समझना चाहिए। जमींदार को समझना चाहिए कि वह प्रजा का मालिक नही वरन् उसका सेवक है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है, अन्यथा संसार में उसकी कोई जरूरत न थी, उसके बिना समाज के सगठन में कोई बाधा नहीं पड़ती। वह इसलिए नहीं कि प्रजा की पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उड़ाए, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्य से अभिज्ञ हो, ऐसे निरंकुश प्राणियों से प्रजा की जितनी जल्द मुक्ति हो, उनका भार प्रजा के सिर से जितनी ही जल्दी दूर हो, उतना ही अच्छा है।'—'प्रेमाश्रम', पृ० ६४२।

दाखिल करके चुपके से घर चले आते है, नही तो जान सूली पर चढी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत मे भी जी लगता है, नही तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।" ('प्रेमाश्रम', पृ० ६५३)। 'प्रेमाश्रम' के डॉक्टर इर्फान अली, डॉ० प्रियनाथ, दयाशकर थानेदार, सुक्खू चौधरी, बिसेसर शाह, रायकमलानद और रानी गायत्रीदेवी आदि सभी प्रेमचन्द की आदर्शवादी नीति के फलस्वरूप अत तक आते-आते परिवर्तित हो जाते है और पवित्र जीवन व्यतीत करने लगते है। मनोविज्ञान की कसौटी पर इनमे यह दोप पाया जाता है कि कोई व्यक्ति जो जीवन भर जिस मार्ग पर चले यकायक बिलकुल बदलकर दूसरे मार्ग पर चलने लगे। किसान की समस्या प्रेमाश्रम बनाने पर भी जब न सुलझी तो 'कर्मभूमि' का अमरकांत और 'रगभूमि' का विजय शहरी सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करके ग्राम-सुधार आन्दोलन को सफल करने के लिए जाते है—वे आश्रम तो नही बनाते किन्तु दिशा वही है। प्रेमचन्द 'गोदान' से पहले यह नही समझ पाए कि इन समस्याओ के लिए समाज मे आमूल परिवर्तन (क्राति) की आवश्यकता है—वे सुधारवादी बने रहे और वर्तमान व्यवस्था मे ही कुछ परिवर्तन करके उसे सुधारने का प्रयत्न करते रहे। इन प्रयत्नो का फल पात्रो और घटनाओ का आदर्श की ओर मुड जाना हुआ, किन्तु 'गोदान' में आकर वह समस्या का हल देने की व्यग्रता से छूट गए हे। उन्होने 'गोदान' मे होरी के माध्यम से किसान की समस्त चिन्ताओं और समस्याओ को मुखरता प्रदान की है। 'गोदान' मे अन्य उपन्यासो की भाँति शहर और देहात की कथाएँ चलती हे। कुछ आलोचको ने इस कथानक को दोपपूर्ण मानकर दोनो कथाओ को एक-दूसरे से असम्बद्ध बताया है। नन्द-दुलारे वाजपेयी का मत है कि 'गोदान' के दोनों कथानक परस्पर सम्बद्ध नही हे और उनमे वास्तविक ऐक्य की कमी है।[1] किन्तु नलिनविलोचन शर्मा ने इसी

१. "ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करनेवाली कथा प्रासंगिक या गौण है। 'गोदान' में इन दोनों कथाओं को एक सम्बन्ध सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रों के बीच सम्बन्ध-स्थापन का कार्य गाँव के जमींदार राय साहब द्वारा पूरा होता है। गाँव की रामलीला देखने के लिए रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते है। यहीं 'मालती हरण' का एक मनोरंजन और अनोखा दृश्य दिखाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र गोबर कुछ दिनोंतक शहर में रहता है और उपन्यास के 'नागरिक' पात्रो के संपर्क में आता है। परन्तु नागरिक और ग्रामीण पात्रों का यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ नहीं होता कि एक-दूसरे के जीवन-क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समन्वित कर एक ही मुख्य कथा का अंग बना ले। पारसी नाटकों मे प्रायः मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोद प्रधान एक दूसरी कथा जुड़ी रहती थी,

पार्थक्य को उपन्यास का सर्वोत्तम गुण कहा है। पाठक को किसान की कठिनाइयों और जटिल समस्याओं की भयंकरता का ठीक-ठीक ज्ञान तभी होता है जब वह शहरी लोगो तथा जमींदारों के जीवन को देखता और जाँचता चलता है—दोनों की तुलना करता चलता है। होरी की सारी कठिनाइयों का कारण शहर के रायसाहब, पुलिस और गाँव मे उनके एजेन्ट है। ये एजेन्ट ही सारी प्रक्रिया के सूत्रधार दिखाई देते है, जबकि संकट का मूल कारण शहर है। किसानो के व्यापार और जीवन को बरबाद करने वाली मिले खुलकर उनके गृह-उद्योगों को ही समाप्त नही करती, वरन् उन्हे धीरे धीरे किसान से मजदूर बना रही है। किसान टूट रहा है और टूटकर मजदूर बन रहा है। अन्त मे होरी से भी उसका खेत छिन जाता है और वह मजदूरी करते-करते समाप्त हो जाता है। इसे पटेश्वरी, नोखे, दातादीन आदि एक बार नही मारते वरन् धीरे-धीरे चूसते रहते है।

जैनेन्द्रजी ने अपने उपन्यासों मे शहरी जीवन को स्वीकार किया और मध्य-वर्गीय समाज की नारियो की दशा को प्रमुखता प्रदान की। उनके कथानक सुगठित और शृंखलाबद्ध होते है। प्रेमचन्दजी का 'गबन' भी कला की दृष्टि से एक सुन्दर कथानक उपस्थित करता है। एक साधारण उद्देश्य को लेकर इतना बडा उपन्यास लिखना प्रेमचन्द की उपन्यास-कला की विशेषता है। रमानाथ शहरी लड़कों के समान अपनी पत्नी के सामने डीग हाकनेवाला और उसकी पत्नी जालपा मध्यमवर्गीय शहरी नारियों के समान जेवरों पर जान देने वाली है। इन्ही पात्रीय विशेषताओं से सारे कथानक की सृष्टि की गई है। 'गबन' मे तत्कालीन सूदखोर महाजनो की धार्मिक मनोवृत्ति का खूब मजाक उड़ाया गया है। नायक को अनेक परिस्थितियो में डालकर उसके चरित्र की विशेषताओं का वर्णन करना इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है। यहाँ पात्र कहीं अमनोवैज्ञानिक हो गए है या उनका उचित समाधान न होने पर लेखक उनकी हत्या करने का अचूक अस्त्र स्वीकार करता है। पुलिस किस प्रकार झूठे मुकदमे और मुखबिर बनाती है तथा उन्हे अनेक प्रलोभन देकर फँसाए रखती है, पुलिस कर्मचारियों का चरित्र कैसा होता है आदि प्रश्नों पर 'गबन' मे यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। देवीदीन और जग्गो जैसे परोपकारी और स्वाभाविक गतिशील पात्रो द्वारा गरीबो और निम्न-वर्गीय लोगों का जीवन सामने लाया गया है।

जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गम्भीरता को कम कर दर्शकों का मनोरंजन करना। वास्तव में दोनों कथाएँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न और स्वतन्त्र होती थीं। किसी भी स्थल पर उनके कथातंतु जुड़े नहीं होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। 'गोदान' उप-न्यास में उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।"—'आधुनिक साहित्य', नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १४७।

कथानकों की दृष्टि से आलोच्य काल मे शहरी और देहाती दोनो प्रकार के कथानको को स्वीकार किया गया और प्रेमचन्द जैसे प्रतिनिधि कलाकारो ने दोनो का समन्वय ही श्रेष्ठ समझा। कुछ उपन्यासो मे शिथिल कथानक रहे, किन्तु 'गबन' 'सुनीता', 'कंकाल' आदि सुगठित कथानक वाले उपन्यासो की भी कमी नही है। इस काल के अधिकांश उपन्यास समस्यामूलक है। ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठो को उपन्यास के प्लेटफार्म से गाकर सुनाया, जिसे सुनकर सारा हिन्दी पाठक जगत् तन्मय हो गया। उन्होने सर वाल्टर स्कॉट की पद्धति पर बुन्देलखण्ड की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और वीरता की कथाओं को उपन्यासो का कथानक बनाया। इस युग ने 'कंकाल', 'सुनीता', 'अलका' और 'तलाक' जैसी रचनाओ द्वारा गहराई से सामाजिक प्रश्नो पर विचार किया, और होरी के द्वारा टाइप-चरित्रो का निर्माण किया। गाधीजी का स्वरूप अंकन 'सूरे' (रगभूमि) के माध्यम से किया गया तो अंत मे १९४८ मे आकर सत्य सिद्ध हुआ। धनिया जैसी साहसी और सुनीता जैसी द्वंद्वमयी नारियाँ देखने को मिली। शैली-शिल्प की दृष्टि से उपन्यास-लेखन की प्राय सभी प्रणालियाँ इस काल मे प्रयुक्त हुई। प्रेमचन्द के उपन्यास वर्णनात्मक शैली मे लिखे गए। प्रसाद ने भी प्राय: इस शैली का अनुसरण किया। 'त्यागपत्र' मे जैनेन्द्र ने आत्मचरित्र प्रणाली को स्वीकार किया। उग्र ने पत्रात्मक प्रणाली की भी छटा खूब दिखाई। भाषा की दृष्टि से यह युग पूर्ण विकसित कहा जाएगा। काग्रेस और महात्मा गाधी तक ने प्रेमचन्द की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' सज्ञा देकर सारे देश की सार्वजनिक भाषा (राज्यभाषा) होने का गौरव प्रदान किया। प्रेमचन्द तथा अन्य उनके अनुयायियो ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया। उनके हिन्दू पात्र जहा सस्कृत से तत्सम शब्दो से युक्त भाषा बोलते है, वहा मुसलमान पात्र सलीस उर्दू। भाषा के इस चमत्कार का यह परिणाम हुआ कि उनके अहिन्दी भाषा-भाषियो ने प्रेमचन्द के उपन्यास पढने के लिए हिन्दी सीखी और प्रेमचन्द के उपन्यास का प्रचार मद्रास तक मे यथेष्ट हुआ। भारत की सभी भाषाओ में उनके अनुवाद प्रकाशित हुए। जो हिन्दी अब तक केवल दूसरो से लेना ही सीखी थी, इस काल मे प्रेमचन्द जैसा कलाकार पाकर भारतीय भाषाओं को ही नही, विश्व की सभी प्रमुख भाषाओ को कुछ दे सकने की स्थिति मे हो गई। 'गोदान' विश्व-साहित्य की अमर कृतियो मे स्थान पाकर भारत का सौभाग्य-सूर्य माना जाने लगा। इन उपन्यासो मे राजाओ से लेकर सडक पर भीख माँगने वाले भिखारी तक, महलो से लेकर झोपडी तक, कुलवधुओ से लेकर वेश्याओ तक, कलकत्ता से लेकर छोटे-छोटे गाँवो तक, गवर्नर से लेकर पटवारी तक, ब्राह्मणो से लेकर मेहतरों तक—सभी की समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली। इस युग तक आते-आते हिन्दी उपन्यास को यथार्थ और मनोविज्ञान आदि के नवीन आधार उपलब्ध हुए, जिन पर खड़े होकर उसका भवन सुदृढ़ और विशाल होने लगा तथा 'गोदान' और 'सुनीता' जैसे स्वर्ण-दीप जगमगाने लगे।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास

डॉ० रणवीर रांग्रा

देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बाद मे मिली, पर हिन्दी का साहित्यकार प्रेमचन्द-युग के अंतिम चरण मे ही अपनी मानसिक मुक्ति की घोषणा कर चुका था। समाज को सब कुछ मानकर चलने वाली द्विवेदी-कालीन प्रवृत्ति के विरुद्ध उसने विद्रोह का झंडा गाड़ दिया था और बड़ी निर्भयता से उस पर प्रहार शुरू कर दिए थे। समाज की अंधपरम्पराओं, उसके कृत्रिम मूल्यो और निरर्थक मान-मर्यादाओं से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने के लिए वह जी-जान से जुट गया था। धर्म के पाप-पुण्य, समाज के विधि-निषेध तथा राजनीति के भय-प्रलोभन से ऊपर उठकर वह साहित्य-सृजन के माध्यम से व्यक्ति-सत्य की खोज मे व्यक्ति-मानस की गहराइयों में उतरने लगा था। सामाजिक मुखौटों को वेधकर उस समय व्यक्ति की आत्मा एक ओर हिन्दी-कविता मे छायावाद की अजस्र धारा बन फूट निकली तो दूसरी ओर कथा-साहित्य मे जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' ने सामाजिक मूल्यों की कृत्रिमता पर करारी चोट की। जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' मे इन मूल्यों की गहरी खुदाई करके मूल नैतिकता की खोज शुरू हुई। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तक पहुँचते-पहुँचते तो साहित्यकार सामाजिक नैतिकता से भी ऊपर उठकर विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे मानव-मन मे कार्य-कारण के सूत्र ढूँढने लग गया था।

हिन्दी के साहित्यकार की मानस-मुक्ति की यह यात्रा जितनी साहसिक थी उतनी ही उद्बोधक भी। समाज पर से साहित्यकार का जो विश्वास उठ गया था उसका यह अर्थ नही कि वह जीवन के प्रति भी आस्था खो बैठा था, बल्कि जीवन मे उसकी आस्था बढ गई थी और वह व्यक्ति की शक्ति को पहचानने लगा था। उसे विश्वास हो गया था कि व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है ; समाज का उत्थान और पतन, विकास और ह्रास, व्यक्ति-निरपेक्ष नही हो सकता। समाज का सत्य पाना हो, जीवन की थाह लेनी हो, तो व्यक्ति के सत्य को पाना होगा ; सामाजिक विकृतियों का निदान व्यक्ति-मानस मे ढूँढना होगा। समाज को सुधारने की बात उसके लिए निरर्थक हो गई थी। व्यक्ति के परिष्कार में भी उसे रुचि नही रही थी, क्योंकि वह मानता था कि व्यक्ति अपने को समझने लगे, अपनी प्रकृति-विकृति को पहचानने लगे तो उतना ही बहुत है।

इस प्रकार, साहित्यकार की आस्था समाज से हटकर व्यक्ति मे स्थापित हो गई और उसका लिखना अपने को पाने मे प्रवृत्त हुआ। लिखना उसके लिए एक मजबूरी बन गया; लिखे बिना उसे कल नहीं पडती थी। रचना-प्रक्रिया मे अपने साक्षात्कार से उसे जो सतुष्टि मिलती थी, वही उसका चरम प्राप्त था। उसकी तुलना मे वह शारीरिक सुख-सुविधा तथा आर्थिक प्रलोभन और पद-प्रतिष्ठा को कुछ भी नही गिनता था। सत्य के प्रति उसमे एक लगन थी, एक सनक थी, जिसे समाज आदर की दृष्टि से देखता था। आदर के साथ कई बार आतंक का भाव भी जुड जाता था जो साहित्यकार को अच्छा ही लगता था।

फिर देश स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता हमे समझौते के रूप मे मिली और मिली भी अप्रत्याशित ही। अप्रत्याशित इसलिए कि जब तक हम अपने सिद्धान्तो पर दृढ़ रहे, आजादी हमसे दूर रही, पर सहसा ज्यो ही हमने अपने आदर्शों और विश्वासो के साथ समझौता करने का फैसला किया, हमे तत्काल आजादी मिल गई। उस समय ऐसा लग रहा था कि यह अवसर खो दिया तो न जाने स्वतन्त्रता कब मिले और देश जो शताब्दियों से दासता की चक्की मे पिस रहा है उसकी यातनाओं का अन्त फिर न जाने कब और कैसे हो।

इस प्रकार स्वतन्त्रता तो मिल गई, पर वह बहुत महँगी पडी। उसे पाने के लिए हमे उन सब उपलब्धियों की बलि देनी पडी जो हमने स्वाधीनता-सग्राम के दीर्घकालीन अनुशासन, तप और त्याग से पायी थी। भारत की अखंडता का स्वप्न बिखर गया। देश स्वतन्त्र होने से पहले ही खडित हो गया। एकता हमारे संघर्ष की धुरी थी। देश के विभाजन से एकता की नीव हिल गई और फूट के तत्वों को बढ़ावा मिला। अहिंसा हमारा मूलमन्त्र था, पर देखते-देखते हिंसा का नग्न नर्तन होने लगा और अहिंसा बेचारी असहाय खड़ी ताकती रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का सत्य इतना भयानक था कि हम उसकी ताब न ला सके। आजादी हमे हार मान लेने पर मिली थी, पर हम उसे अपनी विजय मान बैठे। खडित भारत को स्वीकार करके भी राग हम अखंडता के अलापते रहे; हिंसा की ओर झुककर भी नारा हम अहिंसा का लगाते रहे। इस प्रकार आत्मप्रवंचना का युग शुरू हुआ।

प्रवृत्ति-विकास

आत्मप्रवंचना का यह युग, मानव-मूल्यो के निर्मम विघटन और जीवन-व्यापी कटुता-कुठा को लिए, अपनी सम्पूर्ण प्रकृति-विकृति के साथ हिन्दी-उपन्यास में प्रतिबिम्बित तो हुआ ही, उसे नया रंग, रूप और आकार भी देता रहा।

देश के विभाजन के परिणामस्वरूप अराजकता की जो आँधी चली, निरीह प्राणियों का जो रक्तपात हुआ, उससे साहित्यकार का—विशेषत: उपन्यासकार का—आसन डोल गया। उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह व्यक्ति-मानस की गहराइयों से उभरकर पुन: समाज मे लौट आया—समाज के प्रति आक्रोश से भरकर। वह चिरन्तन सत्य का अन्वेषण छोड़, तात्कालिक यथार्थ की ओर

मुडा, शाश्वत प्रश्नों को भूलकर वर्तमान समस्याओं मे प्रवृत्त हुआ और वस्तुपरक होने लगा। जो व्यक्तिनिष्ठ ही रहे, वस्तुनिष्ठ न हो सके, उनका लेखन रुक गया—कम से कम उपन्यास के माध्यम से तो रुक ही गया। जैनेन्द्र और अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियों मे एक लम्बा अन्तराल इस बात का प्रमाण है। इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति-मानस की गहराइयो से अपेक्षया जल्दी निकल आए और उन्होंने 'मुक्तिपथ' के रूप मे एक सन्तुलित कृति दी। अमृतलाल नागर-जैसे अनेक उपन्यासकार समय की नब्ज पहचानते हुए व्यक्ति परसमाज के नृशस अत्याचारों के विरुद्ध कटिबद्ध हो गए और उन्होने 'बूद और समुद्र' आदि कृतियों मे व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध को चित्रित करते हुए दोनों के सामंजस्य पर बल दिया है। इनके अलावा कविता और नाटक की सीमाओ को लाँघकर उदय-शंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि कई और लेखक भी सामाजिक उपन्यास की धारा मे आ मिले।

यशपाल ने—कुछ देर से ही सही—अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'झूठा सच' मे विभाजन की विभीषिका और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज और सस्कृति की दु खद परिणति का निर्मम एव सागोपाग चित्रण किया। यशपाल के अतिरिक्त, नये परिप्रेक्ष्य मे मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर रागेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि अनेक नई प्रतिभाएँ भी उपन्यास के क्षेत्र मे आयीं, जिससे समाजवादी धारा मे फिर से जान आ गई। इस बीच एक और उल्लेखनीय घटना हुई। विभाजन की हृदय-विदारक परिस्थितियाँ झेलते समय साहित्यकार के भीतर जो मानस-मंथन हुआ था उसके परिणामस्वरूप उसकी सैद्धान्तिकता के तीखे कोने उत्तरोत्तर घिसते गए और जीवन के प्रति उसका दृष्टि-कोण अधिक सयत एवं व्यावहारिक होता गया। यशपाल का परवर्ती लेखन और इस धारा की अन्य कृतियाँ इसका प्रमाण है।

समय पाकर व्यक्तिनिष्ठ उपन्यासकारों की कृतिया भी प्रकाश मे आने लगी; उदाहरणार्थ 'सुखदा', 'नदी के द्वीप', 'जयवर्धन' आदि। उनके माध्यम से वे व्यक्ति-मानस की गहराइयाँ नापते हुए मानव की चिरतन समस्याओं से जूझने लगे, पर ये कृतियाँ उनकी पहली रचनाओं जितनी दुरूह न रही थीं; उन्हें समझने के लिए बहुत अधिक आयास की अपेक्षा न रही थी। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो के साथ अब डॉ० देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि भी आ मिले थे।

साहित्यकार पर वर्तमान की जकड इतनी मजबूत होती जा रही थी कि अतीत मे विचरने वाले ऐतिहासिक उपन्यास के प्रति विशेष उत्साह न रहा। फिर भी, चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी', यशपाल की 'अमिता' आदि सशक्त रचनाओं के रूप मे नये प्रयोग बरबस पाठकों को आकृष्ट करते रहे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब देश की एकाग्रता भग हुई, एकता की अपेक्षा

अनेकता की प्रवृत्ति बढी और हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति-वर्ग, धर्म-संस्कृति पर आ टिका, तब हिन्दी-साहित्य मे आचलिक उपन्यास का उदय हुआ, जिसका चरमोद्देश्य था—किसी विशेष अंचल अथवा प्रदेश को लेकर उसके जन-जीवन का यथार्थ एव वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करना। नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'बलचनमा' से शुरुआत की तो फणीश्वरनानाथ रेणु 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा उसे विकास की ओर ले बढ़े। शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', भैरवप्रसाद गुप्त, शैलेश मटियानी आदि कई और उपन्यासकार भी उनके साथ आ मिले।

स्वतन्त्र भारत मे नर-नारी के सबधो ने भी नया मोड लिया। विवाह ने अब धार्मिक अनुष्ठान न रहकर स्त्री-पुरुष मे बराबरी के स्तर पर होने वाले समझौते का रूप धारण कर लिया। देश के विभाजन की आँधी मे नारी को जो झेलना पड़ा था, उसने उसकी आँखें खोल दी थी। उसने अच्छी तरह देख लिया था कि व्यक्ति और समाज की विकृतियो का सबसे अधिक शिकार उसे ही बनना पड़ता है। अत: अपने परिपार्श्व के प्रति अब वह सजग हो गयी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कधे से कधा भिडाकर—मिलाकर नही— चलने की माँग करने लगी। सभ्यता ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकारा। कानून ने उसे बराबरी का हक दिया। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा ने उसमे स्वाभिमान का भाव भरा। पर इन सबको वह अपने व्यक्तित्व में खपा न पायी। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने नारी की शारीरिक बेड़ियाँ तो काट दी, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियो की दासता के संस्कार उसकी आत्मा को जकडे रहे और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त न हो पा रही थी। सस्कारों मे वह प्राचीना ही रही, पर आधुनिकता को उसने फैशन के रूप मे ओढ़ लिया। इस प्रकार द्वैत ने नारी के व्यक्तित्व को खडित कर दिया।

नारी के इस द्वैत ने साहित्यकार को आकृष्ट किया। इलाचन्द्र जोशी के 'सुबह के भूले', उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' और 'डॉक्टर शैफाली', जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'विवर्त', माचवे के 'द्वाभा' आदि उपन्यासो ने इस विषय को गहराई से लिया। समाज मे सेक्स और अर्थ की सम्मिलित विकृतियाँ नारी का शोषण करके उसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा देती है, इसका चित्रण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' और भगवती बाबू के 'आखिरी दॉव' मे हुआ। देश के विभाजन की पृष्ठ-भूमि मे नारी के भीषण शोषण, और फिर नवजागरण का सागोपाग चित्रण यश-पाल ने अपने वृहद् उपन्यास 'झूठा सच' मे किया। गृहस्थी पर बढता हुआ आर्थिक बोझ, स्वतन्त्रता की कामना और नागरिक जीवन की चकाचौध आदि मिलकर नारी को नौकरी के क्षेत्र मे ले आए। पर गृहस्थी की जिम्मेदारी उसकी ज्यो की त्यो बनी रही और यह एक अतिरिक्त दायित्व उस पर आ पड़ा। पहले उस का शोषण घर में होता था, अब बाहर भी होने लगा, यद्यपि अब वह उतनी निरीह न रही थी। पर वह जो पूरी ईमानदारी से दोनों ही दायित्व निभाना चाहती थी,

दो पाटों के बीच पिसने लगी। नौकरी-पेशा नारी की समस्याओं को लेकर रजनी पनिकर, उषा प्रियम्वदा, मीरा महादेवन आदि कई लेखिकाएँ भी उपन्यास के क्षेत्र मे आयीं।

प्रेमचन्दोत्तर युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है साहित्य-सृजन का 'वाङ्मय तप' के आकाश से उतरकर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिकना और इस आधार को दृढता से पकड़ लेना। साहित्य-सृजन व्यवसाय बना तो व्यवसाय के सभी नियम उस पर लागू हुए। व्यवसाय को बढ़ाने के लिए साहित्यकार को कई बार ऐसे हथकंडे भी अपनाने पडे, जिनका साहित्य से दूर का भी सम्बन्ध न था। माँग और पूर्ति का चक्र चला तो साहित्यकार को 'आर्डर' पर भी माल तैयार करना पड़ा और ऐसा माल तैयार करना पड़ा जो कम से कम समय में अधिक से अधिक मात्रा मे निकले और आकर्षक भी हो। इससे साहित्य मे ऋजुता तो आयी पर उसके साथ सस्तापन भी आया। मौलिकता और फैशन के फेर में नई-नई तकनीकों का प्रयोग किया गया। गहन अनुभूति की कमी ने एक तकनीक का मोह और भी बढ़ा दिया। इससे उपन्यास का शिल्प-विकास तेजी से होने लगा और उसकी शिल्पगत उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढती गईं।

अब हम (प्रेमचन्दोत्तर) हिन्दी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियों—सामाजिक, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और आंचलिक उपन्यास—के प्रमुख उपन्यासकारों तथा उनकी उल्लेखनीय रचनाओ का संक्षिप्त विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

सामाजिक उपन्यास

सामाजिक उद्देश्यो को लेकर उपन्यास लिखने की परम्परा प्रेमचन्दोत्तर युग में समाप्त नही हुई, कुछ समय के लिए वह क्षीण अवश्य हो गई, पर देश के विभाजन के समय की सर्वतोमुखी अराजकता ने लेखक को अपने परिपार्श्व के प्रति और भी सजग कर दिया। उसकी अंतर्मुखता भंग हो गई और वह सामाजिक उद्देश्य को लेकर नये जोश से लिखने लगा। पर अब वह सामाजिक विघटन के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के प्रति दिनोदिन बढ़ती हुई खाई को पाटने पर बल देता था। वह स्पष्ट देख रहा था कि परिणाम की चिन्ता छोड़ व्यक्ति समाज के जुए को दूर फेंकने के लिए कटिबद्ध हो गया है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनिष्टकर है। इसलिए अपनी कृतियों के माध्यम से उपन्यासकार व्यक्ति और समाज के सामंजस्य की ओर बढा। एक ओर उसने पुरातन मूल्यो, जर्जर परम्पराओं और व्यर्थ के विधि-निषेधों के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में पिस रहे व्यक्ति, विशेषतः नारी की दुर्दशा का करुण चित्रण उभारा और समाज को उसकी स्वार्थता के लिए फटकारा तथा दूसरी ओर व्यक्ति के हर किसी से कटकर आत्मकेन्द्रित होते जाने के कुपरिणामों का चित्रण किया। इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी रहा है। वे

व्यक्तित्व के भीतर से मानव को जगाकर, उसे व्यक्तिगत हानि-लाभ से ऊपर उठाकर समष्टि के हितचिन्तन मे प्रवृत्त करना चाहते है। इनके उपन्यास पूर्वाग्रह या पूर्वनिश्चित सिद्धान्तो को लेकर नही चलते और न ही किसी विशेष प्रकार के समाजवाद के समर्थक है। उनमे हर प्रकार की संकीर्णता पर कसकर प्रहार हुए है और मानवोचित उदारता को प्रश्रय मिला है। इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार है :—

भगवतीचरण वर्मा : उपन्यासकार के रूप मे वर्माजी की ख्याति फैलाने वाला उनका महत्त्वपूर्ण उपन्यास है 'चित्रलेखा' जो अनातोला फ्रांस की 'ताइस' नामक रचना से प्रभावित है। 'पतन' भी उनका प्रारंभिक उपन्यास है, पर वह 'चित्र-लेखा' की अपेक्षा इतना घटिया है कि सहसा विश्वास नही हो पाता कि दोनो एक ही लेखक की कृतियाँ है। उनके बाद का उपन्यास 'तीन वर्ष' भी 'चित्रलेखा' की परिपक्वता को नही छू सका। वर्माजी के अन्य उपन्यासो मे 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाँव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'रेखा', 'सीधी-सच्ची बाते', 'सबहिं नचावत राम गोसाईं'' उल्लेखनीय है।

'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की समस्या नाटकीय शैली मे उपस्थित की गई है। पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है, इस समस्या को ही सही रूप मे प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक ओर सृष्टि हुई युवा योगी कुमार-गिरि की, जिसके व्यक्तित्व को यौवन और विराग दोनो ने मिलकर एक अलौकिक शक्ति से मंडित कर दिया है तो दूसरी ओर निर्माण हुआ सामंत बीजगुप्त का जिसके हृदय में यौवन की उमग है और आँखो मे मादकता की लाली, जिसे ईश्वर पर विश्वास नही और जो आमोद-प्रमोद को ही जीवन का सर्वस्व मानता है। कुमारगिरि जीवन के प्रति विराग का प्रतीक तो बीजगुप्त अनु-राग का। परस्पर विरोधी स्वभाव के इन पात्रो के गुणावगुणो को व्यक्त करने के लिए रचना हुई पाटलिपुत्र की परम सुन्दरी एव विदुषी नर्तकी चित्रलेखा की जो जीवन के विविध अनुभवो से सम्पन्न है। कुमारगिरि और बीजगुप्त दोनो उस के दुर्निवार आकर्षण के वशीभूत हो जाते है। कुमारगिरि के अलौकिक पर दभी व्यक्तित्व मे चित्रलेखा को चुनौती दीखती है और वह उसका दर्प तोडने मे सफल हो जाती है। उपन्यास का अंत इस निष्कर्ष मे होता है कि "मनुष्य न पाप करता है और न पुण्य, वह केवल वही करता है जो उसे करना पडता है—फिर पाप और पुण्य कैसा ? वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।" पर यह निष्कर्ष उतना पात्रों के जीवन मे से निकलता नही दीखता जितना कि उनके वाद-विवाद मे से, जिसकी प्रचुरता अनेक स्थलो पर कथानक को नीरस बना देती है।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' वर्माजी का महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जिसकी पृष्ठभूमि राज-नीतिक है। इसमें ताल्लुकेदारी प्रथा के पतन तथा सम्मिलित परिवार-व्यवस्था के विघटन का चित्रण बड़ी तीखी व्यग्यात्मक शैली में हुआ है। व्यग्य उपन्यास के

कथानक तक ही सीमित नहीं, वह पात्रों के चरित्र-विकास में भी निहित है। सब से बड़ा व्यंग्य तो यह है कि इसके नायक-ताल्लुकेदार रामनाथ से लेकर उसके राजनीतिज्ञ पुत्रो तथा झगड़ू मिश्र, विश्वंभरदयाल, वीणा आदि तक सभी पात्रों का विनाश उनके अपने हाथों होता है, बाह्य परिस्थिति के कारण नहीं। वर्माजी ने उपन्यास के कथानक को ऐसा रूप दिया है कि एक ओर तो यह चित्रित हो जाता है कि किस प्रकार परिवार के रूढ़िवादी मुखिया की अहम्मन्यता के कारण एक सम्पन्न सम्मिलित परिवार वर्ष भर मे ही बिखर जाता है और दूसरी ओर संक्रांतिकाल (सन् १९३० के आसपास) की राजनीतक उलझनों, धार्मिक भावनाओ तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी परिचय मिल जाता है। ताल्लुकेदार रामनाथ में संक्रांतिकाल के ताल्लुकेदार और परिवार-मुखिया के समस्त गुण-दोषो का समाहार हुआ है। वह उस शैल शृंग की भाँति अड़ा खडा है जिसकी जड से विरोधी लहरों के बार-बार टकराने से उसके आस-पास का सब कुछ बह गया है, पर वह अपनी अहम्मन्यता में अडिग है। उसे केवल एक बात का मोह है—अपनी आत्मा का, अपने सिद्धान्तों का। उसका विश्वास है कि जिन सिद्धान्तों को वह अपनाए हुए है, वही ठीक है और वे सभी मार्ग जिस पर उसके अपने लड़के तथा दूसरे लोग चल रहे है, टेढ़े मेढ़े रास्ते है।

'आखिरी दाँव' नामक उपन्यास की मुख्य समस्या आर्थिक है। आर्थिक मूल्यों के इस युग में धन के पिशाच ने व्यक्ति और समाज दोनों को ही विकृत कर दिया हैं। उपन्यास का नायक यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाता है कि "इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य, न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन ही है।" धन का पिशाच सब को गुलाम बनाए हुए है और समझता है कि "हर आदमी की कीमत है, इसकी भी और उसकी भी। बस केवल खरीदार चाहिए—खरीदार।" ('आखिरी दाँव', पृ० ४७)। फलत: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धन के पीछे अंधाधुध दौड़ते-दौड़ते सब धुरीहीन हो गए है। सेक्स के मुक्त प्रवाह के कारण इस उपन्यास में पाठकों को पकड़ रखने की क्षमता तो है, पर पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से इसमें अनेक असंगतियाँ रह गई है।

वर्माजी का उल्लेखनीय वृहत उपन्यास है 'भूले-बिसरे चित्र'। इसमें मध्य वर्ग के एक परिवार की चार पीढ़ियों की कहानी है जिसके माध्यम से पिछले पचास वर्ष के भारतीय समाज के बदलते हुए मूल्यों और राजनीतिक उथल-पुथल का दर्शन कराया गया है। प्रेमचन्द के बाद बदलते हुए समाज को, बदलते हुए जीवन-मूल्यों को पकड़ने का यह पहला और उत्कृष्ट प्रयास है, पर उपन्यास के रूप में यह रचना पुष्ट नहीं कही जा सकती। शिल्प की दृष्टि से इसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें चार पीढ़ियों की, चार युगों की, अलग-अलग कहानियाँ हैं और प्रत्येक कहानी का अलग नायक है। इससे उपन्यास का कथानक बिखर गया है और पूरी रचना मे अन्विति नहीं आ पायी है। छिनकी, ज्वालाप्रसाद, ज्ञान-प्रकाश आदि अनेक जीवित पात्रों के बावजूद यह उपन्यास सामूहिक रूप से मन

पर अमिट छाप नही छोडता।

वर्माजी का उपन्यास 'रेखा' एक वृद्ध प्रोफेसर की सुन्दर और जवान पत्नी के विवाहेतर सैक्स जीवन की फार्मूलाबद्ध कहानी है। उनके नवीनतम उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' मे भी एकदम नया कुछ नही। इसकी समस्या भी अर्थमूलक है। विषय की दृष्टि से इसे 'आखिरी दाँव' का और कथा शैली की दृष्टि से 'भूले-बिसरे चित्र' का नया सस्करण कहा जा सकता है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी : वाजपेयी जी का लिखना प्रेमचंद-युग से प्रारम्भ हुआ था, पर नित्य नये जीवनानुभवो के सहारे युग-युगातरों को लाँघते हुए वे अब तक चालीस से अधिक उपन्यास लिख चुके है जिनमे प्रमुख हे—'चलते-चलते', 'निमन्त्रण', 'यथार्थ से आगे', 'विश्वास का बल', 'सपना बिक गया', 'सूनी राह'। वाजपेयीजी के उपन्यास की मूल समस्या है प्रेम और विवाह मे वैमनस्य। इस समस्या के विश्लेपण द्वारा उनकी रचनाएँ जिस निष्कर्ष पर पहुँचती है वह उनके उपन्यास 'विश्वास का बल' की वन्दना के शब्दों मे यो है—"हर विवाहिता नारी विवश प्यार देती है, हर विवाहित पुरुष विवश प्यार ही पाता है। निर्मल प्यार केवल वही नारी दे सकती है जो प्रेयसी हो।" यही बात प्रकारान्तर से 'निमंत्रण' मे कही गई है—"प्रेयसी, प्रेयसी तो देवी होती है। वह अर्चना की वस्तु है। उसके साथ कही ब्याह हो सकता है? विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो भूख-शान्ति का एक मार्ग है, किन्तु तृष्णा जो ऊपर होती है, उसकी शान्ति तो प्रेयसी ही करती है अपने आत्मदान से।"

इस प्रकार उपन्यासो मे नर-नारी के विवाहेतर संबंधों, उनके परस्पर आकर्षण-विकर्पण और कामशक्ति के प्रसंगो की भरमार है। इसके अतिरिक्त अर्थोपार्जन और वैभव-नियोजन का सघर्ष भी उनके उपन्यासो मे मिलता है। 'सूनी राह' का नायक निखिल इसीलिए अपनी राह सूनी कर लेता है कि ऐश्वर्य-नियोजन मे वह ऐसी कोई सफलता नही प्राप्त कर पाता जो करुणा की आत्मगत परिकल्पनाओ में सम्मोहन पैदा कर सकती। 'टूटा टी-सेट' की नायिका नीलकमल के जीवन मे जो बवण्डर आते है, उनके मूल मे भी अर्थोपार्जन की विभीपिकाएँ हे। 'टूटते बंधन' की नायिका मुरली के जीवन में जो मोड़ आता है उसका आधार यशवन्त की दायित्वहीनता है, जो अकर्मण्यता के कारण धनोपार्जन मे उसे असफल बनाए रखती है।

उपेन्द्रनाथ अश्क : उपन्यासकार के रूप मे अश्कजी की ख्याति मुख्यतः उनके उपन्यास 'गिरती दीवारे' के कारण हुई जिसमें उन्होने नायक चेतन के रूप मे निम्नमध्य वर्ग के युवक के जीवन-व्यापी संघर्ष का चित्रण किया है। यही नही, आत्मकथा शैली के माध्यम से इस उपन्यास मे निम्न-मध्य वर्ग की प्रकृति-विकृति का भी यथार्थपरक अंकन मिलता है। प्रेमचन्द के बाद कुछ लेखक तो सेक्स संबंधी कुण्ठाओं की खोज में मानव-मन की अतल गहराइयो मे खो गए और कुछ समाजवादी दर्शन के आधार पर उसकी प्रत्येक समस्या का निदान बाह्य परिवेश

मे, मुख्यतः आर्थिक विषमता में, ढूँढते रहे, पर अश्क ने अपनी रचनाओ में अर्थ और सेक्स दोनो का ताना-बाना बुनकर निम्न-मध्य वर्ग के जीवन का चित्रण करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया कि उस वर्ग का युवक किस प्रकार इन दो पाटो के बीच पिसता चला जा रहा है और उसके चरित्र का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होकर नाना प्रकार की विकृतियो को प्राप्त होता है। युग-परिवर्तन के साथ रूढ़ियो और परम्पराओं की कठोर दीवारों के गिरते जाने से व्यक्ति को अपनी बेबसी का एहसास इतनी तीव्रता से हुआ कि उसके लिए जीवन असह्य हो उठा। व्यक्ति-चेतना उसके लिए अभिशाप बन गई है। 'गिरती दीवारे' की ही शृंखला मे अश्क के दो और उपन्यास प्रकाश मे आए है—'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्ही कन्दील', जिनमे नायक चेतन के संघर्षमय जीवन की कहानी बड़े रोचक ढग से आगे बढ़ी है। अश्क का कहना है कि चेतन की कहानी अभी दो और उपन्यास-खण्डों मे चलेगी।

अश्क के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास है—'गर्म राख', 'बडी-बडी आँखें' और 'पत्थर-अल-पत्थर'। 'गिरती दीवारे' के चेतन की तरह 'गर्म राख' का जगमोहन और 'बडी-बड़ी आँखे' का सगीत भी व्यक्ति-चेतना के जागरण से उत्पन्न बेबसी के एहसास के शिकार है। 'गिरती दीवारे' की नीला की तरह इसी बेबसी और निराशा से घिरी है 'गर्म राख' की सत्या और 'बड़ी-बड़ी आंखे' की वाणी। 'गर्म राख' का उपन्यासत्व अपेक्षाकृत पुष्ट है, पर इसमे प्रेम का वही पुराना तिकोन है—सत्या जगमोहन को चाहती है, जगमोहन दुरो को चाहता है, दुरो हरीश को चाहती है और हरीश है अहनिष्ठ। 'पत्थर-अल-पत्थर' मे वर्तमान कश्मीर की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण है।

अमृतलाल नागर . सामाजिक उपन्यासकारों मे अमृतलाल नागर का अपना स्थान है। 'बूँद और समुद्र' तथा 'सुहाग के नूपुर' नागर जी के विशेष रूप से उल्लेखनीय उपन्यास है। 'सुहाग के नुपूर, की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत होगी। 'बूँद और समुद्र' मे नागरजी ने मध्यवर्गीय नागरिक जीवन को आधार बनाकर व्यक्ति और समाज के सामजस्य पर बल दिया। उपन्यास में बूँद प्रतीक है व्यष्टि यानी व्यक्ति का और समुद्र प्रतीक है समष्टि यानी समाज का। समाज में व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकारते हुए लेखक समाज के विघटन की समस्या को इन शब्दो में प्रस्तुत करता है—"हर बूँद का महत्त्व है क्योकि वही तो अनंत सागर है, एक बूँद भी व्यर्थ क्यो जाये, उसका सदुपयोग करो।" 'बूँद और समुद्र' की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है। कथ्य की दृष्टि से निश्चय ही यह कृति ठोस है पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कथानक शिथिल पड़ जाता है और उपन्यास बिखरने लगता है। फिर भी, हिन्दी-उपन्यास को ताई जैसा पात्र (जो अपनी जटिलता में बेहद सरल है और सरलता मे बेहद जटिल) देने के लिए यह रचना सदैव याद रहेगी। ताई के रूप मे समाज के महासागर की एक महत्त्वपूर्ण बूँद सर्वथा व्यर्थ गई। किसी ने उसका महत्त्व नहीं जाना और

न ही उसका सदुपयोग किया।

उदयशंकर भट्ट : सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलने वाले उपन्यासो की परम्परा को उदयशंकर भट्ट ने भी समृद्ध किया है। इस दृष्टि से उनके उपन्यास 'सागर, लहरे और मनुष्य', 'डॉ० शेफाली', 'शेष-अवशेष' और 'लोक-परलोक' उल्लेखनीय है। 'सागर, लहरे और मनुष्य' भट्ट जी का बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें बम्बई के पास के बरसोवा गाँव की कोहली नाम की मछुआ जाति का सर्वांगीण चित्रण है। इस उपन्यास की गिनती आचलिक उपन्यास मे की जाती है, पर मुझे लगता है कि इसमे बहुत-कुछ ऐसा है, जो इसे आचलिकता के घेरे से निकालकर सार्वभौम बना देता है। उपन्यास की नायिका कोहली जाति की लडकी रतना तो निमित्त भर है आज की महत्त्वाकाक्षिणी स्वतत्र नारी की भटकन की। ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति मे पली रतना बम्बई मे आकर निरंकुश जीवन बिताने को मचल उठती है। वह शहरी जीवन को फैशन के रूप मे ओढ़ लेती है, पर सस्कारों से वह प्राचीन है। इसी द्वैत के कारण वह जीवन-भर भटकती रहती है।

आधुनिक नारी के द्वैत का चित्रण 'डॉ० शेफाली' में भी हुआ है। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने आज नारी की शारीरिक बेडियो को तो काट दिया है, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियो की दासता के सस्कार अब भी उसकी आत्मा को जकड़े हुए है और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पा रही है। डा० शेफाली' जैसी शिक्षिता और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नारी भी जीवन-भर घुलती रहे तो इसे नारी-जीवन की विडम्बना ही तो कहेगे। भट्टजी का उपन्यास 'शेष-अवशेष' साधु-जीवन की लम्बी और बड़ी बिखराव-भरी कहानी है, जो शिल्प की दृष्टि से बेहद ढीली रचना है।

अन्य : सामाजिक उपन्यासो मे चतुरसेन शास्त्री की भी कुछ रचनाएँ उल्लेखनीय है यद्यपि उनकी ख्याति मुख्यत उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण हुँ। ये रचनाएँ है—'धर्मपुत्र', 'खग्रास' और 'गोली'। 'धर्मपुत्र' हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर आधारित एक सशक्त रचना है। 'खग्रास' इस युग की वैज्ञानिक खोजो पर आधारित अपने ढग का एक ही उपन्यास है। लेखक ने स्वय स्वीकार किया है कि इस उपन्यास की प्रेरणा उन्हे प्रथम रूसी स्पुतनिक के अन्तरिक्ष-प्रवेश पर कहे गए जवाहरलाल नेहरू के इन शब्दों मे मिली थी · "जिस गति से विश्व वर्तमान मे आगे बढ़ रहा है, उसे देखते हुए यह उचित है कि साहित्य मे प्राविधिक और वैज्ञानिक पुट अधिक रखा जाए।" ('खग्रास'-सिहावलोकन, पृ० २१)। 'गोली' नामक उपन्यास में, जो उनका अतिम उपन्यास है, भारतीय रजबाड़ो के रंगमहलो मे गोले-गोलियों एवं दास-दासियो पर होनेवाले नृशंस अत्याचारों का चित्रण है।

विष्णु प्रभाकर के दो उपन्यास 'निशिकान्त' और 'तट के बधन' भी उल्लेखनीय है। 'निशिकान्त' में कमला के रूप में लेखक ने हिन्दी-उपन्यास को एक ऐसा सशक्त नारी-पात्र दिया है, जो समाज से सीधे टक्कर लेकर कठोरातिकठोर प्रहारों का

भी हिम्मत से झेल लेती है, उनके आगे झुकती नही, टूटती भी नही। अपनी निर्भीकता और आत्म-निर्भरता के कारण कमला बरबस शरत् के 'शेष प्रश्न' की नायिका कमल की याद दिलाती है।

समाजवादी उपन्यास

प्रेमचन्दोत्तर युग मे सामाजिक धारा के अतिरिक्त सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलने वाली समाजवादी धारा का भी विशेष योगदान रहा। यह साम्यवादी चिंतन से अनुप्राणित है। उसकी रचनाओं मे भी समाज के सर्वतोमुखी उत्थान की तड़प है। उनमे भी धार्मिक अंधविश्वासों, सामाजिक विषमताओं और धार्मिक विसंगतियो पर निर्मम प्रहार किया गया है तथा शोषित वर्ग के उद्धार के लिए बड़े जोर की आवाज उठाई गई है, पर उनमे प्रत्येक समस्या का निदान द्वन्द्वात्मकता भौतिकवाद के सहारे खोजा गया है और उसी के आधार पर विश्लेषण करते हुए समाधान प्रस्तुत किया गया है जो बहुधा आरोपित लगता है। ये उपन्यास व्यक्ति और समाज के संघर्ष की अपेक्षा वर्ग-संघर्ष पर अधिक बल देते हैं। पिछले दो-ढाई दशकों मे निश्चय ही इस धारा की रचनाओं मे मताग्रह उत्तरोत्तर कम हुआ है, और वे अपेक्षाकृत कलापूर्ण बनी है। फिर भी कई बार ऐसा लगता है कि समस्या का विश्लेषण और समाधान कोरे बौद्धिक स्तर पर हुआ है और लेखक तथा उसके पात्रों की मध्यवर्गीय संस्कारिता बार-बार सिर उठाकर उनके दृष्टिकोण की कृत्रिमता को उघाड़ देती है। पर जहा रचनावाद की सकीर्णता को लाँघकर समस्या को सहज रूप से लेती है वहाँ वह यथार्थ के अधिक निकट पहुँच जाती है और पाठक की बद्धमूल धारणा को झकझोरने में सफल हो जाती है। इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार है :

यशपाल : यशपाल कला को कला के लिए नही मानते, उनकी दृष्टि मे कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का यत्न है। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में उनकी गहरी आस्था है। अपने उपन्यास 'देशद्रोही' की भूमिका मे उन्होने लिखा भी है कि "लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने मे ही है। विकास द्वारा समाज सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने मे ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है।" उनके उल्लेखनीय समाजवादी उपन्यास है—'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी-कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच'। 'दिव्या' और 'अमिता' उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनकी चर्चा यथास्थान होगी। 'दादा कामरेड' की कहानी की तत्कालीन तीन राजनीतिक विचारधाराओं—गांधीवाद, आतंकवाद और साम्यवाद के विवेचन-विश्लेषण के सहारे चलती है और आशा का संदेश लेखक को साम्य-वादी जीवन-दर्शन में ही मिलता है। 'देशद्रोही' में मध्यवर्ग के एक बुद्धिजीवी खन्ना का चित्रण है जो अपनी मानसिक उलझनों के बावजूद व्यक्ति के घेरे से

निकलकर समाज की ओर उन्मुख होता है और साम्यवादी विचारधारा को अपना लेता है। पर ऐसा वह बौद्धिक स्तर पर ही कर पाता है—साम्यवाद की आत्माओं को पहचाने बिना इसमे खन्ना तथा उसकी पत्नी चन्दा की कुंठाओं और सीमाओं के रूप में मध्यवर्ग की सामाजिक चेतना का चित्रण हुआ है। 'मनुष्य के रूप' यशपाल का अपेक्षाकृत प्रौढ उपन्यास है जिसमे पुरुष द्वारा नारी के शोषण की मार्मिक कहानी है। अर्थ और काम के दो पाटों के बीच नारी शताब्दियों से पिसती आयी है। देश की स्वतन्त्रता, नारी-जागरण और शिक्षा के प्रसार के बावजूद नारी का शोषण रुका नही, शोषण का रूप भर बदला है। हाँ, यह ज़रूर है कि नारी आज इतनी निरीह नही कि अपने शोषण का बदला न ले सके। इस उपन्यास की नायिका सोमा को ही ले। वही सोमा जो उपन्यास के आरम्भ मे घर से भाग निकलने में लज्जा और भय का अनुभव करती है, अपने उथल-पुथल भरे जीवन मे ठोकर-पर-ठोकर खाती हुई बेहद चालाक हो गई है। अपने जीवन मे आए ऐश्वर्य को स्थायी बनाने के लिए वह उन्ही पुरुषो को अपने चंगुल मे फँसा लेती है जो उसे वासना-पूर्ति का साधन बनाते है।

'झूठा सच' यशपाल का बृहदाकार और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसके दो भाग हैं—'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य'। पहले भाग में देश के विभाजन के समय की अराजकता का वर्णन है और दूसरे मे है स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के भारत का चित्रण। बँटवारे के साथ साम्प्रदायिकता की जो भीषण आँधी चली और उसमे जो जघन्य और कुत्सित घटनाएँ घटी, निरीह नारी का जो अपमान और तिरस्कार हुआ, उसके फलस्वरूप मानवता पर से मानवता का विश्वास उठ गया और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण मे आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रकट हुआ। त्याग और तपस्या का मूल्य तेजी से गिरने लगा और उसके स्थान पर अर्थ और स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ जड़ पकड़ने लगी। देखते-देखते समूचे राष्ट्र की काया पलट गई। भारतीय संस्कृति और इतिहास की इस दुखद परिणति को सबसे पहले यशपाल ने इस उपन्यास में सांगोपांग लिया है। इस कृति में साम्प्रदायिक दंगों का जो हृदय-विदारक चित्रण हुआ है, जन-मानस की अधोगति का निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और बदलते हुए जीवन-मूल्यों का जो विवेचन हुआ है, उसके लिए इसकी खूब प्रशंसा हुई है। पर इस उपन्यास के मुख्य पात्रों—कनक, पुरी और तारा—के चरित्र की जो परिणति दिखाई गई है, उसके बारे मे बड़ा मतभेद है।

नागार्जुन : प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन ने पहली बार ऐसे पात्रों को उभारा है जो कुण्ठाओं से मुक्त है। उनके प्रमुख उपन्यास हैं—'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' और 'दुखमोचन'; पर उनकी ख्याति का मूलाधार है 'बलचनमा', जिसमे उन्होंने मिथिला के आंचलिक परिवेश में वहाँ के मध्यवर्गीय किसानों के संघर्षों की दुखभरी कहानी कही है, उनके शोषक जमीदारों पर निर्मम प्रहार किए है और नयी पीढ़ी में पूँजीवादी तथा सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध धीरे-धीरे सुलग रही उस विद्रोहाग्नि को प्रज्वलित

किया है जिसके प्रथम दर्शन 'गोदान' के गोबर मे हुए थे। 'बाबा बटेसरनाथ' संबंधी नया प्रयोग हुआ है। पुराना वटवृक्ष नायक जयकिशन के आगे बाबा बटेसरनाथ के रूप मे प्रकट होता है और उसकी पिछली तीन पीढ़ियो पर जमींदारो द्वारा किए गए अत्याचारो की कहानी सुनाकर उसे उनके हथकंडो के प्रति सचेत कर देता है। नागार्जुन का उपन्यास 'वरुण के बेटे' मछुओ के साहसिक जीवन की कहानी है और 'दुखमोचन' मे साधन-रहित गावो मे आ रही नयी चेतना की झाँकी मिलती है। जीवन-भर शोषण के प्रति घृणा और विद्रोह का जो तीव्र भाव है, शासक से सीधे डटकर लड़ने का जो दम है, वह नये युग की चेतना का द्योतक और सराहनीय है, पर जब-जब लेखक ने अपने साम्यवादी विचार लादने का प्रयास किया है उसकी रचना लड़खड़ा गई है।

रांगेय राघव : साम्यवादी चेतनाके उपन्यासकारोमे यशपाल और नागार्जुन के बाद रांगेय राघव का नाम आता है। उनके उपन्यासों की संख्या तीस के लगभग है, जिनमे अनेक भरती की रचनाएँ है और अनेक प्रचारवादी। उन्हे निकाल देने पर भी उनकी कई उल्लेखनीय रचनाएँ रह जाती है। 'घरौदे' उनका प्रथम उपन्यास है, जो कला की दृष्टि से एक पुष्ट रचना है। उसमें राजनीतिक मताग्रह का भी अभाव है जो उनकी परवर्ती रचनाओं मे प्रचुरता से मिलता है। इसके अलावा 'सीधा-सादा रास्ता', 'विषाद मठ', 'हुजूर' आदि उनके सामाजिक उपन्यास है। 'कब तक पुकारूँ' की गणना आंचलिक उपन्यासो में की जाती है, पर मूलतः वह सामाजिक उपन्यास ही है। 'मुर्दों का टीला' रांगेय राघव का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है पर वहा भी उनका दृष्टिकोण समाजवादी ही अधिक रहा है। इसकी चर्चा ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत होगी।

यद्यपि वर्ग-वैषम्य और आर्थिक शोषण का शिकार जन-साधारण ही रांगेय राघव की कृतियो का विषय बना है, फिर भी कई बार लगता है कि लेखक की मान्यताओ के कारण कथानक का प्रकृत विकास अवरुद्ध हो गया है। उदाहरणार्थ, उनका उपन्यास 'सीधा-सादा रास्ता' भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के प्रत्युत्तर मे यह मानकर लिखा गया है कि सामंती संस्कारो के प्रतीक रामनाथ से मुक्त होकर लड़कों द्वारा अपनाए गए जिन रास्तो को भगवती बाबू ने टेढ़े-मेढ़े रास्ते कहा है, वही तो सीधे-सादे रास्ते है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के अन्त से उन्हीं पात्रो और उनकी परिस्थितियो को लेकर इस रचना का आरम्भ हुआ है। हिन्दी उपन्यास के इतिहास मे यह एक नया प्रयोग है, जिसमें उपन्यास के माध्यम से अन्य उपन्यास मे व्यक्त जीवन-दर्शन की आलोचना प्रस्तुत की गई है।

'हुजूर' रांगेय राघव का एक छोटा परन्तु सुसंगठित उपन्यास है जिसमें एक कुत्ते की आत्मकथा के रूप मे इस कटु यथार्थ को उभारा गया है कि अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद मानव का शोषण उसी प्रकार, बल्कि उसके भी भीषण, हो रहा है और शोषितों की दशा पशुओं से भी गई-बीती है। हिन्दी उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है। 'कब तक पुकारूँ' में

राजस्थान के नटों की एक उपजाति विशेष के जीवन का चित्रण हुआ है।

अन्य : 'मशाल', 'गगा मैया' और 'सती मैया का चौरा' भैरवप्रसाद गुप्त की उल्लेखनीय रचनाएँ है, जिनमे साम्यवादी चेतना को लक्ष्य बनाकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर वर्ग-सघर्ष का चित्रण किया गया है। अमृतराय के तीन उल्लेखनीय उपन्यास है---'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत', जो साम्यवादी चेतना से प्रभावित है। 'हाथी के दाँत' मे एक सामत के व्यग्य चित्र द्वारा यह बताया गया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी उन लोगो के दृष्टिकोण मे कोई अन्तर नही आया है। अन्तर कुछ आया है तो केवल इतना कि उनके स्वार्थपूर्ण चेहरे पर देशभक्ति का नक़ाब चढ गया है। उसी नकाब को फाड फेकना इस रचना का लक्ष्य है।

इनके अलावा दो और उपन्यासकार ऐसे है जिनकी आरम्भिक कृतियाँ स्पष्टत' साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित है। बाद मे भले ही उनकी सैद्धान्तिक कट्टरता के तीखे कोने निरन्तर घिसते गए और बहते-बहते इस धारा मे उबर आए। ये उपन्यासकार है---लक्ष्मीनारायण लाल और राजेन्द्र यादव। लक्ष्मीनारायण लाल के उल्लेखनीय उपन्यास है---'धरती की आँखे, 'बया का घोसला और साँप', 'काले फूल का पौधा', 'रूपाजीवा' और 'मन-वृन्दावन'। इन उपन्यासों मे 'धरती की आँखे' और 'रूपाजीवा' विशेप उल्लेखनीय है। लक्ष्मीनारायण लाल मूलत नाटककार है। नाटक के क्षेत्र मे उन्हे ख्याति भी मिली है। पर प्रगतिशील विचारधारा और जीवन-मूल्यों के बावजूद उनके उपन्यास पाठक के मन को छू नहीं पाते, मस्तक को उकसाकर रह जाते है। उनमे कथ्य का बिखराव अधिक दृष्टिगोचर होता है और कथानक की अन्विति कम। राजेन्द्र यादव के उल्लेखनीय उपन्यास है---'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग' तथा 'शह और मात'।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की खोजो ने उपन्यासकार मे भी नई जागृति ला दी। नये-नये आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अनुसधानो के प्रकाश मे जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बदलने लगा जिसके परिणामस्वरूप उसके लिखने मे भी परिवर्तन आ गया। फ्रायड के सिद्धांतों ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित किया था, उससे उपन्यासकार को पता चला कि बाह्य संघर्ष की प्रतिछाया या उसका विस्तृत रूप होता है। बाहर की घटनाओ में घटित होने से पहले ही व्यक्ति-मानस मे ही कई घटनाएँ घटित हो जाती है। बाहर के स्थूल सघर्ष मे पडने से पहले उसे आतरिक संघर्ष से जूझना होता है। इस प्रकार उपन्यासकार की दृष्टि मे व्यक्ति और परिस्थिति के सघर्ष का कोई मूल्य न रहा। 'संघर्ष' और 'घटना' की उसकी परिभाषा बदल गई और उनके चित्रण का स्वरूप बदल गया। उपन्यास मे बाह्य सघर्ष का स्थान अंतर्संघर्ष ने ले लिया।

और उपन्यासकार अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति-मानस में हो रहे संघर्ष के अचेतन के कारणों की खोज में मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ। फ्रायड, एडलर और जुंग के सिद्धांतों ने तथा स्टेकेल और हैवलाक एलिस की धारणाओं ने उसे नई दृष्टि दी। इससे वह बड़े आत्मविश्वास के साथ अपने पात्रों के मानस की चीर-फाड़ करने और उनके अचेतन की परत-पर-परत खोलने में जुट गया। कोरे भावुकतापूर्ण अनुमान का स्थान मनोवैज्ञानिक प्रणालियों ने ले लिया और वह अनुभवी मनोविश्लेषक की तरह मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन-विश्लेषण, सम्मोह विश्लेषण, शब्दस्मृति परीक्षा, इतिवृत्तात्मक आदि विविध प्रणालियों के सहारे व्यक्ति-मानस की अतल गहराइयां नापने लगा।

जैनेन्द्र: हिन्दी उपन्यास में जैनेन्द्र ने एक पहले के रूप में ही पदार्पण किया। पाठक को घिसी-पिटी एवं संकीर्ण नैतिकता से निकालकर मूल नैतिकता तक पहुँचाने वाले गहन आत्मचिंतन की ओर सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रवृत्त किया। प्रेमचन्द के उपन्यासों ने 'सु और कु' तथा देव और दानव के रूप में जो मूल्य स्थिर कर लिए थे, जैनेन्द्र ने आते ही उनके आगे प्रश्न-चिह्न लगा दिया और पाठक से अनुरोध किया कि वह इन सामाजिक मूल्यों के बाहरी रंग-रूप में न उलझकर उनकी आत्मा तक पहुँचने का प्रयास करे। पहले 'परख' और 'सुनीता' में, फिर 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में उन्होंने मानव-मन की गहराइयों में उतरकर नर और नारी के सम्बन्धों की परस्परता का जो चित्रण किया उससे रूढ़ नैतिकता की जड़ें हिल गईं और जैनेन्द्र हिन्दी-साहित्य पर छा गए।

जैनेन्द्र के परवर्ती उपन्यास हैं—'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्धन' तथा 'मुक्तिबोध' जिन्हें पढ़कर बहुतों को लगा है कि जैनेन्द्र ने जो देना था वह 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में ही दे चुके; उनकी परवर्ती रचनाएँ तो इन्हीं का रूपान्तर हैं। जैनेन्द्र का कहना है कि इसी धारणा की अभिव्यक्ति 'सुनीता' की भाँति 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' में भी हुई है और तदनुसार उनके कथानक (थोड़ा बहुत जो कुछ भी है) का गठन और पात्रों का विकास हुआ है। जैनेन्द्र के निकट मानव की मूल समस्या यह है कि व्यक्ति है—व्यक्ति यानी अखिल से कटा पुंजीभूत अहं जो अपने में रुद्ध है, 'पर' की ओर उन्मुख होकर समग्र में खो रहने को प्रवृत्त नहीं। इसी कारण उसे घोर मानसिक यातना सहनी पड़ती है। उनके उपन्यासों के पात्र मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। समाज में रहते हुए भी वे उससे कटे रहते हैं। समाज के नाम पर उनका वास्ता पड़ता है पति या पत्नी के किसी मित्र या प्रेमी से। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की तरह इन उपन्यासों की नायिकाओं की भी मुख्य समस्या यह है कि उनका प्रेमी और पति एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग दो पुरुष होते हैं। जिससे उनका प्रेम हो जाता है उससे विवाह नहीं हो पाता और जिससे विवाह हो जाता है उससे प्रेम नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में पति-पत्नी दोनों के बीच भीतरी और बाहरी घोर संघर्ष [illegible] पर जैनेन्द्र [illegible] ऐसा नहीं होता। उनके

चेतन मन मे इस विषय को लेकर कोई विशेष संघर्ष नही छिडता, क्योंकि वे स्थिति को स्वीकार करके मानसिक सतुलन बिगडने नही देते। पत्नी को किसी और की ओर प्रवृत्त देख पति उदार हो जाता है और 'विवर्त' के नायक नरेश की तरह पत्नी को ढाढस बँधाता हुआ कहता हे, "मुह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नही। प्यार का हक सबका है—तुम्हारा, मेरा, उसका, सबका।" और उसका मार्ग प्रशस्त करते हुए कहता है, "अगर मै सौ फीसदी तुम्हारा हूँ तो एक फीसदी भी मुझे अतिरिक्त गिनती मे मत लो।"

पर पति से आश्वासन पाकर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ आश्वस्त नही हो पाती। उनके अवचेतन मन मे पातिव्रत्य के परम्परागत संस्कार इतने गहरे धँसे है कि पति के प्रति उदासीन और प्रेमी की ओर आकृष्ट होने की कल्पना तक से ही वे अपने को अपराधी पाती हैं और लाख चाहने पर भी पति से अलग नही हो पाती। पर वे अह के घेरे को तोडकर 'पर' मे (पर-पुरुष मे) खो रहने को व्यग्र रहती है। प्रेमी मे उनकी कामासक्ति, प्रेमी के सामीप्य-लाभ की उनकी चिरपोषित इच्छा, जब उन्हे प्रेमी की ओर झुका ले जाती है और वे समर्पित होने को होती है तो उनके भीतर सदियो के जमे पातिव्रत्य के सामाजिक संस्कार, यानी उनकी 'कॉशस' उन्हे पति के प्रति विश्वासघात करके अपनी नजरों मे गिरने नही देती, और उनका समर्पण होता होता सहसा बीच मे ही रुक जाता हे। पर पति की भी तो वे पूरी तरह नही हो पातीं। इस प्रकार उनके अचेतन मे निरन्तर पातिव्रत्य और वासना में सघर्ष चलता रहता है। इस घोर मानसिक सघर्ष का परिणाम यह होता है कि वे पति और प्रेमी दोनो से ही कटी-कटी रहती है। अपने में सिमटकर वे अपने को शून्य बना लेती हैं और यह शून्य उन्हे भीतर-ही-भीतर काटता रहता है। इस लम्बे सघर्ष मे प्रभुता यद्यपि पातिव्रत्य के सस्कारो की ही रहती है, फिर भी ये सस्कार उनके 'सेक्स' को पूरी तरह रोक नही सकते, जो अन्तत: उन्हे प्रेमी के प्रति समर्पित होने को मजबूर कर देती है। घोर मानसिक संघर्ष में से गुजरने के बाद सुखदा लाल के प्रति, भुवनमोहिनी जितेन के प्रति और अनिता जयन्त के प्रति समर्पित हो जाती है। समर्पण मे उनका अह टूट जाता है और रुद्ध व्यक्तित्व खुलकर 'पर' मे खो जाता है। जैनेन्द्र के निकट आत्मार्पण मे ही आत्मोपलब्धि है।

जैनेन्द्र का उपन्यास 'जयवर्धन' इन तीनों रचनाओ से भिन्न है, भले ही उसकी यह भिन्नता कथ्य की अपेक्षा शिल्प की दृष्टि से अधिक है। सरसरी नजर से देखने पर उसके राजनीतिक उपन्यास होने का भ्रम हो सकता है, पर मूलत: उसमे भी कथानायक जयवर्धन के बाह्याभ्यन्तर के विश्लेषण द्वारा उसके समग्र व्यक्तित्व को पा लेने की चेष्टा है। यह चेष्टा करता है विदेशी-पत्रकार बिलवर हूस्टन जो सप्ताह-भर के लिए भारत आया है। वह इस उपन्यास में मनोविश्लेपक का-सा काम करता है और नायक को समझने के लिए मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन), बाधकता-विश्लेषण (रेजिस्टेंस एनेलिसिस), स्वप्न-विश्लेपण आदि

उन सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग करता है जिनके बिना मनोविश्लेषक एक कदम भी आगे नही बढ़ सकता। मनोविश्लेषण मे, निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्रित करनी पड़ती है और इसके लिए मनोविश्लेषक और पात्र का प्रतिदिन का सम्पर्क कम-से-कम दो-तीन वर्ष तक चलता है। पर हूस्टन तो सप्ताह-भर मे ही जयवर्धन के निजत्व को पा लेना चाहता है। ऐसी स्थिति मे निराशा ही हाथ लगनी थी। निराशा हूस्टन को ही नही, पाठक को भी होती है। उसके लिए जयवर्धन अन्त तक अज्ञेय बना रहता है।

इलाचन्द्र जोशी अपने उपन्यासों के माध्यम से इलाचन्द्र जोशी निरन्तर इस खोज मे प्रवृत्त है कि अज्ञात चेतना के पाताल लोक मे स्थित अतल नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य जीवन-तत्त्वो के साथ उन नारकीय, किन्तु मूल जीवन-तत्त्वो का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके मानव जगत् में किन उपायों से अपेक्षित-स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है ('प्रेत और छाया' की भूमिका)। जोशी जी का प्रथम पर प्रसिद्ध उपन्यास है 'संन्यासी', जिसमे उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का कलात्मक निर्वाह आत्मकथा-शैली मे हुआ है। इसमे नायक नन्दकिशोर के रूप मे व्यक्ति के अहंभाव की एकान्तिकता पर निर्मम प्रहार हुए है। यथार्थ जीवन-भूमि पर मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्त्वो का विवेचन-विश्लेषण इस उपन्यास की विशेषता है। 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित' बाद की रचनाएँ है जिनमे उत्तरोत्तर मनोविज्ञान कला पर हावी होता गया है।

इलाचन्द्र जोशी के ये परवर्ती उपन्यास है—'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी', 'जहाज का पछी' और 'ऋतुचक्र'। 'मुक्तिपथ' से उनकी उपन्यास-कला ने एक स्वस्थ मोड़ लिया है। यहाँ से उन्होने वर्षा के अपने मनोविज्ञान-सम्बन्धी अध्ययन-मंथन का सामाजिक उद्देश्य से प्रयोग करना शुरू किया है। उपन्यास का नायक राजीव समाजवादी विचाराधारा का है और श्रम द्वारा मुक्ति चाहता है, पर नायिका सुनन्दा जीवन में श्रम भी चाहती है और विश्राम भी, मुक्ति भी चाहती है और बंधन भी। यह उपन्यास इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि व्यक्ति समाज की आधारभूत इकाई है, व्यक्ति को दबाकर सामाजिक उत्थान के लिए किए गए किसी भी कार्य की विफलता निश्चित है।

जोशी जी का उपन्यास 'सुबह के भूले' एक साधारण उपन्यास है। उनका अगला उपन्यास 'जिप्सी' अधिक सारगर्भित है। उपन्यास का नायक रंजन अपने अपार धन-वैभव के आधार पर जिप्सी लड़की मनिया को अपने वश मे कर लेने की हर संभव कोशिश करता है। आरम्भ में तो रंजन को खूब सफलता मिलती है, पर ज्यों ही मनिया के व्यक्तित्व का विकास होता है, उसका आत्मबल बढ़ता है, वह रंजन और उसके वैभव के बन्धन को तोड़ समाज-सेवा के मुक्त वायुमण्डल मे चली जाती है। इस रचना मे जोशी जी ने मानव व्यक्तित्व की प्रकृत शक्ति पर बल दिया है और 'हिप्नाटिज्म' की कृत्रिम विधा को काटा है।

जोशी जी का उपन्यास 'जहाज का पंछी' व्यक्ति के प्रति समाज के और व्यक्ति के प्रति व्यक्ति के अत्याचार की कहानी प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की सबसे बडी कमजोरी है इसके कथानक की घटना-बहुलता और पात्रो की भरमार। कहीं की ईंट कही का रोडा जोडकर उपन्यासकार ने असख्य पात्रो के इति-वृत्तों (केस हिस्ट्री) के सहारे उपन्यास भर मे इतनी घटनाएँ बिखेर दी है कि पाठक बेचारा चकरा जाता है। प्रत्येक घटना और उसमे व्यक्त पात्र की प्रति-क्रिया के आरम्भ, विकास और निष्पत्ति मे इतना साम्य है, निष्कर्षो की इतनी आवृत्ति है कि पाठक बहुधा ऊब जाता है। उनका नवीनतम उपन्यास है 'ऋतुचक्र' जिसमे कुछ अछूती समस्याओं को गहराई से लिया गया है—उदाहरणार्थ, मनुष्य के सामूहिक अवचेतन के केन्द्रीय परमाणु के विस्फोट की कल्पना, प्रोढ़ो का अनासक्ति-काम, उन्मुक्त प्रकृति के सान्निध्य मे विचार-मुक्ति।

अज्ञेय : अज्ञेय ने हिन्दी-उपन्यास को एक नया मोड़ दिया। उनका विश्वास है कि "व्यक्ति अपने सामाजिक सस्कारों का पुज भी है, प्रतिबिम्ब भी और पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओ का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थियों से वह बनाता है, उन्ही को बनता और बदलता भी चलता है, वह निरा पुतला, निरा जीव नही, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति ('नया समाज'—मई १९५२)

'शेखर : एक जीवनी (दो खड) अज्ञेय का प्रथम पर बहुचर्चित उपन्यास है जो उपन्यासकार के रूप मे उनकी ख्याति का मूलाधार बना। यह उपन्यास घनीभूत वेदना की एक रात मे फाँसी के पात्र एक सशक्त क्रातिकारी का अपने गत जीवन का प्रत्यावलोकन है—यह जानने के लिए कि वह जैसा है, वैसा क्यो हुआ। जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर शेखर प्रत्यावलोकन करने बैठता है और एक-एक करके जीवन की सभी प्रमुख घटनाएँ उसके स्मृतिपट पर उभरने लगती है। पहले तो वह इन स्मृतियो के सहारे अपने विगत जीवन को दुबारा जीने लग जाता है, पर ज्योंही उसकी स्मृतियो मे एक क्रम आने लगता है वह तटस्थ द्रष्टा के रूप मे स्थिति का नियम विश्लेषण करने लगता है। इस प्रकार सह-स्मृतियो के आधार पर आत्मविश्लेषण द्वारा चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना इस उपन्यास का मुख्य विषय है जो आधुनिक उपन्यास की मूल समस्या है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अज्ञेय के दो और उपन्यास प्रकाश मे आए—'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी'। 'नदी के द्वीप' का नायक है भुवन। भुवन वैसे तो फिजिक्स मे डाक्टर है, पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन नही, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमडन का प्रकाशन है जो उसके विचारों और कार्यों को निर्दिष्ट करती है। रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती है : रेखा उसकी यौन प्रवृत्ति को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी विवेक-बुद्धि को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज है, जागृत करती है।

सच तो यह है कि रेखा के माध्यम से वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह में एक बार उसकी रिसर्च-विसर्च सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने से यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व था। भुवन की इन दो प्रवृत्तियों मे जोर का संघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन-धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है तो बीच-बीच मे गौरा की याद आकर अंकुश का काम करती है। फिर रेखा के 'फुलफिलमेंट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है, तब बीच-बीच में रेखा का ध्यान उसे विचलित करके पूर्णतया समर्पित नही होने देता है। भुवन के जीवन में निरन्तर उसकी सेक्स-भावना यानी रेखा की ही प्रबलता रही, पर अन्ततोगत्वा उसने गौरा को जो पूर्णत. स्वीकार कर लिया उसके पीछे सेक्स प्रवृत्ति नही थी। उपन्यास के चौथे पात्र चन्द्रमाधव की उपादेयता सदिग्ध है; क्योंकि वह कथानायक भुवन के संघर्ष को न तो बढ़ा सका है और न ही घटाता है। 'शेखर . एक जीवनी' के प्रधान पात्रों के अचेतन मे पहले कान्शयन्स की सेक्स पर विजय होती रहती है और बाद मे सेक्स की जीत ध्वनित होती है। पर 'नदी के द्वीप' में पहले सैक्स जीतता रहता है औरबाद मे 'कान्शयन्स'।

'नदी के द्वीप' को पढ़ते हुए डी० एच० लारेंस की याद आ जाती है। लारेंस का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष की उभयलैंगिकता (बाई सेक्सुएलिटी) एक वैज्ञानिक कल्पना है, वे दोनो अलग-अलग सेक्स है—स्त्री शत-प्रतिशत स्त्री और पुरुष शत-प्रतिशत पुरुष। उसकी धारणा है कि इसीलिए स्त्री और पुरुष का यदि मेल हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे मे प्रवेश करके एक-दूसरे को समझ सकते है। इस दृष्टि से रेखा के 'फुलफिलमेट' तक 'नदी के द्वीप' और लारेंस के उपन्यास 'लेडी-चेटलीज लवर' मे आश्चर्यजनक समानता मिलती है। बाद मे, भुवन की अपराध-भावना 'नदी के द्वीप' को नया मोड़ दे देती है। अज्ञेय स्वय भी अपने को लारेंस के निकट मानते है।

'अपने-अपने अजनबी' का विषय भी वही है, जो 'शेखर : एक जीवनी' का था, यानी मृत्यु से साक्षात्कार। अन्तर केवल यह है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि उसके जीवन की सिद्धि क्या है, अर्थात् यदि वह मर जाता है तो कुल मिलाकर उसके जीवन का अर्थ क्या हुआ। पहला उपन्यास व्यक्ति के जीवन मे मृत्यु के स्थान को लेकर है तो यह उपन्यास जीवन पात्र के किस नक्शे में मृत्युमात्र के स्थान की व्याख्या में प्रवृत्त है। किस प्रकार मृत्यु कुछ के लिए स्वयं अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी, किस प्रकार मृत्यु से साक्षात्कार अपनों को अजनबी बना देता है और अजनबियों को अपना, इस प्रश्न को लेकर मृत्यु के प्रति पूर्व के स्वीकारभाव और पश्चिम के विरोधभाव की तुलना भी इस चित्र मे मिलती है, यद्यपि ये दोनों दृष्टिकोण पश्चिमी पात्रों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यह रचना लड़खड़ा जाती है। कुल मिलाकर अज्ञेय का औपन्यासिक कृतित्व उत्थान को नहीं, ढलान को ही ध्वनित करता है।

डा० देवराज : डा० देवराज के चार उपन्यास है—'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'रोडे और पत्थर' तथा 'अजय की डायरी' जिनमे मध्यवर्ग के शिक्षित बुद्धिजीवी समाज के जीवन की करुण यथार्थता का मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है। 'पथ की खोज' लेखक का पहला उपन्यास है जो शिक्षित समाज मे जीवन-मूल्यों के विघटन के परिणामस्वरूप पैदा हुए बौद्धिक और मानसिक सघर्ष का निदान व्यक्ति की भीतरी गहराइयों में उतरकर मनोवैज्ञानिक पद्धति से ढूँढता है। 'बाहर-भीतर' मे देवर राजन और भाभी सुमित्रा के परस्पर आकर्षण को लेकर सामाजिक मर्यादाओ के सदर्भ मे उनके बाहर की जडता और भीतर की सरलता के संघर्ष का चित्रण है। अतत. सामाजिक मर्यादाओ के आगे दोनो के व्यक्तित्वो का टूटकर बिखर जाना 'भीतर' पर 'बाहर' की विजय का परिचायक है।

'अजय की डायरी' उनका नया उपन्यास है, जिसे प्रकाशकीय वक्तव्य मे 'एक प्रेम कथानक के चारों ओर ग्रंथित लेखक के जीवन-दर्शन को प्रकट करने वाला हिन्दी का पहला अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास कहा गया है। पता नही, किसी दूसरे देश के सामाजिक रीति-रिवाजों का वर्णन कर देनेभर से कोई रचना कैसे अन्तर्राष्ट्रीय बन सकती है ? मूलत' यह विश्वविद्यालय के अध्यापक की एक छात्रा के साथ असफल प्रेम की कहानी है, जो अध्यापक की डायरी के रूप मे प्रस्तुत की गई है। आधुनिक शिक्षित समाज पर 'अजय की डायरी' एक बहुत बड़ा व्यग्य है। यह सारा समाज अनेक प्रकार की कुठाओ का शिकार है। उसमे साहस का नितान्त अभाव है, यहाँ तक कि उनमे से वे कार्य करनेकी भी हिम्मत नही जिसके औचित्य का उसे पूरा विश्वास है पर दर्शन और मनोविज्ञान ने रचना को प्रकृत रूप नही लेने दिया। पूर्वार्द्ध मे तो फिर भी पकड़ है,परउत्तरार्द्ध मे रचना बिखर जाती है।

इस धारा की अन्य रचनाओ मे प्रभाकर माचवे के तीन लघु उपन्यास उल्लेखनीय है—'परन्तु', 'द्वाभा' और 'साँचा' जिनमे सामाजिक वैषम्य की प्रतिक्रिया मे व्यक्ति-चेतना के अन्तर्मुखी और आकेन्द्रित होकर शून्य मे खो जाने का चित्रण है। यद्यपि इन रचनाओ मे ऐसे स्थल है, जो पाठको को भीतर तक छू जाते है, तो भी इनका महत्त्व कथ्य की अपेक्षा कथन-शैली, नयी-नयी तकनीको के प्रयोग के कारण अधिक है। 'जो' उनका नया उपन्यास है जो अमेरिका मे चल रहे नीग्रो-सघर्ष की हृदयस्पर्शी कहानी है। इनके अतिरिक्त नरेश मेहता का उपन्यास 'डूबते मस्तूल', रघुवंश का 'तन्तुजाल', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का लघु-उपन्यास 'सोया हुआ जल' और भारतभूषण अग्रवाल का 'लौटती लहरो की बाँसुरी' भी उल्लेखनीय है।

ऐतिहासिक उपन्यास

लैसली स्टीफन का विश्वास है कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यासो के द्योतक हैं। उधर, इतिहासकार पालग्रेव की धारणा है कि ऐतिहासिक उपन्यास

इतिहास के शत्रु होते है। ऐतिहासिक उपन्यास यदि साहित्य और इतिहास दोनों मे से किसी के प्रति भी न्याय नही कर पाता तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर उपन्यासकार प्रवृत्त क्यों होता रहा है ? हो सकता है कि उपन्यासकार को लगा हो कि इतिहासकार इतिहास की किसी घटना या व्यक्ति के प्रति न्याय नहीं कर पाये और इतिहास के पुनर्मूल्याकन की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास रचने की चेष्टा की हो। यह भी हो सकता है कि किसी उपन्यासकार ने अपने उपन्यास की कथावस्तु इतिहास से इसलिए ली हो कि किसी घटना अथवा व्यक्ति विशेष के सहारे वह अपनी मान्यताओ को प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत कर सकने की आशा रखता था। ऐसा भी तो हो सकता है कि वह अतीत के किसी युग विशेष की सभ्यता अथवा संस्कृति से प्रभावित हो और अपने उपन्यासों के माध्यम से उसे पुनर्जागृत करना चाहता हो। हिन्दी-उपन्यास में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। पहली है, मानवतावादी दृष्टि से वर्तमान के सदर्भ मे अतीत का चित्रण और दूसरी, मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे प्राचीन इतिहास का विवेचन-विश्लेषण, अपनी मान्यताओ की पुष्टि एव प्रचार के लिए। वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, हजारी-प्रसाद द्विवेदी आदि के ऐतिहासिक उपन्यास पहली प्रवृत्ति के अन्तर्गत है और राहुल साकृत्यायन, यशपाल, रागेय राघव आदि की ऐतिहासिक रचनाएँ दूसरी प्रवृत्ति की है। पहले हम मानवतावादी प्रवृत्ति को लेंगे।

वृन्दावनलाल वर्मा : वर्माजी हिन्दी के पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार है जिनकी रचनाओं में इतिहास और साहित्य परस्पर विरोध को भूलकर एक-दूसरे में घुल-मिल गए। पर यह बात उनके प्रारम्भिक उपन्यासों पर जितनी लागू होती है उतनी परवर्ती रचनाओ पर नही, यद्यपि उनकी सभी औपन्यासिक कृतियों की रचना सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुई है। वर्माजी की धारणा है कि "यदि लेखक ने व्यक्ति के भीतर भरे पुरुषार्थ और सत्सिद्धांतों पर बली होने की शक्ति को जगा दिया तो इतिहास के प्रकाशमान तथ्यों की जैसी व्याख्या होनी चाहिए, वैसी व्याख्या हो गई।"

वर्माजी के प्रारम्भिक उपन्यास है 'गढ़ कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' जो इतिहास और कला दोनों की कसौटी पर खरे उतरते है, पर ये प्रेमचन्द-युग की ही रचनाएँ है। प्रेमचन्दोत्तर युग का उनका उपन्यास है 'झाँसी की रानी' जिसमे उन्होंने बुंदेलखंड की सीमा को लाँघकर व्यापक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि अपनायी है। पर इसमे उनकी दृष्टि इतिहास पर अधिक रही है और कला पर कम। इस उपन्यास की रचना के मूल में लेखक का यह विश्वास कार्य कर रहा है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई स्वराज्य के लिए लड़ी थी; उनका शौर्य विवशता से उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि वह जन्मजात था। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वर्माजी के इस उपन्यास को खूब मान्यता मिली है पर इसमें कथोपकथनों की भरमार के कारण कई बार ऐसा लगता है कि जीवन में कम-से-कम बोलने और अधिकाधिक

करने वाली झाँसी की रानी को इस उपन्यास मे बोलने के अधिक अवसर मिले है, और करने के कम। वर्माजी के परवर्ती उपन्यास है—'कचनार', 'अचल मेरा कोई', 'मृगनयनी', 'सोना', 'टूटे काटे', 'अमरबेल', 'माधवजी सिन्धिया', 'अहिल्याबाई' आदि जिनमे अतीत के चित्रण के साथ रोमास और आदर्श का ताना-बाना बुना गया है। 'माधवजी सिन्धिया', 'टूटे काँटे', और 'अहिल्याबाई' तीनो रचनाओ के माध्यम से उन्होने मध्य युग की एक लम्बी अवधि का इतिहास प्रस्तुत किया है। वर्माजी ने विदेशी आक्रमणो के बाद के भारतीय इतिहास को ही मुख्यत. अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। 'भुवन विक्रम' ही उनकी एक ऐसी रचना है जो वैदिक युग को मूर्त करती है। 'कचनार' की रचना राजगोंडो के सरल, सहज और प्रमोदमय जीवन का चित्रण करके भारतीय सस्कृति को समृद्ध बनाने की कामना से हुई।

परवर्ती उपन्यासो मे 'मृगनयनी' ही वर्माजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है जिसमे पन्द्रहवी शताब्दी के ग्वालियर-नरेश राजा मानसिह तोमर और उनकी रानी मृगनयनी की कहानी है। उपन्यास की मुख्य कथा मानसिह और मृगनयनी की प्रेम कथा के रूप में राजमहलो की सरसता को चित्रित करती है तो लाखी और अटल की उप-कथा उस समय के सघर्षमय जन-जीवन को, युग की मान्यताओ और विश्वासो को तथा समाज के रीति-रिवाजो को मूर्त कर देती है। लाखी और अटल के एकनिष्ठ प्रेम और कर्तव्य-भावना के समक्ष तो कई बार मृगनयनी और मानसिह के चरित्र भी फीके पडने लगते है। इस उपन्यास की सबसे बडी शक्ति है मृगनयनी का चरित्र। मृगनयनी मे सौन्दर्य और साहस का अपूर्व योग है जिसके बल पर वह देखते-देखते साधारण गूजर कन्या निन्नी से रानी मृगनयनी बन जाती है।

चतुरसेन शास्त्री : चतुरसेन शास्त्री के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास है—'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'आलमगीर', 'वय रक्षामः'। इन रचनाओ मे उन्होने आदर्शवादी दृष्टि से भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण-विश्लेषण करके 'मानवता के धरातल को उठाने' की चेष्टा की है। इतिहास और कला के योग से इन कृतियों मे इतिहास-रस का ऐसा संचार हुआ है कि पाठक उसमें निमज्जित हुए बिना नही रहता। 'सोमनाथ' का कथानक महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण की घटना पर आधारित है। इस उपन्यास की अधिकाश घटनाएँ और पात्र कन्हैयालाल मुशी के गुजराती उपन्यास 'जय सोमनाथ' के ही है। 'वय रक्षामः' मे प्रागैतिहासिक युग की जन-जातियों के विस्मृत जीवन का चित्रण है। 'सोमनाथ' मे महमूद की बर्बरता का मानवीकरण है तो 'वय रक्षाम' मे प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव आदि विधि नृवशो के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखा-चित्र है, जिन्हे धर्म के रंगीन शीशे मे देखकर लोगो ने उन्हे अन्तरिक्ष का देवता मान लिया था। इस उपन्यास मे उन्हे नर-रूप मे उपस्थित किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे चतुरसेन शास्त्री की ख्याति का मूलाधार

है उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू'। इस उपन्यास के कथानक का काल-विस्तार ६००-५०० वर्ष ईसा पूर्व है। उपन्यास का केन्द्र है बौद्ध ग्रन्थों मे उल्लिखित वैशाली की गणिका अम्बपाली। नगरवधू का स्थान उस युग के समाज मे वैश्या का-सा नही होता था, बल्कि वह पूरे गण मे सर्वश्रेष्ठ, सर्वसम्मानित और सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप मे मान्य होती थी। उसके सब सस्कार राज्य की ओर से मनाए जाते थे। नगरवधू के रूप मे अम्बपाली को यह सब सहज प्राप्त था। पर जीवन मे वैभव, विलास और सम्मान ही तो सब कुछ नही, हृदय भी तो कुछ होता है जिसकी आवाज के आगे सब नगण्य हो जाता है। अम्बपाली ने अपने वैभवपूर्ण पद और प्रतिष्ठा से समझौता तो कर लिया, पर वह अस्थायी समझौता था। उसके मन को रह-रहकर यह बात कचोटती थी कि उसे किसी की हृदयेश्वरी-गृहस्थवधू बनने की आकांक्षा को बरबस दबाना होगा और यही उसके जीवन की भयकर ग्रन्थि बन गई। वह इस परम्परा को न तो स्वयं तोड सकती थी और न ही कोई अन्य व्यक्ति इस विषय में उसकी सहायता कर सकता था। परन्तु नारी के प्रति गण के इस नृशंस प्रतिबन्ध के प्रति उसके मन मे स्थायी घृणा का विष भर गया जो भीतर-ही-भीतर घुलता रहा और उसके मन में संघ के नाश की कामना जड़ पकड़ गई। उपन्यास की विभिन्न घटनाओं को जन्म देने वाला यही मूल बिन्दु है और इसी ने अम्बपाली के चरित्र-विकास को भी धार दी है।

अमृतलाल नागर · अमृतलाल नागर के दो ऐतिहासिक उपन्यास है—'शतरंज के मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर'। 'शतरंज के मोहरे' में अवध की नवाबी के ह्रास का चित्रण है। पर नागर का विशेष उल्लेखनीय उपन्यास है 'सुहाग के नूपुर' जो कथ्य और कला दोनो की दृष्टि से एक सुगठित रचना है। इसके कथानक की प्रेरणा पहली शताब्दी ईस्वी के तमिल कवि इलंगोवन के अमर काव्य 'शलिप्पदिकारम्' से मिली है। पर अपनी सृजन-प्रतिभा से उसने इसे मौलिक और स्पृहणीय रचना बना दिया है। तत्कालीन समाज और राज्य-व्यवस्था के परिवेश में वेश्या समस्या को आधार बनाकर लेखक ने इसमे 'मनुष्य-समाज के व्यथित अर्धांग नारी' के अनन्त शोषण और पुरुष प्रकृति की उच्छृंखलता की लोमहर्षक कहानी कही है। कथानक यद्यपि पुराना और प्रेम-त्रिकोण वाला ही है पर उसके सहारे विवाह बनाम प्रेम की पुरातन समस्या को नये रूप मे पेश किया गया है।

कथा-नायक सम्पन्न व्यापारी कोवलन माधवी से प्रेम करता है और माधवी उसे मन से चाहती है; उसे अपना बना लेना चाहती है, उसकी बन जाना चाहती है। पर कोवलन का विवाह हो जाता है कन्नगी से। माधवी से उसका विवाह हो नहीं सकता, क्योंकि वह वेश्या-कन्या है। 'सुहाग के नूपुर' और नर्तकी के घुँघरू का, सामाजिक मर्यादा और रूप की चकाचौंध का, यह संघर्ष कोई नया नही। पर लेखक ने इसे नया मोड़ देकर समाज की रूढ़ नैतिकता पर गहरी चोट की है। माधवी मन, वचन और कर्म से कोवलन के प्रति उतनी ही सच्ची है जितनी

कन्नगी। समाज यदि उसे कोवलन की होने का, सुहाग के नूपुर पहनने का, जिसके लिए वह जीवन-भर तरसती रहती है, केवल इसलिए हक नही देता कि वह वेश्या-कन्या है तो क्या यह नारी के प्रेम का अपमान नही है ?

हजारीप्रसाद द्विवेदी सांस्कृतिक विकास को प्रकाश मे लाने के लिए इतिहास के काल विशेष का कल्पना प्रसूत चित्रण करने का प्रयास किया है हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' मे। उपन्यास के क्षेत्र मे ये दोनों रचनाएँ एक अनोखा प्रयोग है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे 'कादम्बरी' और 'हर्षचरितम्' के युग की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि मे सस्कृत के महान लेखक बाणभट्ट के जीवनवृत्त को प्रस्तुत करने के साथ-साथ द्विवेदीजी ने बाणभट्ट की कथा-शैली को भी अपनाया है जिसके अभाव में यह रचना 'आत्मकथा' के पद से लुढककर 'जीवनी' बन जाती। इन दोनों सीमाओ का निर्वाह करके द्विवेदीजी ने इस रचना को जीवन्त बना दिया है। इसके रूपाकार और आत्मा दोनों पर बाणभट्ट की छाप स्पष्ट दीखती है। जिन्होने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरितम्' को पढ़ा है वे समझ सकते हैं कि द्विवेदीजी का यह प्रयास कठिन होते हुए कितना सफल रहा है।

इसी शैली में द्विवेदीजी का दूसरा उपन्यास है 'चारुचन्द्रलेख'। पहले उपन्यास की तरह यह भी सीधे इतिहास पर नही, इतिहास के मध्य काल के उन जीवन-सत्यो पर आधारित है जिनका ज्ञान हमे उस युग के साहित्य से प्राप्त होता है। साहित्य से पता चलता है कि वह काल बडा विघटित और व्यक्ति-केन्द्रित था। द्विवेदीजी ने उसी से प्रेरणा लेकर कल्पनाप्रस्त चित्रण द्वारा युग और उसकी समस्याओ को साकार कर दिया है। उस युग की शक्ति संगठित होकर राष्ट्र-निर्माण मे लगने के बजाय कृच्छ, तन्त्र, साधना और दर्पपूर्ण भेद-भाव की भावनाओ में बिखरकर विध्वंस को बुलावा दे रही थी। यह ठीक है कि भारत अध्यात्म-प्रधान देश है, वह योगियों और सिद्धो का देश रहा है; पर जब-जब यह आध्यात्मिकता जन-जीवन के प्रति उदासीन हुई है तब-तब देश विदेशियो द्वारा पदाक्रात हुआ है। तंत्र सिद्धियो की आड़ मे पल रहे राजनीतिक कुचक्रमो के सजीव चित्रण द्वारा लेखक अपनी कृति को इस निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि व्यक्तिगत साधना कितनी भी बड़ी क्यो न हो वह समाज से, राष्ट्र से कटते ही व्यर्थ हो जाती है। राष्ट्र के नष्ट होने पर वैयक्तिक सिद्धियो का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

मार्क्सवादी चेतना स अनुप्राणित होकर द्वद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करने वाले प्रमुख उपन्यासकार है—राहुल साकृत्यायन, यशपाल, रागेय राघव आदि।

राहुल सांकृत्यायन · उपन्यासकार के रूप मे राहुल साकृत्यायन की ख्याति उनके ऐतिहासिक उपन्यासो के कारण ही है, जिनमें प्रमुख है—'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न' और 'विस्मृत यात्री'। इनमें भी विशेष उल्लेखनीय

तो पहले दो उपन्यास है। 'सिंह सेनापति' में लिच्छवि गणतंत्र की सामाजिक व्यवस्था और तत्कालीन जीवन का चित्रण किया गया है और उस युग में व्याप्त स्वच्छन्दता, नारी-स्वातंत्र्य, श्रम की गरिमा, सम्पत्ति पर समान अधिकार आदि की प्रशंसा की गई है। उपन्यास के अंत में लेखक ने सिंह सेनापति और तथागत के परस्पर विचार-विनिमय द्वारा बौद्धमत और मार्क्सवाद की समानता पर बल दिया है। राहुलजी के मतानुसार वर्तमान परिस्थितियों में मार्क्सवाद बौद्धमत का ही रूपान्तर है। 'जय यौधेय' में यौधेय गणतंत्र के राजनीतिक विधान, आर्थिक तंत्र तथा सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करके दिखाया गया है कि वह पूँजीवादी समाज के रूढ़िग्रस्त जीवन की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और समतामूलक अतः साम्यवादी सिद्धांतों के अनुरूप थी। उपन्यास के प्राक्कथन में लेखक ने कहा है : "यद्यपि इस उपन्यास के शरीर में ऐतिहासिक सामग्री ने अस्थि-पिंजर का काम किया है, किन्तु मांस मैंने अपनी कल्पना से पूरा किया है।" उपन्यास की रचना में यहाँ जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है।

'मधुर स्वप्न' में राहुलजी ने भारत के इतिहास की परिधि को लाँघकर छठी शताब्दी के मध्य एशिया के जन-जीवन के माध्यम से मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन किया है। राहुलजी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा आदर्श समाज का निर्माण रहा है।

यशपाल : ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में यशपाल की ख्याति का आधार है उनकी सशक्त कृति 'दिव्या', जिसमें उन्होंने प्राचीन बौद्धकालीन भारत में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था और उससे उत्पन्न वर्ग-संघर्ष की चक्की में जीवन-भर पिसती रहने वाली एक निरीह नारी की करुण कहानी के माध्यम से उस युग के जन-जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उपन्यास के 'प्राक्कथन' में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है : 'दिव्या' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे लेखक ने 'दिव्या' में 'मिथ्या' जात्यभिमान के कारण कुलों में परस्पर कलह अपने-अपने हित को ध्यान में रखते हुए विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष, दास-प्रथा, जन-शोषण, सामंती व्यवस्था में नारी की दुर्दशा आदि अनेक कुप्रवृत्तियों का विश्लेषण करके, उन पर निर्मम प्रहार किये है।

कला का सर्वोच्च पुरस्कार 'सरस्वती पुत्री' पानेवाली धर्मस्थ महापंडित देव शर्मा की कन्या दिव्या और सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी दासपुत्र पृथुसेन में परस्पर प्रेमाकर्षण का पता चलते ही दिव्या पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए; द्विज कुल की कन्या और दासपुत्र में प्रेमालाप की समाज कैसे अनुमति देता? उधर पृथुसेन समर भूमि में चला गया। प्रतिबंधों से तंग आकर दिव्या घर से भाग गई पर मार्ग

मे एक दास-व्यापारी के चुगल मे फँस गई, जहाँ उसे असह्य यातनाएँ सहनी पडी। उनसे त्राण पाने के लिए वह नदी मे कूद पड़ी, परन्तु राजनर्तकी रत्नप्रभा ने उसे बचा लिया और अंशुमाली के नाम से उसने नया जीवन प्रारभ किया। अभिजात कुल का रुद्रवीर और चार्वाक दर्शन का अनुयायी कलाकार मारिश, जो दिव्या पर पहले से ही आसक्त थे, ढूँढते हुए उसके पास पहुँचे और प्रेम निवेदन करने लगे। उसने दोनो को अस्वीकार कर दिया। परिस्थितियो ने पुन करवट ली। राजनर्तकी रत्नप्रभा ने दिव्या को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया, जिससे जनता में एक तूफान उठ खडा हुआ। द्विजकन्या वेश्या के पद पर आसीन होकर वर्णाश्रम व्यवस्था को अपमानित करे, यह उनके लिए असह्य था। विक्षुब्ध होकर दिव्या ने मारिश के प्रवृत्ति मार्ग को स्वीकार किया। उसके सिवाय उसके लिए और कौन-सा ठिकाना था। उधर असफल प्रेमी पृथुसेन बौद्ध भिक्षु बन गया। इस प्रकार दिव्या के जीवन की करुण कहानी के माध्यम से यशपाल ने वर्ण-व्यवस्था की पोल खोलते हुए दिखाया है कि वर्ण-व्यवस्था की दुहाई देने के बावजूद उस व्यवस्था मे नारी की दशा पशु से भी गई-बीती थी। उपन्यास का अत अवश्य आकस्मिक लगता है जिसमे दिव्या सहसा टूटकर मारिश को अपना लेती है। बस यही पहलीबार उपन्यास लडखडाता है और लेखक पाठको पर मार्क्सवादी विचार-धारा लादता हुआ पकडा जाता है। फिर भी, 'दिव्या' एक बेजोड ऐतिहासिक उपन्यास माना जाएगा।

स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद भी यशपाल ने 'अमिता' नाम से एक ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि की है जो अशोक के कलिग-विजय की ऐतिहासिक गाथा पर आधारित है। उस युग के समाज और राजनीति की प्रकृति-विकृति के विवेचन-विश्लेपण द्वारा कलिग-विजय के लिए भयकर नर-सहार करने वाले प्रचंड अशोक के हृदय-परिवर्तन की स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस कृति मे हुआ है। युग की अनिश्चित परिस्थिति, बौद्धो और ब्राह्मणो का सघर्ष, दासप्रथा, नारी की शोचनीय स्थिति, समाज की रीति-नीति के यथार्थवादी चित्रण के अलावा इस रचना मे बालपन की अनेक मनोरम झाँकियाँ भी मिलती है जो कथानक की परिणति को सहज और विश्वसनीय बना देती है। पर इन सबके बावजूद यह कृति 'दिव्या' की ऊँचाइयों को नही छू पायी।

रांगेय राघव . सामाजिक यथार्थ की अविच्छिन्न शृंखला को देखने से रागेय राघव ने 'मुर्दो का टीला', 'प्रतिदान', 'अँधेरे के जुगनू', 'राह न रुकी' आदि कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे है। पर 'मुर्दो का टीला' रागेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासो मे सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसमे उन्होने मोहनजोदडो युग के अज्ञात सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की कल्पना-झाँकी प्रस्तुत की है। 'मुर्दों का टीला' शब्द मोहनजोदड़ो का ही पर्यायवाची है जिसका अर्थ है—'मुर्दो का स्थान'। इस महानगर के विध्वंस का समय आर्यों के आक्रमण का काल है। लेखक ने आर्यों और द्रविड़ो के सघर्ष को द्रविडो के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। द्राविड़ो

को सुसंस्कृत, मूर्ति-पूजक और वैभव-सम्पन्न दिखाकर तथा आर्यों को बर्बर, क्रूर और असभ्य चित्रित करके। मोहन-जोदडो मे गणतन्त्र था। दासप्रथा के बावजूद उसकी जनता को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इस महानगरी के वैभव, विलास, संघर्ष और अतत. विनाश के आधार पर इस उपन्यास का कथानक रचा गया है। लेखक ने इसमें दो असाधारण रूपसी नारियों की सृष्टि की है जो क्रीतदासियाँ है और जिनकी हीनभावना परम महत्त्वाकाक्षा मे परिणत होकर उनके व्यक्तित्व मे विस्फोट ला देती है। ये नारियाँ है नीलूफर और वेणी जो पुरुष के भोग-विलास का साधन बन, अपमान और तिरस्कार से प्रताड़ित हो, प्रेम और लालसा के दो पाटों के बीच पिसती हुई विनाश के गर्त की ओर बढ़ती जाती है और अपने साथ दूसरों को भी घसीट ले जाती है। उनका रूप और दासत्व उनके लिए अभिशाप बन जाता है। लेखक ने नारी-जीवन की इस विडम्बना का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास मे एक और नया प्रयोग हुआ है शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के उपन्यास 'बहती गंगा' के रूप में। उसकी नायिका है काशी की नगरी जिसके २०० वर्ष—सन् १७५० से १६५० के लम्बे इतिहास का वर्णन बड़ी रोचक शैली मे किया गया है। रचनाकार का ध्यान नगरी के शरीर पर नही, उसकी आत्मा—उस नगरी मे बसने वाले जनमानस के क्रमिक विकास पर रहा है। रचना समाप्त करते-करते पाठक पर इस नगरी का व्यक्तित्व, उसकी अद्भुत मस्ती, निपट निर्द्वन्द्वता, उत्कंठा, स्वातन्त्र्य-प्रेम और प्राचीनतावादी दृष्टिकोण छा जाता है। 'बहती गगा' मे दो सौ वर्ष का बनारसी-जीवन अपनी पूर्ण विचित्रता और सरसता के साथ मूर्त हो उठा है।

साहित्य की दृष्टि से इतिहास और पुराण को एक मान ले तो आलोच्य काल की एक और सशक्त कृति का उल्लेख करना होगा जो अजना और पवनंजय की प्रेम-कथा के एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान पर आधारित है। यह है वीरेन्द्रकुमार जैन का उपन्यास 'मुक्तिदूत' जो पवनजय के आत्मविकास और आत्मोपलब्धि की अत्यन्त करुण कथा है। इसके अतिरिक्त यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'संन्यासी और सुन्दरी' तथा बनकाम सुनीत के 'धूलि और नर्तन', 'सामन्त बीजगुप्त', 'इरावती' उल्लेखनीय है। 'सामन्त बीजगुप्त' का कथासूत्र लेखक ने वहाँ से पकड़ा है जहाँ भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' का अन्त हुआ है। 'इरावती' मे लेखक ने जयशकर 'प्रसाद' की अधूरी-कृति 'इरावती' को आगे बढ़ाकर पूरा किया है।

आंचलिक उपन्यास

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के हिन्दी-उपन्यास की मौलिक उद्भावना है आचलिक उपन्यास, जिसमें किसी विशेष प्रदेश या अंचल को लेकर उसके जन-जीवन का यथार्थ एवं सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया जाता है। वैसे तो प्रत्येक उपन्यास मे पृष्ठभूमि के रूप में संबंधित देश, काल और परिस्थिति का चित्रण

रहता है ताकि उसके कथानक की विभिन्न घटनाओं को, पात्र और उनके चरित्र-विकास को सही परिप्रेक्ष्य मे देखा-समझा जा सके। पर जिसे 'आंचलिक उपन्यास कहा जाता है उसमे देश, काल, प्रकृति और परिस्थिति का चित्रण पृष्ठभूमि बनकर, उपन्यास के अन्य तत्वों का पोषक बनकर, साधन के रूप मे नही, बल्कि साध्य के रूप मे होता है। अन्य उपन्यासो की पृष्ठभूमि ही आचलिक उपन्यास मे अग्रभूमि बन जाती है, वही मुख्य होती है और उपन्यास के अन्य सभी तत्त्व उसके पोषक बनकर विकसित होते है। इस प्रकार, आचलिक उपन्यास, जिस भी प्रदेश, जाति या अचल को छूता है, उसकी भौगोलिक स्थिति और वहाँ के लोगो की धर्म-संस्कृति, रीति-नीति, प्रकृति-विकृति का ऐसा मूर्त और सागोपाग चित्रण करता है कि उस क्षेत्र या अंचल का जन-जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता मे साकार हो उठता है। यही नही, वह अपनी विशिष्टता मे अनन्य भी बन जाता है। आचलिक उपन्यास का आदर्श किसी व्यक्ति-चरित्र का निरूपण नही बल्कि जन-जीवन का निष्पक्ष चित्रण होता है। आचलिक उपन्यास सामाजिक राजनीतिक अथवा किसी अन्य प्रकार के आदर्श या सिद्धान्त को आधार बनाकर नहीं चलता—उसका कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य होता ही नही। इसका अभिप्राय यह नही कि वह धार्मिक विश्वासो, सामाजिक क्रान्तियों और राजनीतिक पहलुओ से बच कर चलता है। वह इन सबको लेता तो है पर उतना ही जितने से उस अंचल विशेष के सर्वागीण चित्रण मे सहायता मिले।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जब देश की एकाग्रता भंग हुई और देशोद्धार की अपेक्षा आत्मोद्धार की रौ चली, राष्ट्र की एकता को फोड़कर विविध प्रदेशो, जातीय वर्गों और धर्मों, सस्कृतियो की अनेकता प्रखर वेग से प्रस्फुटित हुई, तब हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति-वर्ग, धर्म, सस्कृति के सरक्षण और विकास की ओर गया और इस दिशा मे सचेष्ट प्रयत्न आरम्भ हुए। आचलिकता के पनपने के लिए यह स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी और आचलिक उपन्यास की धारा पूर्ण वेग से चली। हिन्दी-उपन्यास मे आचलिक उपन्यास का अभ्युदय नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' से माना जाता है। यद्यपि उससे पहले अमृतलाल नागर के उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के 'बहती गगा' मे भी आंचलिकता का आभास मिलता है, पर उसमें स्थानीय रग के प्रयोग द्वारा रचना के शरीर पर आचलिकता का लेप भर है, आचलिकता उन रचनाओ की आत्मा में रची-पची नही। 'बलचनमा' की पृष्ठभूमि लगभग वही रही है जो प्रेमचन्द के उपन्यासो की थी। पर प्रेमचन्द की रचनाओ के मूल मे लोकोदय की भावना थी जब कि इस उपन्यास का प्रयत्न रहा वर्ग-संघर्ष का पूरी तन्मयता से यथार्थ चित्रण। वर्ग-सघर्ष प्रेमचन्द के उपन्यासो मे, विशेषत. 'गोदान', मे भी कम नहीं, पर सामूहिक चेतना के अभाव मे उसकी चुभन उतनी तीखी नही लगी जितनी नागार्जुन के इस उपन्यास मे। मिथिला की विराट सस्कृति को अपना आधार बनाकर यह उपन्यास आत्मकथा शैली मे एक युवक के सघर्ष-भरे जीवन की

कहानी प्रस्तुत करता है। बलचनमा 'गोदान' के गोबर का सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण है जिसमे लेखक गहराई में उत्तरकर सर्वग्राही वर्ग-संघर्ष की ऐतिहासिक व्याख्या के साथ-साथ मिथिला के ग्राम्य जीवन की प्रकृति-विकृति का और नयी चेतना के प्रवेश से वर्ग-संघर्ष में आयी तीव्रता का यथार्थ चित्रण करता है।

आचलिक उपन्यास के रूप मे फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' को खूब ख्याति मिली है। कुछ लोगो ने तो इसे 'गोदान' से भी श्रेष्ठ माना है। इस तथ्य को हिन्दी के बहुत कम पाठक जानते होगे कि 'रेणु' ने 'मैला आचल' की रचना मे सतीनाथ भादुडी की बग कृति 'ढोडाय चरित मानस' का बड़े कौशल से उपयोग किया है। रेणु पर ताराशकर की कथा-सरिता का भी पर्याप्त प्रभाव रहा हे जिससे 'मैला आचल' की औपन्यासिकता पुष्ट हुई हे। इस उपन्यास की विशिष्टता स्थानीय बोलियों के सफल प्रयोग में हे। इसके अतिरिक्त कायस्थ, राजपूत, यादव आदि विभिन्न जातियो और वर्गों के पात्रों को आधार बनाकर रेणु ने ऐसे शब्दचित्र खीचे हे कि सन् १६४२ से लेकर '४८ तक उस गाँव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, लोगों की बोल-चाल, रहन-सहन, रीति-नीति, धार्मिक विश्वास, नई राजनीतिक चेतना मूर्त हो उठती हे। इसमे देशव्यापी सामाजिक हलचलो और राजनीतिक आन्दोलनो के प्रभाव से गाँव की रीति-नीति मे निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों का विशद चित्रण तो हुआ हे, और पूरी ईमानदारी से हुआ है, पर ऐसा कहीं नही लगता कि लेखक ने किसी दल विशेष के साथ पक्षपात किया है अथवा किसी विशेष सिद्धान्त या विचार को पाठक पर थोपने की कोशिश की हे। इस दृष्टि से उपन्यास का सन्तुलन अन्त तक बना रहा हे। पर आंचलिकता की इति इतने से ही नही हो जाती। ऐतिहासिक संदर्भ मे उस गाँव का चित्रण वैज्ञानिक कम और कलात्मक अधिक है।

आचलिकता की दृष्टि से 'रेणु' का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' अधिक ईमानदारी से लिखा गया लगता है। इसमे 'मैला आंचल' के अभावो की पूर्ति की चेष्टा हुई दीखती है। अनेक अवान्तर कथाओं, किंवदन्तियों और लोककथाओ की सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचना खड़ी की गई। पर जितन की मेम माँ की आत्मकथा की उपलब्ध पाण्डुलिपि के रूप मे मिश्र परिवार की जो कहानी प्रस्तुत की गई हे उसमे कोशी अंचल की परती भूमि के विषय में पंचचक्र, शिवेन्द्र मिश्र की जालसाजियाँ आदि का चित्रण जासूसी उपन्यासों की याद दिला देता हे। इसमें पात्रो का चरित्र-चित्रण 'मैला आचल' से भी अधिक भावातिरेक लिये है। हिन्दी के अन्य आचलिक उपन्यासों से अच्छा होने पर भी इसे सर्वांगपूर्ण आचलिक उपन्यास नही कहा जा सकता।

आचलिक उपन्यास विघटनयुग की उस चेतना की अभिव्यक्ति है जिसमें अपनी जाति-वर्ग धर्म-संस्कृति के प्रति कट्टरता की चरम सीमा को छूने वाला मोह बढ़ जाता है, अपने अंचल की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात

का भाव भर जाता है। ऐसी स्थिति मे उपन्यासकार की दृष्टि की विशदता की अपेक्षा सकुचन की ही सभावना रहती है और इस दृष्टि से सकोच की कोई सीमा नही। राष्ट्र से प्रदेश, प्रदेश से अचल, अचल से जाति, जाति से वर्ग विशेष तक सिकुडता-सिमटता उपन्यास अंततः अपनी तग सीमाओ मे यहाँ तक बंध सकता है कि उसकी सप्रेषणीयता उस अचल विशेष के पाठको तक, यदि कोई हो तो, ही सीमित रह जाये। दूसरे शब्दो मे वह सार्वकालिक और सार्वभौम उपन्यास का प्रतिलोम बनकर रह जाये। ऐसा होना आचलिक उपन्यास के लिए ही नहीं, उपन्यास मात्र के लिए घातक हो सकता है। 'बलचनमा' और 'मैला आचल' की भाषा को लेकर कई बार आवाज उठ चुकी है कि वह हर किसी पाठक के लिए सुगम नही और उन रचनाओं की आत्मा को पूरी तरह परखने मे सबसे बड़ी रुकावट उनकी स्थानीय बोली ही है। यह निश्चय ही आचलिक उपन्यास की कमजोरी मानी जायेगी। आचलिक उपन्यास की सफलता तो इसी मे है कि वह आचलिकता के सहारे उपन्यास मे यथार्थ की गहरी और मजबूत नीव डाले और उपन्यासत्व के सहारे यथार्थ को आचलिकता के घेरे से निकालकर सार्वभौम बना दे।

शिल्प-विकास

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास के शिल्प मे भी अनेक क्रातिकारी परिवर्तन हुए है जिनके मूल मे निरन्तर बदलते हुए जीवन-मूल्य और उपन्यास के प्रति उपन्यासकार का विकासमान दृष्टिकोण यानी भावात्मक आधार को छोडकर बौद्धिक धरातल को दृढता से पकडते चलना रहा है। कथानक तो दूर, घटना तक उपन्यासकार की सकल्पना बदल गई। चरित्र-चित्रण जो अब तक उपन्यास की धुरी माना जाता था, उपन्यास मे सीधे प्रवेश करने से बचता हुआ रूप बदलकर आने लगा। इससे चरित्र-चित्रण के अनेकानेक तकनीको का उदय हुआ। व्यक्ति, समाज और युग की समस्याओ को अब प्रच्छन्न रूप से नही सीधे लिया जाने लगा। देश, काल, परिस्थिति और वातावरण जो पहले पृष्ठभूमि का काम करते थे, अब उपन्यास के आलम्बन बनने लगे। उपन्यास की भाषा भी मानक हिन्दी न रहकर प्रादेशिक बोलियो की ओर झुकने लगी। सबसे बडी बात तो यह हुई कि उपन्यासकार अपनी रचना को अब प्रभावोत्पादक बनाने के बजाय स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाने की ओर प्रवृत्त हुआ, पाठक के हृदय को छूने की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को झकझोरने लगा, अपनी कृति को कोरी कला के सहारे न छोडकर उसे दृढ वैज्ञानिक आधार प्रदान करने लगा।

कथानक : उपन्यासकार यह प्रयत्न करने लगा कि वह भी सृष्टा की तरह अपनी सृष्टि यानी रचना मे महसूस चाहे सर्वत्र किया जाए, दीखे कही नहीं। उपन्यास के कथानक पर इस प्रवृत्ति का सीधा प्रभाव पडा। उपन्यासकार अपने को कथा के सृजन तक ही सीमित रखने लगा है और उसके कथन (नैरेशन) का

भार पात्रों पर डालने लगा। फलतः उपन्यास के धरातल से लेखक का वह चिर-परिचित रूप लुप्त होने लगा जिसमे वह सर्वव्यापी और सर्वज्ञ बनकर प्रत्येक व्यक्ति और स्थिति का बाह्याभ्यान्तरिक चित्रण करता हुआ इतिहासकार की शैली मे कथा के बिखरे सूत्रो मे तारतम्य बैठाता और टूटी कड़ियो को जोड़ता जाता था।

आत्मकथा: *कथानक के नैरेशन का भार पात्र पर आ पड़ा तो उपन्यास किसी दूसरे की जीवनी के बजाय आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। अपने जीवन के किसी छोर पर पहुँचकर या विकास की किसी एक अवस्था पर* रुककर उपन्यास का नायक या नायिका आपबीती सुनाने लगते और संस्मरणो के सहारे अपने अतीत की ओर लौटते और उसके विवेचन-विश्लेषण द्वारा अपनी वर्तमान उलझनो की व्याख्या करते जाते, जैसे—जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'व्यतीत', नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' मे। आत्मकथा शैली की अपनी सीमाएँ हैं। इसके द्वारा कोई पात्र अपना ही बाह्याभ्यान्तरिक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है और वह भी एक सीमा तक। पर उसे अपने सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्तियो की क्रिया-प्रतिक्रिया के बहिरंग (आब्जेक्टिव) वर्णन तक ही सीमित रहना पड़ता है। इसलिए जहाँ एक से अधिक पात्रों के परस्पर घात-प्रतिघात या क्रिया-प्रतिक्रिया से कथानक विकसित होता हो, वहाँ आत्मकथा-शैली रचना को कमजोर कर देती है। इस स्थिति से बचने के लिए ऐसे अनेक कथानकों का निर्माण हुआ जिसमें प्रत्येक प्रमुख पात्र अपने शब्दो मे आपबीती सुनाता हुआ, अपने अतीत के विश्लेषण द्वारा अपनी वर्तमान समस्याओ में कार्यकारण के सूत्र ढूँढता जाता है। पात्रो की ये आपबीतियाँ, आत्मकथाएँ, अलग-अलग होते हुए भी प्रच्छन्न रूप से ऐसे संकेत-सूत्र लिये रहती है जिनके सहारे उनकी अनेकता में एकता खोजी जा सकती है। इन आत्मकथाओं की अनेकता मे से एक कथानक खोज निकालने का भार उपन्यासकार पाठक पर छोड़ देता है। उपन्यासकार अब उसे अपनी उंगली पकड़ाकर उपन्यास की पगडंडी पर नहीं चलाता, बल्कि उपन्यास के मुख्य द्वार पर लाकर उसे चक्रव्यूह में धकेल देता है। पाठक उस कथानक की भूलभुलैयो में मार्ग खोकर भटकने लगता है तो यह उपन्यास का दोष नहीं, पाठक में पर्याप्त युगबोध के अभाव का सूचक माना जाता है।

अनेक कथाओं में एक कथा: अनेक आत्मकथाओं के सहारे एक कथानक की व्यजना वाली इस शैली का उदाहरण है, प्रभाकर माचवे का उपन्यास 'परन्तु' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'सपना बिक गया'। अनेक विविध कथाओ के सहारे एक विशृंखल और तारतम्यहीन कथानक के निर्माण की चरम परिणति मिलती है धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के उपन्यास 'बहती गंगा' में। पहली रचना की भूमिका में भारती ने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहा है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों मे एक कहानी है—और लेखक के सत्य को पाने

के लिए पाठक बेचारे का सिर चकरा जाता है कि ऐसा कैसे है। इसी प्रकार, 'बहती गंगा' की भूमिका मे लेखक ने अपने शिल्प-चमत्कार का स्पष्टीकरण यो दिया है—"वहती गगा' मे सत्रह तरंगे है —एक दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरंग-न्याय से आपस मे बंधी हुई भी है।" इसके पाठक जानते है कि इस 'धारा-तरंग-न्याय' से पाठको के साथ कितना अन्याय हुआ है।

उपन्यास मे नैरेटर की उपयोगिता को स्वीकारते हुए और उसके अभाव मे घुस आने वाली दुरूहता के निवारण के लिए नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ', लक्ष्मीकात वर्मा के 'खाली कुरसी की आत्मा', रागेय राघव के 'हुजूर' आदि उपन्यासों मे अन्य प्रयोग दृष्टिगोचर हुए। 'बाबा बटेसरनाथ' में 'नैरेटर' का स्थान वट वृक्ष को लेना पडा। 'खाली कुरसी की आत्मा' मे सारी कथा कुर्सी की जबानी कही गई है जो अपने सम्पर्क में आने वाले अनेक व्यक्तियो की पोल खोलती जाती है और इस प्रकार कथानक का ताना-बाना बुनती चलती है। 'हुजूर' मे एक कुत्ता जिसे अनेक मालिको के पास रहना पडता है, अपनी आत्म-कथा के रूप मे नौकरशाही और तथाकथित भद्रवर्ग की नैतिकता पर करारी चोट करता है। इन प्रयोगों से कथानक का व्यग्य तो खूब उभरकर आया है, पर आज के युग मे वटवृक्ष, कुर्सी और कुत्ते का मानवीकरण कहा तक समीचीन ठहराया जा सकता है।

कहानी आगे से पीछे की ओर : उपन्यास के कथानक की कालावधि का सकोच इस युग के शिल्प-विकास की एक और उपलब्धि है जिसमे जीवन के किसी अत्यल्प काल अर्थात् घटा, दिन, सप्ताह आदि मे ही पूरा जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है। परिणामत. उपन्यास की कहानी पीछे से आगे नही, आगे से पीछे की ओर चलने लगती है। 'शेखर: एक जीवनी' इस शैली का उत्तम उदाहरण है। उसी से मिलता-जुलता उदाहरण है जैनेन्द्र का उपन्यास 'व्यतीत' जिसका नायक अपने जन्मदिन पर अपने जीवन की व्यर्थता पर सोचता-सोचता अपने समूचे अतीत का विवेचन-विश्लेषण कर डालता है। इसी प्रकार नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' की कथा-अवधि कुल एक दिन है जिसमे नायिका रंजना स्वामीनाथन को अपना पूर्व प्रेमी अकलंकमानकर अपनी मनोदशा के चित्रण के बहाने अपनी सारी जीवन-गाथा सुना देती है।

डायरी : कथानक की टूटी कडिया जोड़ने के लिए उपन्यास के कथानक मे डायरी शैली का प्रयोग तो पहले भी किया जाता था, पर इधर पूरे-का-पूर उपन्यास डायरी के भीतर प्रस्तुत करने के भी कई प्रयत्न हुए जिनमे उल्लेखनीय है, जैनेन्द्र का 'जयवर्धन', डॉ० देवराज का 'जय की डायरी' और राजेन्द्र यादव का 'शह और मात'। 'जयवर्धन' विदेशी संवाददाता हूस्टन की डायरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सप्ताह-भर के लिए भारत आया है और इस अल्पावधि मे ही राज्य के शीर्षस्थ व्यक्ति 'जयवर्धन' को समूचा पा लेना चाहता है। 'शह और मात' और 'अजय की डायरी' में नायक और नायिका दोनो ही डायरिया

लिखते है और बीच-बीच मे एक-दूसरे को अपनी डायरी पढा भी देते है। यह तो फिर प्रकारान्तर से आत्मकथा शैली हुई। वास्तविक डायरी के रूप मे तो 'जय-वर्धन' ही प्रस्तुत हुआ माना जाएगा।

इसके अतिरिक्त एक से अधिक लेखको की सामूहिक रचना के रूप मे 'बारह खम्भा', 'ग्यारह सपनो का देश और 'एक इंच मुस्कान' भी टेकनीक की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

चरित्र-चित्रण : प्रेमचन्द-युग के दृढ़सकल्प वाले बहिर्मुखी पात्रो के स्थान पर सत्वहीन, आत्म-केन्द्रित और ढुलमुल पात्रो का प्रवेश हिन्दी उपन्यास मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बहुत पहले ही हो चुका था और ऐसे पात्रों के भीतर की अतल गहराइयों को नापता हुआ उपन्यासकार मनोविज्ञान की अधुनातन उपलब्धियो के सहारे उन्हें ढुलमुल बनाने वाले कारणों की खोज मे लीन हो चुका था। पर स्वतन्त्रता तक पहुंचते-पहुंचते वह निरपेक्ष सत्यो को पकड लेने की धुन मे व्यक्ति मानस मे इतना गहरा उतरता गया कि सामाजिक-धरातल उससे लगभग छूट ही गया था और उसके पात्र जीवन और जगत् मे प्राय: मिलने वाले लोगो से भिन्न अपसामान्य (एब्नार्मल) व्यक्ति दीखने लगे थे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् ढुलमुल पात्रो को पुन: बढ़ावा मिला। इन पात्रों की बड़ी समस्या यह है कि वे जो करना चाहते है, वही उनसे नही हो पाता और जो वे नही करना चाहते, वह ठीक उनसे बरबस हो जाता है। जिसके वे निकट जाना चाहते है, उससे कोसो दूर हटते जाते है और जिससे दूर हटना चाहते है, अपने को लाख रोकने पर भी बरबस उसी की ओर खिंचते चले जाते है। उनके भीतर अचेतन मे कही बहुत गहरे द्वन्द्व मच रहा होता है जिसे वे जानते नहीं, पर जो उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करके बाह्य परिस्थिति से उनका मेल नही बैठने देता और उनके सभी चेतन संकल्पो को व्यर्थ कर देता है। इन पात्रों के भीतरी संघर्षों के उद्घाटन के लिए, उनकी अचेतन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए, उपन्यासकार मनोविश्लेषण की सभी अधुनातन प्रणालियों का सहारा लेने लगा है, जैसे—मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन), आत्मविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन (रिकोलेक्शन), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्ट्री मैथड), उद्धरण-शैली (कोटेशन्स) आदि।

जैनेन्द्र के उपन्यास 'जयवर्धन' में मनोविश्लेपण की मुक्त आसग तकनीक का सांगोपाग प्रयोग हुआ है, जिसमें विल्वर हूस्टन एक अनुभवी कुशल मनोविश्लेषक के रूप मे बार-बार नायिका इला को उसके विगत जीवन के पेचीदा क्षणों मे लौटा लेजाता है और वह अपने अतीत को पुन: भोगती हुई अपनी अनुभूतियों का वर्णन करती जाती है। हूस्टन इला द्वारा बताई गई इन अनुभूतियों के निष्पक्ष और निर्मम विश्लेषण द्वारा उसकी वर्तमान मानसिक उलझनो के वास्तविक स्वरूप को पहचानने और उसके आधार पर इला-जयवर्धन सम्बन्ध स्थिर करके

नायक जयवर्धन का निजत्व पाना चाहता है। अपना शुद्ध मनोविश्लेपक रूप व्यक्त करते हुए वह कहता है, "मुझे आपका कर्म-विवरण नही चाहिए, वह तो उजागर है ही, आया हूं तो अतरंग लेने आया हूं—मै जीवन का विद्यार्थी हूं और उसी के नियमों की खोज मे हूं।"

'सुखदा' और 'व्यतीत' आत्मकथा-शैली मे है जिसके कारण उनमें मनो-विश्लेपक की आवश्यकता तो नही पडी, पर मनोविज्ञान-सम्मत आत्मविश्लेपण की प्रणाली यहा भी सागोपाग रूप मे अपनायी गई है। आत्म-विश्लेपण और मनो-विश्लेपण की तकनीक में कोई तात्त्विक भेद नही, क्योकि प्रणाली दोनो की ही मुक्त आसंग की है। मनोविश्लेपण मे मुक्त आसंग को मनोविश्लेपक लिपिबद्ध करता है और आत्मविश्लेपण मे यह काम पात्र स्वय कर लेता है। 'जयवर्धन' के मुक्त आसग हूस्टन की डायरी मे लिखे मिलते है, और 'सुखदा' और 'व्यतीत' मे सुखदा और जयन्त की जबानी आपबीती के रूप मे।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में **स्वप्न-विश्लेषण** द्वारा भी पात्रो के मानसिक सघर्षो को उघाडा गया है। पहले पात्रों के जटिल स्वप्नो का वर्णन किया जाता है और फिर विश्लेषण द्वारा पात्रो के भीतर गहरे मे मचल रहे अचेतन द्वन्द्वो का सही रूप आका जाता है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुखदा' मे सुखदा के भीतर बहुत ही गहरे मे 'सेक्स' और 'कान्शेन्स' मे चल रहे जटिल द्वन्द्व को उस स्वप्न के रूप मे उघाडा गया, जब वह रात को बडी देर से हरीश दादा के यहा से आयी थी और सोने से पहले पती-पत्नी मे जोर की झडप हुई थी, जिसके परिणामस्वरूप पति रात भर बाहर कुर्सी पर पडा रहा था। इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' मे रेखा का उस समय का स्वप्न बहुत ही व्यंजक है जो उसने भुवन के फौज मे भरती हो जाने के बाद देखा था और जिसका उल्लेख उसने भुवन को लिखे अपने एक पत्र में किया था। इस स्वप्न के माध्यम से लेखक ने रेखा के अवचेतन की निचली परतो मे मचल रही कितनी कामनाओ और आशकाओ को प्रतीको के सहारे व्यक्त किया है जो जागृतावस्था मे उसके निकट अचिन्त्य थी। इसी दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जहाज का पछी' के नायक का यह स्वप्न उल्लेखनीय है जो उसने लीला को छोड़ने से पहले की रात को देखा था। इसके अतिरिक्त पात्रो की मानसिक गुत्थियो को व्यक्त करने के लिए अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे भी स्वप्नो का सहारा लिया गया है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' मे **सम्मोह-विश्लेषण** का प्रयोग हुआ है जिसमें नायक नृपेन्द्र नायिका मनिया पर सम्मोहन क्रिया (हिप्नॉटिज्म) के प्रयोग द्वारा उसके अतीत को ही नही समझता, बल्कि सम्मोहनोत्तर सुझावों द्वारा उसके चरित्र को अपनी इच्छानुसार विकसित करने का भी प्रयत्न करता है। बाद में तो वह नृपेन्द्र की इच्छा-शक्ति से चालित होने से इनकार कर देती है, पर इसी कला के सहारे सिलविया उसे अपने पीछे लगा लेती है। इन दोनो के सम्मोह मे छूटकर ही वह स्वतत्र रूप से विकसित हो पाती है।

शब्दसहस्मृति (वर्ड एसोसिएशन) के सहारे भी पात्रों की अचेतन गुत्थियों को खोलने का प्रयत्न हुआ है। पात्र जिन शब्दों को सुनकर या पढ़कर चौंक पड़ता है, उनके सहारे पात्र की मानसिक उलझनों को पकड़ने का यत्न किया जाता है। जो शब्द पात्रों के भीतर दुःखद अनुभूतियों को उद्दीप्त करते हैं उनके सहारे भी पात्रों की मानसिक उलझनों को पहचाना जा सकता है। ऐसे शब्दों को पढ़ते या सुनते ही पात्र की तुरन्त ऐसी प्रतिक्रिया प्रकट होती है कि उसके प्रति उसके भीतर तक व्याप्त अटक का पता चल जाता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' के नृपेन्द्र पर 'नीरू' शब्द जादू का असर करता है। उसे सुनते ही वह अपने बचपन में पहुंच जाता है और उस काल की अनुभूतियों को पुनः भोगने लगता है। सुमित्रानन्दन पन्त के एक गीत के 'गंगा यमुना में आंसू जल' शब्द सुनते ही 'जहाज के पंछी' की लीला के भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोर से उमड़ने लगता है और उसकी आंखों से उसी समय आंसू टपकने लगते हैं।

उद्धरण-शैली

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उपन्यासों में स्थान-स्थान पर दूसरों के गद्य-पद्यांश बड़ी प्रचुरता से उद्धृत किए जाने लगे हैं। पात्र अपनी बात सीधे न कहकर बार-बार दूसरों के गद्य-पद्यांशों को गुनगुनाने लगते हैं। इस उद्धरण-प्रवृत्ति पर चर्चा भी खूब हुई है और इसे प्रायः लेखक द्वारा पांडित्य-प्रदर्शन की संज्ञा देकर उड़ा दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ रचनाओं में उद्धरणों की बहुलता इसलिए ही हो गई है कि लेखक अपना बहुमुखी ज्ञान बघारने के मोह का संवरण नहीं कर सका है। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति चरित्र-चित्रण की एक विशिष्ट प्रणाली के रूप में भी अपनायी गई है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य की साधारण से साधारण क्रिया भी अकारण नहीं होती। उसके बीज पहले से ही व्यक्ति के अचेतन में होते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही अंकुरित हो उठते हैं। फिस्ट नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने तो यहां तक सिद्ध कर दिया है कि किसी का मुंह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना, किसी गीत की अधूरी तान छेड़ना, किसी गद्य या पद्य के अंश को दोहराना आदि भी अकारण और निरर्थक नहीं होता। इस क्रिया का अर्थ उसके चेतन में चाहे न आया हो, उसके द्वारा उस समय उसी अंश को उद्धृत करना, किसी दूसरे को नहीं, उसकी अचेतन प्रेरणाओं के कारण ही होता है। इसलिए उन गीतों, गद्य-पद्यांशों में उन्हें चुनने वाले अचेतन प्रेरकों को खोजा जा सकता है और इस प्रकार उसके अतल मानस में व्याप्त उथल-पुथल को पकड़ा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, पात्र कई बार एक दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाएं सीधे अपने शब्दों में व्यक्त न करके दूसरे की रचनाओं का सहारा लेकर व्यक्त करता है। 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' में उद्धरण-शैली का खूब प्रयोग हुआ है। अपनी इस मजबूरी को व्यक्त करते हुए उपन्यास का नायक भुवन इसका यों

स्पष्टीकरण देता है : "मान लीजिए कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। उनका प्रेम एक तथ्य है। आप बड़ी आसानी से कह सकते है कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। 'क' 'ख' से प्रेम करता है, यह कह देना कितना आसान है और 'मैं तुमसे प्यार करता हूं' यह कह पाना कितना कठिन---कितना 'पेनफुल', क्योंकि एक तथ्य है और दूसरा सत्य—और सत्य न कहना आसान है और न सहना आसान है।" इस प्रकार, 'नदी के द्वीप' में भुवन और रेखा के प्रेम-निवेदन दूसरों की 'कोटेशन्स' के सहारे ही होता है। यह तो हुआ इस शैली का स्वाभाविक प्रयोग, पर ऐसी रचनाओं की भी कमी नही जिनमे 'कोटेशन्स' ठूंस-ठूंसकर इतने भर दिये जाते है कि पाठक बेचारा चकरा जाता है। प्रभाकर माचवे के उपन्यास 'द्वाभा' में यह प्रवृत्ति बड़ी प्रचुरता से मिलती है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उपन्यास की उल्लेखनीय घटना है नायक-नायिका-हीन उपन्यासों की रचना। इन उपन्यासो का केन्द्र कोई एक व्यक्ति, स्त्री या पुरुष नही, बल्कि कोई विशेष समस्या अथवा कोई वर्ग या जाति, या प्रदेश या अचल रहा है और उसके वास्तविक एव निर्मम चित्रण मे उपन्सास के पात्रों, उनके जीवन की विविध घटनाओ अथवा स्थितियो का प्रयोग साधन के रूप मे किया गया है। उदाहरणार्थ, भारती का 'सूरज का सातवा घोडा', फणीश्वर नाथ 'रेणु' का 'मैला आचल' तथा 'परती परिकथा' आदि।

भाषा

हिन्दी-उपन्यास की भाषा के उत्तरोत्तर सशक्त और समर्थ होते जाने की परम्परा बन चुकी थी—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी वह कायम रही, बल्कि कहा जा सकता है कि पुष्ट ही हुई। इसका अधिकतर श्रेय मनोवैज्ञानिक उपन्यास को है। बहिर्जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् को समझना कठिन है, समझकर अभिव्यक्त करना तो और भी कठिन होता है। इसलिए, मन की सूक्ष्म ातिसूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रियाओं को समझने के साथ-साथ उन्हें पूरी तरह अभिव्यक्त करने की दिशा मे भी उपन्यासकार को जोर लगाना पड़ा। मानव मन की गूढ़ता और जटिलता को पकडकर व्यक्त करने में भाषा उत्तरोत्तर व्यजक होती गई। व्यजकता से काव्यात्मकता, पर कई बार जटिलता भी, आ गई।

उपन्यासकार ज्यो-ज्यो मन की गहराइयो मे उतरता जाता है, त्यो-त्यों उसकी भाषा दुरूह होती जाती है; सरल बनाने के लाख प्रयत्नो के बावजूद वह गूढ होती जाती है। उदाहरणार्थ, जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुखदा' का वह स्थल लें जिसमें वह अपने उस स्वप्न का वर्णन करती है जिसमें उसका मूल अंतःसघर्ष झलक जाता है। यहां दृष्टव्य यह है कि ऊपर से अटपटी दीखने पर भी भाषा चेतना के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त हो रही अनुभूति को बड़ी सफाई से पकड़ रही है—"सोयी न थी, पर जगी हुई भी न थी। उस हालत मे मैने अनुभव किया कि कोई मेरा तकिया टटोल रहा है। मेरे मन में अनिश्चय था। मै और भी सोयी बन गई,

यानी मैने अपने को भी न जानने दिया कि मै सोगी नही हूँ। उस हाथ ने तकिये के नीचे कुछ रखा। सोयी हुई मुझको जाने किसने बता दिया कि वह पत्र है.....।"
अब अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' का भी एक स्थल ले जिसमें भाषा अपनी व्यंजकता में काव्यात्मक हो उठी है। गोरा के बारे मे सोचता हुआ भुवन अपनी डायरी में लिखता है—"तुमने मेरी बात नही समझी थी, तुम्हारे लिए नही, जिसका भविष्य आगे है, भविष्य जो सुनहला हो, जिसमें हंसी हो, बालारुण की आभा हो, आलोक हो; मै जैसे तमिस्रा का पौष्य पुत्र हूँ—इसीलिए आलोक को पूजता आया हूँ, कभी दूर से जैसा कि ठीक है, कभी निकट से जैसा कि विपज्जनक है; कभी छूने को ललचाया हूँ, जो महान् मूर्खता है क्योंकि छूने से आलोक बुझ जाता है।"

भाषा-शैली की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे कुछ नये प्रयोग भी हुए। दूसरों की कथनी के सहारे अपने भावों को अभिव्यक्त करने की सुविधा ने उद्धरण शैली को जन्म दिया जिसमें पात्र दूसरो के गद्य-पद्यांशों को गुनगुनाता हुआ उनमे व्यक्त भावनाओं के सहारे अपनी मनःस्थिति व्यक्त कर देता है। इस प्रकार, उद्धरणों के बहाने उपन्यास मे कविता का प्रवेश हुआ। पात्र कवि हुआ तो अपनी कविता सुनाने या लिखने के अवसर ढूढने लगा, स्वयं कवि न हुआ तो औरों की कविता पढ़ने या गुनगुनाने लगता। बहरहाल, दोनों स्थितियों में लेखक की कविताएं भी उपन्यास में खपने लगी। 'शेखर : एक जीवनी' से इस शैली का प्रयोग आरम्भ हुआ था। 'नदी के द्वीप' मे इसका और भी खुलकर प्रयोग हुआ। प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों में इसे 'अति' तक पहुंचा दिया। ये उद्धरण हिन्दी के गद्य-पद्यांशो तक ही सीमित न रहे, उन सभी भाषाओं के उद्धरण दिये जाने लगे जो उपन्यास के पात्रो को बल्कि यो कहें कि उपन्यासकार को आती थीं। इन उपन्यास के अनेक अंश पाठकों की समझ से परे रह जाते जिसके कारण कथ्य उन तक अधूरा और असंबद्ध रूप मे ही पहुंचता।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे तो उद्धरणों के बहाने ही हिन्दीतर भाषाओं का प्रवेश हुआ था, पर आंचलिक उपन्यास के अभ्युदय से उपन्यास की भाषा ने एक और मोड लिया। अंचल-विशेष के वातावरण को उभारने के लिए पात्रों के कथोपकथनो की भाषा हिन्दी के बजाय उस अंचल की बोली ही हो गई। उपन्यास आत्मकथा शैली का हुआ तो पूरे का पूरा उपन्यास ही उस अंचल विशेष की बोली मे प्रस्तुत किया गया। नागार्जुन के 'बलचनमा' से रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' तक पहुँचते-पहुँचते आंचलिक उपन्यास की भाषा हिन्दी के सामान्य पाठक की समझ से परे हो गई और पाठक वर्ग यह सोचने के लिए मजबूर हो गया कि इन उपन्यासों की भाषा को हिन्दी कैसे कहा जा सकता है। अब तो यह प्रवृत्ति अपने-आप मंद पड़ गई है, पर एक समय आ गया था कि हिन्दी के उपन्यासमे हिन्दीतर स्वदेशी और विदेशी भाषा एव बोलियों की अन्धाधुन्ध भरती होते देख पाठक त्रस्त होकर पूछने लगा था कि क्या हिन्दी उपन्यास के पाठक के लिए उन सभी भाषाओं की जानकारी रखना अनिवार्य है जो लेखक को आती हों।

देशकाल और वातावरण

देश-काल के चित्रण और वातावरण के निर्माण की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास के अभ्युदय के साथ हिन्दी उपन्यास के शिल्प-विकास मे एक मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। कहा तो अब तक यह तत्त्व पात्रो के चरित्र-विकास के विविध आयामो को व्यक्त करने के लिए पृष्ठभूमि का काम देता था और कहा अब पृष्ठभूमि से निकलकर उपन्यास-लेखन का मूल ध्येय और रचना का मुख्य कथ्य बन गया। पहले देशकाल और वातावरण का चित्रण उपन्यास के अन्य तत्त्वो को पुष्ट करने के लिए साधन के रूप मे होता था। अब उपन्यास के अन्य सभी तत्त्व गौण होकर चित्रण तथा वातावरण की पुष्टि के निमित्त बन गए और उपन्यास की सफलता-विफलता की कसौटी बना अचल-विशेष के जन-जीवन की प्रकृति-विकृति, स्थिति-परिस्थिति का मूर्त और सागोपाग चित्रण।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की यह यात्रा बडी चकरीली रही है और पथरीली भी, पर इसकी अनेक उपलब्धिया महान और बेजोड है। कथ्य की दृष्टि से इस यात्रा मे 'चित्रलेखा', 'त्याग-पत्र', 'शेखर : एक जीवनी', 'दिव्या', 'वैशाली की नगरवधू', 'मुक्तिपथ', 'मैला आचल', 'बूद और समुद्र', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'झूठा सच' आदि उपन्यास मील का पत्थर माने जायें तो अपने परिपक्व शिल्प के कारण 'नदी के द्वीप', 'जहाज का पछी', 'जयवर्धन', 'अजय की डायरी', 'सूरज का सातवा घोड़ा', 'बहती गगा' आदि रचनाएं भी अद्वितीय रहेगी। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास मे आचलिक उपन्यास का अभ्युदय एक महान घटना है जो उससे पहले के युग मे सभव ही नही थी। नौकरी-पेशा नारी की बहुमुखी-समस्याओं ने भी स्वातन्त्र्योत्तर युग मे ही रूप और आकार ग्रहण किया है। इनकी तह तक पहुचने की तड़प महिला उपन्यासकारो की रचनाओं मे तो मिलती ही है, इस दिशा में पुरुष उपन्यासकार भी उनसे पीछे नही रहे।

प्रेमचन्दोत्तर युग की सब से बड़ी और क्रातिकारी घटना तो यह है कि जीवन अब जीने और भोगने के बजाय समझने और समझाने का, व्याख्या और विश्लेषण का विषय बन गया है तथा अनुभूति का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है। उपन्यास को तो जमाने की हवा बड़ी तेजी से लगती है। उपन्यास में अनुभूति की गहनता घटी तो कथ्य फीका पडने लगा। उपन्यास के लिए यह बड़े सकट का समय था, पर शीघ्र ही बौद्धिकता और शिल्प ने सहारा देकर उसे इस विकट स्थिति से उबार लिया। बौद्धिकता और शिल्प मे वैसे भी चमत्कार पैदा करने की अद्भुत शक्ति है। साहित्य-सृजन ने व्यवसाय का रूप धारण किया तो चमत्कार और भी वांछनीय हो उठा। मौलिकता और फैशन के आग्रह से भी शिल्प के नये-नये प्रयोगो को बढ़ावा मिला। शिल्पगत प्रयोग जितने स्वातंत्र्योत्तर युग में हुए है उतने शायद उपन्यास के पूरे इतिहास मे भी नही हुए। इससे उपन्यास का रूप तो निखर आया है, पर उसकी अंत:सरिता सूखती गई है। शिल्प के प्रति उपन्यास के उत्तरोत्तर बढ़ते मोह को देखकर बार-बार यह प्रश्न कौंध जाता है कि शिल्प की शक्ति से खड़ी कृतियां देश और काल की सीमा को कैसे लाघ सकेंगी।

प्रथम प्रयोग : परीक्षा-गुरु

उषा पाण्डेय

'परीक्षा-गुरु' श्रीनिवासदास की कृति है। लेखक ने इसे संसारी वार्ता कहते हुए भी भूमिका में 'नावेल' का अभिधान देकर शिल्पगत वैशिष्ट्य की ओर इंगित किया है। आचार्य शुक्लजी ने इसकी उद्धरण-बहुलता की प्रवृत्ति को अनुकरणीय न मानते हुए भी अंग्रेजी ढंग का प्रथम उपन्यास कहा है। उपन्यास साहित्य के शोधकर्ताओं में डॉ० गोपालराय, डॉ० सुरेश सिनहा, डॉ० विजयशंकर मल्ल के अतिरिक्त, सभी ने 'परीक्षा-गुरु' को अंग्रेजी औपन्यासिक शिल्प पर सजित प्रथम हिन्दी उपन्यास का गौरव दिया है। डॉ० गोपालराय ने निस्सहाय हिन्दू के प्रति पक्षपातशील होने पर भी 'परीक्षा गुरु' की शिल्पगत नवीनता, अंग्रेजी परिभाषा के अनुसार उपन्यास के तत्त्वों के प्रस्तुतीकरण के प्रयास को स्वीकार किया है।[1] श्रीनिवासदास ने दो नाटकों की रचना के पश्चात् कथा-शिल्प में एक नवीन प्रयोग किया। उपन्यास-कला से वे अंग्रेजी के माध्यम से ही परिचित थे। हिन्दी में कतिपय अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त न तो इस प्रयोग के लिए ठोस पृष्ठ-भूमि ही थी और न पथ-निर्देश सम्बन्धी संकेत-चिह्न। हिन्दी कथा-साहित्य के इस आदि युग में लिखी औपन्यासिक कृति का अध्ययन दो दृष्टियों से अपेक्षित है— 'परीक्षा-गुरु' की शिल्पगत प्रयोगात्मकता और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा का विकास।

उपन्यास को परिभाषा में बाँधने के प्रयास में कतिपय विशेषताएँ अधिक स्पष्ट हुई हैं—उपन्यास कल्पित जीवन का यथार्थ भासित होने वाला चित्र है। कथा को अनिवार्य तत्त्व अथवा मेरुदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए भी लेखक समयानुक्रम को परिवर्तित कर सकता है। इस गद्यबद्ध कृति में जीवन के व्यापक आधार फलक पर, विशिष्ट देशकाल की संयोजना करता हुआ लेखक यथार्थवादी भाषा में कल्पित चरित्रों को प्राणवान और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करता है। 'परीक्षा-गुरु' के निवेदन से स्पष्ट है कि उपन्यास का यह स्वरूप किसी न किसी रूप मे श्रीनिवासदास के समक्ष था। इस नवीन प्रयोग की सभावित न्यूनताओं से अभिज्ञ होने पर भी लेखक कथा की यथार्थता, नाटकीय शैली के समावेश,

१. गोपालराय, 'हिन्दी कथा साहित्य और पाठकों की रुचि', पृ० २२३।

सामान्य बोलचाल की भाषा के प्रयोग मे प्रयत्नशील था।[1] लेखक ने यथार्थपरक कथा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तत्कालीन मध्यवर्ग के जीवन का सजग चित्र दिल्ली के नवयुवक व्यापारी मदनमोहन की कथा मे रुपायित हुआ है। लेखक स्वय व्यापारिक वर्ग से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहा। अंग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी के ज्ञाता होने के साथ ही व्यावहारिक जीवन की जटिलताओ का उसे अनुभवजनित ज्ञान था। उसने जीवन को समीप से देखने और परखने के प्रयास मे चाटुकारी के माधुर्य मे स्वार्थ के विषधर को पाया था। उसे भली-भाति ज्ञात था कि धन की आधारशिला पर स्थित मित्रता बालू के पुल के समान क्षण मे बिखर जाती है। इसी कारण वह पाश्चात्य सभ्यता की मोहिनी से अभिभूत व्यापारी मदनमोहन के जीवन के उतार-चढाव को विश्वसनीयता और यथार्थता का रग दे सका। मदनमोहन धन के मद मे स्पष्टवादी, शुभचिन्तक मित्र की सलाह की अवज्ञा करता है। खुशामदी मित्रो की चाटुकारिता से प्रभावित होकर वह विलास और प्रदर्शन से पूर्ण जीवन को ही अपनाता है। उसकी परिणति भी वही होती है, जो यौवन और सम्पत्ति के दुहरे मद से विवेकहीन व्यक्ति की हो सकती है। शिम्भूदयाल, चुन्नीलाल आदि चाटुकारो के प्रोत्साहन से उकी धन-राशि विलास, प्रदर्शन, आडम्बर मे समाप्त होती जाती है। अपने झूठे अहं की तुष्टि के लिए वह धन पानी की तरह बहाता है। घर और पतिव्रता पत्नी के प्रति विकर्षण और विलास, वेश्या तथा भौतिकता के प्रति आकर्षण अधिक बढता जाता है। इन स्वार्थी मित्रो के कारण वह ऋणग्रस्त होता जाता है, नौबत यहा तक आ जाती है कि ऋण न चुका सकने के कारण उसे जेल भी जाना होता है। परन्तु पतिव्रता पत्नी सुशीला के त्याग और सच्चे मित्र ब्रजकिशोर के सदुद्योग से मदनमोहन मुक्त होता है। यह अल्पकालीन विपत्ति एक परीक्षा के रूप मे ही आती है। घटनाओं की नियोजना से लेखक इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यह परीक्षा ही विपत्ति के माध्यम से अनुभव का पाठ पढाने वाली गुरु है।

कथा ग्यारह प्रकरणो में निबद्ध है, जिनका प्रसगानुकूल नामकरण भी किया गया है। आदर्श-तत्त्व प्रखर हो जाने के कारण, उपदेश की अप्रासगिकता कही-कही प्रधान हो गई है। परन्तु समग्र रूप से मदनमोहन की जीवन के उत्थान-पतन की प्रस्तुति मे विश्वसनीयता है। लेखक ने अग्रेजी उपन्यासो के उस वर्ग को आदर्श बनाया जिसमे उद्धरणो की बहुलता मिलती है। इसके अतिरिक्त लेखक का विद्वान-रूप प्रधान हो जाने के कारण भी अनावश्यक उद्धरणो और घटना-

१. "इस पुस्तक में दिल्ली के एक कल्पित (फर्जी) रईस का चित्र उतारा गया है और उसको जैसे-का-तैसा अर्थात् स्वाभाविक दिखाने के लिए संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के स्थान पर दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गई है।' 'परीक्षा-गुरु' (निवेदन)—श्रीनिवासदास, संस्करण १९५८।

प्रसगो का बाहुल्य हो गया। लेखक ने भूमिका मे स्वीकार किया है कि ऐसे प्रसगों से क्रमबद्धता विशृंखल होती है अतः कथा के अखण्डित प्रवाह को ग्रहण करने वाले व्यक्ति के लिए इन उद्धरणों को [-चिह्न से अंकित कर दिया है। कथानक में उत्सुकता, रोचकता आदि तत्त्व मिल जाते है। सभी घटनाओं की नियोजना, ब्राइट की दूकान से भड़कीली वस्तुओं का क्रय, चाटुकारों की तुष्टि के लिए टोपी की घटना, हरकिशोर की अप्रसन्नता, दावा दायर होना, मदनमोहन का बंदी होना इसी निश्चित अन्त की ओर उन्मुख है, जब नवयुवक व्यापारी साधनहीन होकर संसार की स्वार्थपरता का भयंकर रूप देखता है। मोह-भग के पश्चात् मदनमोहन परीक्षा-गुरु के कारण प्रामाणिक भाव से रहकर सच्चा सुख पाता है।

श्रीनिवासदास के समक्ष हिन्दी-कथा-साहित्य मे बंगला और अंग्रेजी उपन्यासों मे चित्रित पात्र ही आदर्श रूप मे थे। उनकी इस कृति मे निरूपित पात्रों में यथार्थ और आदर्श के मिश्रित रूप उपलब्ध है। नायक मदनमोहन तथा उसके चाटुकार मित्रों के शील-संविधान में यथार्थपरकता है। स्पष्टत: एक सुनिश्चित उद्देश्य की व्यंजना के कारण पात्रो का स्वतन्त्र व्यक्तित्व मुखरित नही हो सका। सूत्रधार रूप मे लेखक ने उसको अपने आदर्शवाद की अभिव्यक्ति के उपकरण रूप में ही प्रस्तुत किया है। उनमे सत् और असत् दो स्पष्ट वर्ग है—सत् चरित्रोंमें नायक को सत्पथ पर लाने वाले मित्र ब्रजकिशोर का चरित्र अपनी उदात्तता में अविश्वसनीय तो नही, परन्तु विशिष्ट अवश्य है। नायक-पत्नी सुशीला के चरित्र में लेखक ने भारतीय नारी के शास्त्रीय आदर्श को मूर्त किया है। इस सयत्न आदर्श की रेखाओ मे अकित चरित्र मे पतिव्रता नारी की कर्त्तव्यपरायणता का उच्चतम रूप मिलता है। पति की उपेक्षा को भाग्य-भोग मानकर स्वीकारकरने वाली इस नारी की सहनशीलता पति के दुराचरण से भी कुण्ठित नही होती। "जगत माता जानकीजी ने राज-सुख छोडकर पति के संग वन मे रहना बहुत अच्छा माना था...।"[1] सीता और सावित्री के स्पष्ट आदर्शों को निर्देश-चिह्नो के रूप में ग्रहण करने वाली इस नारी का चित्रण, प्रेमाख्यानों की परम्परा से भिन्न है। लेखक संभवतः अपनी परीक्षा को गुरु रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य के कारण इस चरित्र के प्रति पक्षपातशील हो गया है। उसने प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषणात्मक एवं नाटकीय दोनों प्रणालियों के माध्यम से इस सशक्त चरित्र-चित्र को समग्रता दी है। उपन्यास के अन्त मे करावास के भयंकर एकान्त मे स्वकल्पित छलनाओ से भयभीत मदनमोहन अपनी पत्नी की इस सहृदयता से लज्जित होकर ही, पश्चात्ताप कर सचेत होता है। उसके मनोवैज्ञानिक परिवर्तन को सहज बनाने के लिए ऐसे उत्सर्गशील चरित्र की प्रस्तुति ही अपेक्षित थी। मदनमोहन की भावावेगपूर्ण उक्ति से स्पष्ट होता है कि कथा इस नाटकीय परिणति में उसकी पत्नी की सहनशीलता कितना महत्त्व रखती है—"मुझको इतना दुख उन कृतघ्न मित्रों की

१. श्रीनिवासदास, 'परीक्षा-गुरु'।

शत्रुता से नही होता जितना तेरी लायकी और अधीनता से होता है।"[1]

अन्य चरित्रो मे ब्रजकिशोर और मदनमोहन की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। मदनमोहन केन्द्रीय पात्र है परन्तु उसकी चरित्रगत विशेषताएँ 'वर्ग' का प्रतिनिधित्व करती है। उसके चरित्र का प्रथम परिचय लेखक अग्रेज व्यापारी ब्राइट की दूकान में देता है। किसी भी अविचारी धनी व्यक्ति के समान मदनमोहन मे आकर्षक वस्तुओ के प्रति मोह, सुरा-सुन्दरी मे रुचि, अपने बढते हुए व्यय को पूरा करने के लिए कर्ज लेना, चाटुकार मित्रों को सबसे बडा हितचिन्तक समझने की विशेषताएँ मिल जाती है। उसमे सकल्प की दृढता का अभाव है, इसी कारण उसके शुभ निश्चय मित्रों की चाटुकारिता के समक्ष बिखर जाते है। एक क्षण वे अपने सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की सदाशयता के प्रति आश्वस्त होते है, दूसरे ही क्षण उसकी उच्छृ खल प्रकृति को ब्रजकिशोर का कथन अपने अधिकार क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता प्रतीत होता है। परिस्थितियो के प्रवाह मे तिनके के समान वह जाने वाले मदनमोहन का चरित्र कथा की आवश्यकता के अनुरूप ही दुर्बल और शीघ्र प्रभाव ग्रहण करने वाला है। ब्रजकिशोर का चरित्र आदर्श है। उसका प्रत्येक कार्य, हर उक्ति उसकी विचारशीलता, दृढता, प्रत्युत्पन्नमति आदि विशेषताओ को ही स्पष्ट करती है। ब्रजकिशोर की दूरदर्शिता के समक्ष स्वार्थी मित्रो का मदनमोहन को अपमानित करने का षड्यन्त्र व्यर्थ होता है। शिभूदयाल, चुन्नीलाल, हरकिशोर आदि के चरित्र स्वार्थपरता के ज्वलत रूप है। 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास से ही चरित्र-चित्रण की प्रत्यक्ष और नाटकीय दोनो प्रमुख प्रणालियो का सम्यक् विनियोग हुआ। पात्र अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक तत्त्वो से मुक्त हो जीवन की यथार्थ भूमि, भले ही वह सीमित हो, पर प्रस्तुत हुए।

'परीक्षा-गुरु' मे सवाद या कथोपकथन पात्र विशेष की चरित्रगत विशेषताओ के साथ ही कथा को गति भी देते है। इसे कथोपकथन-प्रधान उपन्यास भी कहा गया है। लेखक ने संवादों में पात्र और परिस्थिति भेद को दृष्टि मे रखा है, इसी कारण इजलास के सवादो मे उर्दू शब्दावली की प्रधानता है—'ताज की वफादारी, ईमानदारी, मुल्क का इन्तजाम, सब लोगो की हरकसी और हरेक आदमी के फायदे के लिए इंसाफ करना बहुत जरूरी है।"[2] 'परीक्षा-गुरु' मे उपदेशात्मक प्रवृत्ति के कारण उद्धरण-बहुलता आ गई है, अत. संवाद कही-कहीं अनावश्यक-स्फीति से प्रभावहीन हो गए है। परन्तु, विशिष्ट और मार्मिक प्रसगो मे सवादो की उपयुक्तता लेखक की सजगता का साक्ष्य देती है। प्रकरण ३८ मे यदि उदाहरणों और शिक्षाप्रद प्रसगों को हटा दिया जाय, तो संवाद मन स्थिति का स्पष्टीकरण करने के साथ परिस्थिति के अनुकूल भी है। मदनमोहन के अबोध बालकों की भोली उक्तियाँ स्वाभाविक होने के साथ ही मार्मिक भी है—"छैल (सैर) करने नहीं चन्ते तो घर ही चलो।"[3] भारतेन्दु के समकालीन लेखक से

१-२-३. श्रीनिवासदास, 'परीक्षा गुरु', पृ० २८३, २७५, २७६।

संवादों के कलात्मक रूप की सफल योजना की आशा भी नही की जा सकती। श्रीनिवासदास ने औपन्यासिक शिल्प के महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप मे संवादो की प्रस्तुति की। जिन स्थलो मे उनकी उपदेशात्मक चेतना अधिक मुखर नही है वहा संवादो का व्यजक, और चुस्त रूप भी मिलता है। "तो क्या सच्चा तक भी वह...."[1] मदन-मोहन की पत्नी की इस अपूर्ण उक्ति ने बहुत कुछ बिना कहे ही स्पष्ट कर दिया है।

'परीक्षा-गुरु' की घटना स्थली के विषय मे लेखक भूमिका मे ही बता देता है कि तत्कालीन दिल्ली ही प्रमुख स्थान है। यद्यपि लेखक ने भिन्न-भिन्न प्रकरण मे मदनमोहन की विलासभूमि की स्थिति बताते हुए सब्जीमडी, नहर की पटरी, कुतुब आदि का नामोल्लेख किया है, परन्तु ये किसी विशेष स्थान का चित्र नही प्रस्तुत करते है। उन्नीसवी शताब्दी के दिल्ली के रईसो के जीवन का यथार्थ चित्र अवश्य मदनमोहन की कथा से स्पष्ट होता है; किन्तु इन चित्रणो में स्थानीय सस्पर्श की सजीवता नही है। स्थान की विशिष्टता प्रतिपादित नहीं हो सकी है। लेखक मानसिक पृष्ठभूमि के चित्रण में सफल रहा है—मदनमोहन बन्दीगृह मे अपने विगत का विश्लेषण करते हुए अन्धकार और एकान्त मे मौत, भूत भय से ग्रसित होता है।[2]

असुरक्षा, भय की दशा में मानव की चेतना तारतम्य और क्रम को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। ऐसी स्थिति मे वातावरण के साथ षड्यंत्र कर चेतना ही विभिन्न काल्पनिक प्रेतमूर्तियो, अस्पष्ट आकृतियो को बनाती है। परन्तु ये छाया-मूर्तियाँ उस मानसिक विशृंखलता में सत्य और भयानक प्रतीत होती है। श्रीनिवास-दास ने मदनमोहन की इसी मानसिक पृष्ठभूमि को सजगता से प्रस्तुत किया है।

भाषा की दृष्टि से 'परीक्षा-गुरु' जीवन के निकट है। शुद्ध साहित्यिक हिन्दी को माध्यम रूप मे ग्रहण करते हुए भी उपन्यासकार ने दिल्ली की बोलचाल के वाक्य-विन्यास, शब्द-प्रयोग को प्रधानता दी है। 'परीक्षा-गुरु' की भाषा मे दिल्ली की भाषा की छः विशेषताओं—बोलचाल की दृष्टि से स्वर लाघव—'ने' का सानु-स्वार प्रयोग, मे और से विभक्तियों का विशेष उच्चारण, शब्दों के स्थानीय प्रयोग, अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति, पद्य का साहित्यिक ब्रजभाषा मे अनूदित होना, अंग्रेजी शब्दो का देशज उच्चारण—पर डॉ० कैलाश प्रकाश ने विस्तार से प्रकाश डाला है।[3] इन स्थानीय प्रयोगों और उच्चारणों की विशिष्ट विचित्रता के होते हुए भी 'परीक्षा-गुरु' की भाषा कथ्य के वहन मे पूर्ण

१. श्रीनिवासदास, 'परीक्षा-गुरु', पृ० २७५।
२. "कोई प्रेत उनकी कोठरी में मौजूद है उसके चलने-फिरने की आवाज सुनाई देती है बल्कि कभी-कभी वह अपनी लाल-लाल आँखों से क्रोध करके मदन-मोहन को घूरता है, कभी अपना भट्टी-सा मुँह फैलाकर मदनमोहन की ओर दौड़ता है"··वही, पृ० २८१।
३ डॉ० कैलाश प्रकाश—प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृ० ९।

समर्थ है। उस समय तक गद्य की भाषा मे वाक्य-विधान, विभक्तियों की स्थिति आदि का रूप पूर्ण निश्चित नही हो पाया था। अत 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास की भाषा अपनी न्यूनताओ के साथ श्रीनिवास के समसामयिक युग की व्यावहारिक और साहित्यिक भाषा है।

सभी कलाकृतियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जीवन को ही आधार बनाती है। उपन्यास को जीवन के सर्वाधिक निकट माना जा सकता है। कुशल उपन्यासकार जीवन के यथार्थ को वर्ण्य मानकर भी उसका यथातथ्य चित्रण नही करता। अपितु सामाजिक जीवन का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करता है कि उसकी अपूर्णताएँ और विकलांगताएँ उभर सकें। यथार्थ की इस प्रस्तुति से जीवन के पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य होता है। भारतेन्दु-युग के साहित्यकार होने के कारण 'परीक्षा-गुरु' का लेखक पतनोन्मुख समाज के अभ्युत्थान मे प्रयत्नशील है। उपन्यास के माध्यम से लेखक विलास के अनियंत्रित रूप, अधानुकरण, प्रदर्शन के मोह आदि के निश्चित फल को स्पष्ट करना है। भूमिका के अनुसार लेखक का उद्देश्य नये रचना विधान के माध्यम से दिल्ली के कल्पित रईस का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना है। परन्तु कृति के सतर्क अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक प्रामाणिक भाव से जीवन-यापन मे ही सच्चा सुख मानता है। नायक मदनमोहन जीवन के आरोह-अवरोह, परिस्थितियो के सघात से गुजरने के बाद ही इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विपत्ति मानव की कसौटी है, इस परीक्षा से दीक्षित होकर ही व्यक्ति मृगतृष्णा में न भटककर सच्चे सुख की उपलब्धि घर बैठे ही कर लेता है। यही लेखक का जीवन-दर्शन है।

समग्र रूप से विचार करने पर सुस्पष्ट है कि 'परीक्षा-गुरु' की न्यूनताएँ और अपूर्णताएँ पर्याप्त है। उद्धरण-बहुलता, भाषागत प्रयोगों की परिष्कारहीनता रोचकता में व्यवधान प्रस्तुत करते है। परन्तु इस उपन्यास मे ऐसे स्थल भी है। जहाँ कथा का द्रुत प्रवाह, वर्णन की सजीवता, संवादो की संक्षिप्तता आदि ध्यान आकर्षित करते है। प्रकरणों को शीर्षक देने की प्रवृत्ति कथा-साहित्य की प्रगति के इस युग मे अप्रासगिक लग सकती है। किन्तु, 'परीक्षा-गुरु' के कथानक को स्पष्ट करने, पाठक की कौतूहल-वृत्ति को उत्तेजित करने की क्षमता इन शीर्षको मे है। आलोचकों ने यह समवेत स्वर मे स्वीकार किया है कि औपन्यासिक शिल्प का प्रथम प्रयोग, उपन्यास के तत्त्वों की संयोजना प्रथम बार श्रीनिवासदास के 'परीक्षा-गुरु' में ही हुई है। उसकी परम्परा का प्रत्यक्ष पालन तो बालकृष्ण भट्ट आदि प्रारभिक उपन्यासकारों ने किया है। साथ ही वस्तु-शिल्प, चरित्र, भाषागत यथार्थवादी दृष्टिकोण आदि इसकी और विशेषताओ को भिन्न रूप मे परवर्त्ती कथा-साहित्य मे भी देखा जा सकता है। वस्तुत. हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में इसका महत्त्व अविस्मरणीय है।

गांधीयुगीन भारत की करुणा-गाथा : गोदान

नन्ददुलारे वाजपेयी

प्रेमचन्दजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' के सम्बन्ध मे तीन प्रश्न प्राय: किये जाते है। वे क्रमश' ये है—(१) 'गोदान' मे ग्रामीण कथानक के साथ नागरिक कथा किस उद्देश्य से जोड़ी गयी है, और वह कहाँ तक उपयोगिनी हुई है? (२) 'गोदान' को राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास (Epic Novel) कहा जा सकता है या नही? (३) 'गोदान' समाजवादी कृति है या नही? यहा हम इन्ही तीन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

ग्रामीण और नागरिक कथा का समन्वय : शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार 'गोदान' मे आधिकारिक और प्रासंगिक, दो कथाएँ पायी जाती है। ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करने वाली कथा प्रासंगिक या गौण है। 'गोदान' मे इन दोनों कथाओ को एक सम्बन्ध-सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु प्रश्न यह है कि यह प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रो के बीच सम्बन्ध-स्थापन का कार्य गाँव के जमींदार रायसाहब द्वारा पूरा होता है। गाँव की रामलीला देखने के लिए रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते है। यही 'मालती-हरण' का एक मनोरंजक और अनोखा दृश्य दिखाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र 'गोबर' कुछ दिनों तक शहर मे रहता है और उपन्यास के नागरिक पात्रों के सम्पर्क में आता है; परन्तु नागरिक और ग्रामीण पात्रो का यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ नही होता कि एक-दूसरे के जीवन-क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समन्वित कर एक ही मुख्य कथा का अंग बना ले। पारसी नाटकों मे प्राय: मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोद-प्रधान एक दूसरी कथा जुडी रहती थी, जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गम्भीरता को कम कर दर्शको का मनोरजन करना। वास्तव मे वे दोनों कथाएँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न और स्वतंत्र होती थी। किसी भी स्थल पर उनके कथा-तन्तु जुड़े नही होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। 'गोदान' उपन्यास के उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असम्बद्ध नहीं है, फिर भी उनमे वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।

नगर की इस प्रासंगिक कथा का सम्पूर्ण उपन्यास के उद्देश्य से क्या सम्बन्ध

है, इस पर भी विचार करना चाहिए। 'गोदान' निश्चय ही ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। यदि उसमे नागरिक पात्र आते है, तो उनका ग्रामीण पात्रों की गतिविधि से किसी न किसी प्रकार का •घनिष्ट सम्बन्ध होना ही चाहिए। ऐसा न होने पर उपन्यास के उद्देश्य या कार्य की एकरूपता मे बाधा पडेगी। उपन्यास मे दो कार्य या दो उद्देश्य नही हो सकते; दो स्वतंत्र जीवन-चित्रण नही किये जा सकते, अन्यथा उसकी अन्विति नष्ट हो जायगी।

ग्राम्य जीवन या ग्रामीण वातावरण मे सफेदपोश नागरिक समाज प्रायः दो उद्देश्यो से ही रखा जा सकता है—(१) तुलना के द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विपमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना, (२) नागरिक पात्रो द्वारा ग्रामीण जीवन मे सुधार लाने का प्रयत्न करना। पहली स्थिति मे नागरिक पात्र ग्रामीण समाज के उत्पीड़क के रूप मे ही दिखाये जा सकते है और दूसरी स्थिति में वे उसके सहायक और सुधारक हो सकते है, परन्तु यदि इन दो मे से एक भी उद्देश्य की पूर्ति नही होती और उपन्यास मे नागरिक और ग्रामीण पात्र दो स्वतन्त्र उद्देश्यो को लेकर चलते है, तो उपन्यास की वह दोहरी योजना समीचीन नही कही जा सकती।

'गोदान' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहनेवाले दो परिवारो के समान है, जिनका एक-दूसरे के जीवनक्रम से बहुत कम सम्पर्क है। वे कभी-कभी आते-जाते मिल लेते है,और कभी-कभी किसी बात पर झगडा भी कर लेते है; परन्तु न तो उनके मिलने और न झगडने में ही कोई ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जिसे स्थायी कहा जा सके।

यदि नागरिक कथा का अंश उपन्यास मे न होता, तो उपन्यास के नागरिक पाठकों के लिए उसमे कोई आकर्षण न रह जाता—नागरिक पात्रों को रखने के पक्ष मे इस तर्क को भी सुसंगत नही कहा जा सकता। उपन्यासकार को ऐसे पाठको की आवश्यकता ही क्या, जो केवल नागरिक कथानक से ही दिलचस्पी रखते हों। इसका अर्थ तो यह हुआ कि पाठकों के मनोरजन या उनकी रुचि-तृप्ति के लिए उपन्यासकार को अपने लक्ष्य से बाहर जाकर एक विशेप प्रकार की सामग्री जुटानी पड़ेगी। कोई भी उपन्यासकार अपने को इस स्थिति मे रखना पसन्द न करेगा।

एक और तर्क यह दिया जाता है कि 'गोदान' उपन्यास भारतीय जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप को हमारे दृष्टि-पथ पर लाना चाहता है, अतएव उसमे ग्राम के साथ-साथ नगरो और उसके निवासियो की जीवन-चर्चा भी दी गई है। ग्राम-जीवन को नागरिक जीवन से नितान्त पृथक् रखा भी नहीं जा सकता, क्योंकि आज की भारतीय स्थिति मे वे दोनों एक-दूसरे से एकदम अलग हैं नही। अतएव यथार्थ की रक्षा के लिए भी यह योजना आवश्यक थी, परन्तु ये दोनों तर्क भी समाधानकारक प्रतीत नही होते। उपन्यास का नाम 'गोदान' है, जिससे यह सूचना नहीं मिलती कि यह सम्पूर्ण भारतीय जीवन को चित्रित करने का लक्ष्य

रखता है। जो लक्ष्य उस कृति का नहीं है, उसे उस पर आरोपित करना व्यर्थ है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका सम्बन्ध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है। और यही वस्तु हम उपन्यास में पाने की सम्भावना रखते हैं। किसी दूसरी वस्तु की सूचना उपन्यास के नाम से नहीं मिलती। इस तर्क में भी कोई सार नहीं है कि भारतीय ग्राम और नगर एक-दूसरे से नितान्त सम्बन्धहीन नहीं हैं, अतएव प्रत्येक उपन्यास में इन दोनों का सम्बन्ध दिखाया ही जाय। कोई साहित्यिक कृति प्रत्येक वस्तुस्थिति को मानकर चलने के लिए बाध्य नहीं होती। प्रत्येक वास्तविकता को मानकर चलना असम्भव है।

कहा जाता है कि 'गोदान' के ग्रामीण कथानक में कोई चमत्कारपूर्ण घटना-योजना नहीं है, अतएव नागरिक कथानक को जोड़कर उसे प्रभावशाली बनाना आवश्यक था। पर प्रश्न यह है कि उपन्यासकार ग्रामीण कथानक को ही अधिक प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण घटनावली से सज्जित क्यों नहीं करता? यदि ग्राम-कथा में निर्माण-सम्बन्धी कोई कमी है, तो उसकी पूर्ति ग्राम-कथा को ही सँवारकर की जानी थी। उसके लिए एक ऐसी कथा जोड़ने की आवश्यकता न थी, जिसका मूल आख्यान से कोई नैसर्गिक सम्बन्ध न हो।

अन्तिम दलील यह दी जाती है कि वर्तमान भारतीय समाज का वह अंश, जो शिक्षित है और जो सामाजिक समस्याओं में दिलचस्पी रखता है, मध्यवर्गीय समाज ही है। उसी समाज से आज के प्रत्येक लेखक और विचारक को काम लेना पड़ता है। ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखने वाला उपन्यास किसी दूसरे देश में ग्रामीण समाज के बीच प्रचार पा सकता था; परन्तु भारत की वर्तमान स्थिति में यह सम्भव नहीं है; अतएव स्थिति का ध्यान रख कर और शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा ही अपने उपन्यास के उद्देश्यों के प्रसार की सम्भावना देखकर लेखक ने मध्यवर्गीय समाज को नागरिक कथा का लालच दिया है, जिससे वे इसी बहाने उपन्यास को पढ़ें और उससे प्रभावित हों। इस दलील का उत्तर आंशिक रूप में हम ऊपर दे चुके हैं। वास्तव में शिक्षित समाज के बीच सुधार की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए ग्रामीण और नागरिक कथा का बेमेल मिश्रण आवश्यक न था। उसके लिए आवश्यक था बलात् आकृष्ट करनेवाला ग्राम-दशा का सम्पूर्ण हृदयस्पर्शी चित्र अथवा मार्मिक विरक्ति उत्पन्न करने वाला नागरिक जीवन का तलस्पर्शी आख्यान। और यदि इन दोनों को अलग-अलग दो कृतियों में न रखकर एक में मिलाने की आवश्यकता समझी गई, तो यह मिलाप-कार्य अधिक समन्वित रूप में तथा अधिक कलापूर्ण रीति से करना चाहिए था। प्रेमचन्दजी ने उक्त तीन प्रयोगों में से किसी एक को भी पूरी तरह नहीं निबाहा।

'गोदान' के 'राष्ट्रीय प्रतिनिधि' उपन्यास होने की संगति : वास्तव में महाकाव्य और उपन्यास दो भिन्न साहित्य-प्रकार हैं। महाकाव्य की परम्परा औपन्यासिक परम्परा से नितान्त भिन्न है। ऐसी अवस्था में उपन्यास को Epic Novel की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता।

राष्ट्रीय जीवन के किसी विशेष युग का सम्पूर्ण उद्घाटन किसी एक उपन्यास में करना कदाचित् सम्भव नही है। राष्ट्रीय सस्कृति के विकास मे विभिन्न युगो के प्रतिनिधि महाकाव्य तो हो सकते है, परन्तु युग का प्रतिनिधि उपन्यास कठिनाई से मिलेगा। इसका कारण यह है कि उपन्यास मे सामाजिक जीवन के बाह्यस्वरूप को चित्रित करते है और ऐसा उपन्यास क्वचित् ही कोई हो सकता है, जिसमे बाह्य सामाजिक जीवन के किसी युग-विशेष का सम्पूर्ण चित्र दिखाया जा सके। महाकाव्य मे युग की सस्कृति का चित्रण तथा युग की ज्वलत समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण उसके सम्पूर्ण पक्षो के साथ किसी एक कृति मे कर सकना सम्भव नही है।

राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की सज्ञा साहित्य के इतिहास मे प्राय' अज्ञात थी। सर्वप्रथम तोल्स्ताय के प्रख्यात उपन्यास 'War and Peace' को यह पदवी दी गई। जिन्होने इसका अध्ययन किया है, वे जानते है कि यह कृति वास्तव मे उपन्यास नही है, उससे कुछ अधिक है। इसमे कोई सुसम्बद्ध कथानक भी नही है। सैकडो पृष्ठो तक सामाजिक समस्याओ और दार्शनिक विचारो की चर्चा चलती रहती है। जैसा कि नाम से आभासित होता है, इस ग्रथ मे युद्ध की परिस्थिति का वर्णन और चित्रण किया गया है। साथ-ही-साथ शान्तिकाल मे रूस की सामाजिक व्यवस्था का भी विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। तोल्स्ताय की साहित्यिक ख्याति, उनका रचना-सामर्थ्य, युग की सम्पूर्ण गतिविधि को एक कृति मे समाहित करने की उनकी क्षमता अप्रतिम थी। यही कारण है कि उनका उपन्यास पूरे अर्थ मे उपन्यास न होते हुए भी ससार की एक प्रसिद्ध एव महत्त्वपूर्ण कृति है, और उसे राष्ट्रीय उपन्यास या Epic Novel की सज्ञा दी गई है।

प्रेमचन्दजी का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। यह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही उसमे प्राधान्य है। इस करुण रस-प्रधान ग्राम्य चित्र को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नही कहा जा सकता। वर्तमान युग का भारतीय राष्ट्र नवजागृति की अंगडाइया लेकर उठ रहा है। उसके जीवन मे सघर्ष है, परन्तु उस पर विजय पाने की कामना भी है। उसमे दैन्य और दुख है, परन्तु उनके निवारण का महान सकल्प भी है ? हमारे देश मे पिछले समय जो राष्ट्रीय सघर्ष हो रहा था, जिसके परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, वह अभूतपूर्व था। 'गोदान' मे इस सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश नही है।

'गोदान' मे नागरिक पात्र भी आये है। शिक्षित होते हुए भी उनमे वह राष्ट्रीय चेतना कम ही दिखाई देती है, जो उन पात्रो को ऊची चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित करती। पूरे उपन्यास को पढ लेने पर वर्तमान युग के सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का बहुत ही कम आभास होता है। ऐसी अवस्था मे इसे युग की प्रतिनिधि रचना कहना सुसंगत न होगा।

महाकाव्य के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्कर्ष का सस्कार जुड़ा रहता है। किसी

भी महाकाव्य का उल्लेख करने पर हम उसमें युग की सर्वोच्च राष्ट्रीय चेतना तथा विकास की झलक पाना चाहते हे। इसीलिए महाकाव्य मे प्रायः कोई बड़ा संघर्ष या युद्ध ही केन्द्रीय घटना हुआ करती हे। वहीं से वीर-चरित्रों का उत्थान या पतन हुआ करता है। महाकाव्य का सम्पूर्ण वातावरण वीर-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण ही उसे राष्ट्रीय जीवन और आदर्शों का प्रतिबिम्ब या मुकुर कहा जा सकता हे। 'गोदान' मे इस प्रकार की वीर-भावना का अभाव है। 'गोदान' की अपेक्षा प्रेमचन्दजी के अन्य उपन्यासों में चरित्रों का उत्कर्ष अधिक परिलक्षित होता है।

'गोदान' को समाज का सर्वतोन्मुखी चित्रण भी नही कह सकते। उसका देश और काल सीमित हे। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में होने वाले सांस्कृतिक विनिमय का उसमें कोई उल्लेख नहीं हे। उत्तर प्रदेश के एक छोटे ग्राम से ही उसका कथानक सम्बन्धित है। यद्यपि ग्राम के विविध वर्गो और प्रतिनिधियो का उल्लेख अवश्य है, फिर भी सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से इसमे पर्याप्त विशालता नहीं है।

'गोदान' के कथानक मे चरित्रो की संख्या भी थोड़ी हे और ग्राम तथा नगर के चरित्र मिलकर भी युग-जीवन का यथेष्ट परिचय नही करा पाते। ऐसा नही प्रतीत होता कि उपन्यास का लक्ष्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करना हे। वह तो केवल भारतीय कृषक की असहाय अवस्था को दिखाकर समाप्त हो जाता है। नागरिक चित्रण का उद्देश्य भी नवीन पाश्चात्य संस्कारो को उसकी ऊपरी तड़क-भड़क के साथ दिखाना ही है। ये दोनो ही लक्ष्य उतने व्यापक और सर्वस्पर्शी नही है कि इनके आधार पर 'गोदान' को युग की प्रतिनिधि कृति कहा जा सके।

भारतवर्ष के वर्तमान जीवन मे इतनी धाराएं और अन्तर्धाराएं, विचारो-आदर्शों की इतनी अनेकरूपता, साथ ही राष्ट्रीय उद्योग का इतना बड़ा समारम्भ चल रहा है कि उसे किसी एक उपन्यास में बांध सकना अत्यन्त कठिन हे। कम-से-कम 'गोदान' के लेखक का विचार इतने विशाल समारम्भ को अपनी कृति में स्थान देने का न था। कहा जा सकता है कि विस्तार में न सही, गहराई मे यह उपन्यास युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसमे भारतीय जीवन की करुणा 'होरी' के रूप में साकार हो गयी है। होरी मानो देश की वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधि है, परन्तु इस आधार पर भी हम इस उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते नही पाते। यदि उपन्यास के नायक में इतनी तीव्र संवेदना का भाव होता, जिसके आधार पर हम इसे विपन्न भारत का प्रतिनिधि या प्रतीक चित्र मान सकते, तो भी एक बात थी। वास्तव में प्रेमचन्दजी सीमित देश और काल को लेकर वर्तमान ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन ही कराना चाहते है। 'गोदान' मे न तो महाकाव्य के औदात्य और उत्कर्ष का समारम्भ आया है और न गहनतम उच्छ्वास का-सा सीमित और तन्मयताकारी प्रभाव ही व्यक्त हो पाया है। हमारी दृष्टि में वह राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की उन शर्तों को पूरा नहीं करता, जिन्हें तोल्स्ताय का 'War and Peace' उपन्यास करता है।

'गोदान' के समाजवादी कृति कहलाने की सार्थकता : किसी भी कला-कृति को किसी वाद के अन्तर्गत रखना एक खतरे का काम है। विशेषकर उपन्यास-रचना का कार्य जीवन के नाना दृश्यों के चित्रण का कार्य है। कहानी अथवा नाटक मे हम फिर भी किसी एक सिद्धान्त या वाद को आधार बना सकते है, यद्यपि इस कार्य में भी कहानी तथा नाटक की स्वाधीनता पर आघात लगे बिना न रहेगा। वादो के लिए उपन्यास सबसे अनुपयुक्त साहित्यिक सृष्टि है। उपन्यास में पग-पग पर जीवन की वास्तविक स्थिति और पात्रो की प्रगति का उल्लेख करना पड़ता है। वाद मे तो कोई-न-कोई बँधी विचारधारा होती है, जिसके साँचे में साहित्यिक रचना को उतार देना आवश्यक होता है, अतएव यह स्पष्ट है कि यह कार्य उपन्यास द्वारा करना अत्यन्त कठिन है।

यदि किसी लेखक के कुछ सुनिश्चित विचार है, जिनको वह अपनी कला-कृति मे रखना चाहता है, तो प्राय: अपनी उक्त कृति के प्रधान पात्रो द्वारा वह उन विचारों को उपस्थित कर सकता है। विचारो को अभिव्यक्त करते हुए पात्रों की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पडता है और प्रत्येक अवसर पर उस स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली बात ही कहलाई जा सकती है। ऐसी अवस्था मे नायक या अन्य प्रधान पात्रो द्वारा कहलाई गई बातें, किसी वाद का रूप ग्रहण कर ले, यह बहुत कुछ असम्भावित है। उपन्यास मे आये हुए वे वाक्य उन-उन पात्रो के चरित्र-विकास से सम्बन्ध रखते है तथा उन-उन स्थलो की परिस्थिति के अनुरूप होते है, अत: ऐसे वाक्यो का ताता लगा देना, जिनसे पात्रो के चरित्र मे योग न मिलता हो और न वहाँ की परिस्थिति की अनुरूपता ही आती हो, रचना को उपदेशात्मक कृत्रिम और असम्बद्ध बना देगा। कोई कथाकार इस खतरे को नही उठा सकता।

आधुनिक उपन्यासों के विकास मे समाजवादी विचारो के अनुकूल कुछ कृतियाँ अवश्य प्रस्तुत की गई है, परन्तु उन कृतियो को समाजवादी उपन्यास कहना समीचीन नही है। उदाहरण के लिए हम गोर्की के उपन्यासो को ले। यह स्पष्ट है, कि गोर्की के उपन्यास उस सामाजिक क्रान्ति का पूर्ण विवरण देते है जो श्रमिक वर्ग द्वारा की गई थी और जिसके विरोध मे सत्ताधारी वर्ग या समुदाय था; परन्तु इन चित्रणो मे सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का आधार लिया गया है और वास्तविक जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यासो को श्रमिक वर्ग के विद्रोह-युग की कृति कहा जा सकता है; परन्तु उन्हें समाजवादी कृति कहना संगत न होगा। न तो समाजवाद के समस्त बौद्धिक निष्कर्ष इन उपन्यासों में आये है और न किसी वाद या विचारधारा को चित्रणों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हुई है। हम यह कह सकते है कि इन उपन्यासो द्वारा समाजवादी राष्ट्र के जीवन का चित्रण हुआ है, परन्तु यह नही कह सकते कि इनमे समाजवाद का चित्रण हुआ है।

मार्क्सवादी साहित्य-शैली यथार्थवादी शैली होती है। मार्क्स और लेनिन, दोनों ने इस बात की घोषणा की है कि समाजवादी साहित्य मे यथार्थवादी चित्रण

का ही स्वरूप आ सकता है, आदर्श और कल्पना-प्रधान चित्रण समाजवादी साहित्य के लिए ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के मत से समाजवाद एक भौतिकवादी विज्ञान है और उसके मूल में वैज्ञानिक यथार्थ ही कार्य करता है। ऐसी अवस्था मे सारा समाजवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद पर आश्रित है। अपने को समाजवादी कहनेवाले लेखक शैली तथा विचारों में यथार्थवाद को ही अपनाते है।

प्रेमचन्दजी की कृतियां यथार्थवाद से बहुत दूर है। शैली मे भी प्रेमचन्दजी तर्क-प्रधान बौद्धिक शैली को छोड़कर प्राय: भावात्मक शैली को अपनाते है। उनकी दृष्टि भी भौतिकवादी नही है और न वे समाज का वह सांचा ही अपने दृष्टिपथ मे लाते है, जिसका आधार मार्क्सवादी समाजवाद है। अत: हम देखते है कि शैली की दृष्टि से, दार्शनिक आधार पर, अथवा समाज-कल्पना के रूप में, प्रेमचन्दजी का साहित्य मार्क्सवादी स्वरूप से नितान्त भिन्न है। अपने आरम्भिक उपन्यासों मे तो प्रेमचन्दजी स्पष्टत: सुधारवादी रहे है। मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था सुधार की भूमि को स्वीकार नही करती। वह क्रान्ति और प्राय: रक्त-क्रान्ति का संदेश सुनाती है। 'गोदान' मे प्रेमचन्दजी की स्थिति उनके अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहां तक भिन्न है, इस पर विचार करना आवश्यक है। 'गोदान' का कथानक ग्रामीण जीवन का कथानक है। उसका नायक एक भारतीय कृषक है। 'गोदान' मे भारतीय ग्राम के अनेकमुखी जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय कृषक के समस्त संस्कारों से युक्त उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का नायक होरी आरम्भ मे अपने घर मे एक गाय रखने को लालायित है। वह किसी प्रकार गाय ले भी आता है। आगे का कथानक होरी के गाय रख सकने के सामर्थ्य की परीक्षा करता है -- वह कृषक उस गाय को रख सकने मे असमर्थ हो जाता है। उसका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है और जब वह मरता है, तब 'गोदान' के लिए न तो उसके पास गाय है, न बछिया और न पैसा। उसकी स्त्री धनिया (बीस आने की सुतली जो आज बेची थी, उसी से) बीस आने का गोदान करा देती है। उपन्यास के इस आरम्भ और उपसंहार मे भारतीय कृषक की दयनीय अवस्था का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, परन्तु समाजवादी रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं।

इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है। यह कार्य समाज-वाद का ही पोषक हो, यह आवश्यक नही। प्रेमचन्दजी ने इस उपन्यास मे कोई मार्ग-निर्देश नही किया है। अपने अन्य उपन्यासो से प्रेमचन्दजी ने आदर्शात्मक चर्चा की है और कुछ उपन्यासों मे तो सामाजिक सुधार करने के लिए किसी संस्था विशेष की स्थापना भी करा दी है। इन उपन्यासो में प्रेमचन्दजी का सुधार सम्बन्धी वाद झलक भी उठता है, पर 'गोदान' में किसी भी वाद की स्पष्ट सूचना नही दी गई है। ऐसी अवस्था मे हम 'गोदान' को न तो समाजवादी कृति कह सकते है और न किसी अन्य वाद से ही उसका सम्बन्ध निर्धारित कर सकते हैं।

मानव आत्मा की ट्रेजेडी : त्यागपत्र

देवराज उपाध्याय

'त्यागपत्र' जैनेन्द्रजी का तीसरा उपन्यास है। आजतक उनके जितने उपन्यास निकले है, उनमे 'त्यागपत्र' का विशिष्ट स्थान रहेगा। 'परख' और 'सुनीता' के पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम एक नवीन औपन्यासिक के सम्पर्क मे आए है—ऐसा औपन्यासिक जो रूढियो का कायल नही है, जिसके पात्र, वातावरण और कथावस्तु अन्य औपन्यासिको से भिन्न है; मानो वह कथा कहकर हमें उलझाए नही रखना चाहता, पर जीवन की गहराई दिखाकर कहना चाहता है कि देखो, यह जीवन कितना सरल, स्वच्छ तथा साथ ही कितना गम्भीर और रहस्यमय है। पर, 'परख' और 'सुनीता' तक लेखक से कथा का मोह नही छूट पाया है। जहाँ तक कथा का सम्बन्ध है, 'परख' मे मामूली-सी कथा है, जिसको थोड़े-से उलटफेर के साथ बहुत-से लेखको ने कहा है। हिन्दी-कथा-साहित्य के सम्बन्ध मे एक दोष बतलाया जाता है कि हिन्दी के कहानीकारो की दृष्टि स्त्री-पुरुष के प्रणय-सम्बन्ध के सिवा कही जाती ही नही। विज्ञान के हैरत-अंगेज आविष्कारो ने हमारे सामने कितना बडा रहस्यागार उपस्थित किया है, जिन्हे हम साहित्य में स्थान देकर उसे समृद्ध कर सकते है; पर हमारे लेखक उसी पुरानी आशिकी और माशूक़ी के चक्कर मे पड़े हुए है। यद्यपि 'परख' के पढने से हम इतना अवश्य अनुभव करते है कि हम है तो इसी दुनिया मे, इसी पृथ्वी पर, परन्तु यहाँ के निवासियों के स्वभाव मे कुछ-कुछ भिन्नता आ गई है। बोतल तो वही पुरानी है, पर उसमे जो शराब है वह दूसरी है, नही, अवश्य वह पहलेवाली से अधिक चड़चड़ाहट लिए हुए है।

'सुनीता' मे जैनेन्द्र की विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो चली है। इस उपन्यास का सारा कलेवर एक रहस्यमय वातावरण से ओतप्रोत है। पात्रो के क्रियाकलाप को देखने से पता चलता है कि वे इतने ही नही, जितने कि देखने मे मालूम पड़ते है; वे अपने व्यवहार और वाणी से कही गूढ और ऊँचे है। फिर भी कथा की एक पतली डोर अवश्य है जो अथ से इति तक उपन्यास की एकता को बनाए रखती है, हालाँकि इतना अवश्य है कि कथासूत्र से होकर जीवन की आन्तरिकता ही अधिक उभरी हुई मालूम पड़ती है।

पर 'त्यागपत्र' मे आकर लेखक का मार्ग स्पष्ट हो गया है। कथक्कड़ी प्रवृत्ति

से उसका नाता टूट चुका है। कथा को वह गौण वस्तु समझने लगा है और जीवन के प्रति सच्चे दृष्टिकोण को प्रधानता देने लगा है। उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख हो उठी है। आज की सारी व्यवस्था और संगठन के मूल में कुछ गड़बड़ी पैदा हो गई है, जिसके कारण मनुष्य अपने स्वाभाविक विकास की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकता। विधि और निषेध की दवाओं ने हमारे अन्दर एक ऐसा मानसिक शैथिल्य पैदा कर दिया है कि हम स्वच्छन्दतापूर्वक समस्याओं पर विचार भी नहीं कर सकते। 'त्यागपत्र' के लेखक की यह घोषणा है कि जरा आँखें खोलकर देखो, इस तरह से आँखें मूँदकर चलने से तुम अपनी ही जड़ में कुल्हाड़ा मार रहे हो।

'त्यागपत्र' दो विपरीत विचारधाराओं का सजीव चित्रण है। प्रमोद सभ्यता, संस्कृति की बनी-बनाई दुनिया की व्यवस्था में विश्वास करने वाला व्यक्ति है। जीवन की ओर देखने के लिए और उसके मूल्यांकन के लिए उसके पास एक माप-दण्ड है, जिसके सहारे वह हरएक चीज की कीमत पहचानता है। उसके जीवन में स्थिरता है, उसके संसार में सारे आदर्श स्थिर हैं।

मृणाल इन सब बातों से भिन्न है। उसका निर्माण लेखक ने दूसरे प्रकार के उपकरणों से किया है। उसके सोचने-विचारने का ढंग प्रमोद से भिन्न है। उसे दूसरों के बताए मार्ग पर हरा चश्मा लगाकर संसार को रंगीन देख लेने भर से सन्तोष नहीं। वह स्वयं अपना पथ निर्माण करेगी, उसे अपनी ही आँखों से देखेगी, और उसे अपने ही पैरों चलकर, बैसाखी लगाकर नहीं, तय करेगी। मानवता का मौलिक आधार ही उसका एकमात्र सम्बल रहेगा। उसे आँखें खोलकर देखने से बढ़कर आँखें मीचकर देखना अधिक पसन्द है। वह बीसवीं सदी की एक जागृत महिला है। जागृत से अर्थ स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त करना नहीं, पग-पग पर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करनेवाली या लिपस्टिक, पाउडर और नेल-पालिश को ही सर्वस्व समझने वाली महिला से नहीं। उसकी शिक्षा कुछ अधिक नहीं। फैशन नाम की चीज उसके पास से होकर गुजरी तक नहीं है। पर जन्म से ही मानो वह अपने हृदय में मनस्विता लेकर पैदा हुई है। दूसरी ओर है वही प्रमोद, जिसकी विशेषताओं का ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। इन दोनों के पारस्परिक मानसिक संघर्ष, एक पर दूसरे की प्रतिक्रियाओं, उनके हृदय की अन्त-र्व्यथाओं तथा पीड़ा के सजीव चित्र ही 'त्यागपत्र' की आत्मा है।

हमारे पूर्वजों में शुतुर्मुर्गी ग्रंथि (Concealment Complex) थी। वे अप्रिय बातों पर पर्दा डालकर चलना चाहते थे, मानो उनके तिरस्कार-मात्र से, उनके आँखें बन्द कर लेने भर से, उनकी हस्ती भी मिट जाती है। प्रेमचंद तक साहित्य में यही प्रवृत्ति काम कर रही थी। मानव को उसके स्वस्थ, नग्न और निरावरण रूप में देखने का साहस हममें नहीं था। 'त्यागपत्र' ने इस ओर सर्वप्रथम पैर बढ़ाया है। निस्सन्देह 'त्यागपत्र' हिन्दी-उपन्यास-जगत् में पथ-चिह्न है।

'त्यागपत्र' एक ट्रैजेडी है—वज्रहृदय को भी हिला देने वाली ट्रैजेडी। मृणाल की नियति की कुटिलता को जरा देखिए। ट्रैजेडी उसके अनाथ होने में

नहीं, उसके जीवन में रोटियों के लाले पड़ने में नहीं, उसके तिल-तिलकर मरने में नहीं, बल्कि पति के प्रति समर्पित होकर जीवन व्यतीत करने के कारण पति की उपेक्षिता हो नारकीय जीवन को स्वीकार कर लेने पर बाध्य होने में है। परिस्थितियों के नीचे दबकर कब्र में चला जाना तो कुछ नहीं; पर परिस्थिति के चक्कर में पड़कर, एक सती-साध्वी स्त्री का अपवित्र वेश्या-जीवन की भयंकर यन्त्रणा को स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना—यह आत्मा की ट्रैजेडी है। टॉमस हार्डी के उपन्यासों का एक प्रसिद्ध आलोचक 'टेस' के बारे में कहता है, "To be cursed to death by lead or grief is nothing, for a 'pure woman' to be cursed into impurity then is a soul's tragedy that has no equal in horror." ये पंक्तियाँ शत-प्रतिशत मृणाल के सम्बन्ध में लागू हो सकती है। सचमुच 'त्यागपत्र' मानव-आत्मा की एक बहुत बड़ी ट्रैजेडी है।

मैंने 'त्यागपत्र' को हिन्दी-उपन्यासों के इतिहास में एक सीमा-चिह्न कहा है। मतलब यह कि प्रत्येक दृष्टि से, चाहे उपन्यास की मौलिक प्रेरणा में, चाहे उसकी अभिव्यक्ति के ढंग में, जैनेन्द्र एक नूतन दिशा की ओर अग्रसर होते हुए दृष्टि-गोचर होते है।

'त्यागपत्र' में दर्शनीय बात यह है कि यह पुस्तक 'प्रथम पुरुष' में लिखी गई है। प्रमोद, जो आगे चलकर न्यायाधीश के पद पर आसीन होता है, उपन्यास का पात्र है। कथा के स्वरूप-संगठन में भी उसका हाथ है और उसी की आत्मकहानी के रूप में वह लिखी गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कारण पुस्तक में अधिक सजीवता आ गई है। दूसरी बात यह कि पुस्तक को जज साहब की डायरी से ज्यों-का-त्यों उद्धृत बताकर इस कथा को अधिक यथार्थवादी बनाने का प्रयत्न किया गया है। ये दो तरीके—अर्थात् पुस्तक को प्रथम पुरुषात्मक बनाना और इसे एक जज साहब की डायरी से उद्धृत बताना, है तो बहुत ही साधारण, पर इनकी वजह से उपन्यास हमारे हृदय के बहुत समीप आ गया है। जीवन बहुत ही गूढ़ है। मनुष्य के सारे कार्य-व्यापार और व्यवहार उसके रहस्योद्घाटन के लिए होते है। चाहे संगीत के द्वारा ताल और स्वर से समझें या ज्यामिति की रेखाओं के द्वारा, दर्शन के बड़े-बड़े सिद्धातो के अध्ययन से, चाहे उपन्यासो की कथाओ के द्वारा। पर सबके मूल में यही प्रवृत्ति काम कर रही है। हम उपन्यास द्वारा भी जीवन के इसी सत्य को पाना चाहते है। पर जहाँ औरो का सत्य अधिक गरिष्ठ होता है, उसे पा लेना कष्टसाध्य होता है, वहाँ उपन्यास उसी को अधिक सरस, सुपाच्य और ग्राह्य बनाकर हमारे सामने रखता है और हमारे हृदय में एक नूतन संस्कार सहज ही उत्पन्न कर जाता है। औपन्यासिक का कर्तव्य है कि वह उपन्यास को सहज और ग्राह्य बनाने में सहायक परिस्थितियो की कुशल आयोजना करे। जैनेन्द्र इस ओर सचेत और सचेष्ट दिखाई पड़ते है।

हिन्दी में एक और उपन्यास है जिसमें पाप और पुण्य के असली स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है—वह है भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा'।

निस्सन्देह वह भी एक क्रान्तिकारी और बड़ा ही जोरदार उपन्यास है। पर एक तो उसमें वही पुराना वर्णनात्मक प्रेमचन्दी ढंग है। दूसरी बात यह है और इससे ही मेरा मतलब यहाँ पर है कि इसमें वह स्वाभाविकता नही, सहजता नही जो 'त्यागपत्र' में है। जहाँ 'चित्रलेखा' गूढ़ है, गरिष्ठ है और प्रयत्नसाध्य है, वहाँ 'त्यागपत्र' सरल है, सहज है, बोधगम्य है और हार्दिकता से ओतप्रोत है। उसे पढने से कही ऐसा प्रतीत नही होता कि लेखक हमारे अनिच्छुक मस्तिष्क में पाप-पुण्य-सम्बन्धी व्याख्या उतारना चाहता है। 'त्यागपत्र' पढकर हमारी जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं की नीव हिल जाती है, हममें एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण पैदा होता है; पर नन्दन-निकुंज के करील की तरह लेखक का रूक्ष व्यक्तित्व, उसकी प्रयत्नसाध्यता हमारी आँखो से ओझल ही रहती है। यही 'त्यागपत्र' की श्रेष्ठता है। कहने की आवश्यकता नही कि जो लेखक अपनी रचनाओं मे अपने व्यक्तित्व को जहाँ तक छिपाए रखता है, उसी हद तक वह श्रेष्ठ कलाकार है। परमात्मा की नानारूपधारिणी प्रकृति मे तो हम प्रकृति को ही अपने सामने पाते है, स्वयं वह तो छिपा ही रहता है न!

जैनेन्द्र का विचार करने का ढंग संश्लेषणात्मक है, विश्लेषणात्मक नहीं। वे किसी समस्या पर विचार करते समय उसे परिपार्श्विक स्थिति से तोड़कर देखना नहीं चाहते, उसे जीवन के प्रवाह के गतिमान रूप मे ही देखते है। यही कारण है कि आज के युग में, जबकि मनोविश्लेषणवादियों की तूती बोल रही है, साहित्य मे, विज्ञान मे, जहाँ भी देखिए, वहाँ ही उनका दबदबा है। जैनेन्द्र अपनेको उनसे अलग पाते है। यह भी क्या है कि प्याज के छिलके की तरह जीवन की तहें-पर-तहे उघारते चले जाओ, पर अन्त में हाथ लगे कुछ नहीं। माना कि अर्द्धचेतन और अवचेतन का हमारे जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है, हमारे कार्य-कलाप के मूल मे उन्ही की प्रेरणा काम करती है; पर वह हमारे किस काम का जिसके द्वारा हमे जीवन में समाधान देने वाली अन्दरूनी ताकत पैदा नही होती? हम अपने अन्दर एक ऐसी शक्ति का अनुभव नहीं कर पाते जिसको पाकर एक-एक गेंद पत्थर पर पटका जाकर भी उछलता-कूदता रहता है। वह शक्ति हमारे अन्दर जब तक पैदा नही होती, सारे सिद्धांत और वाद व्यर्थ की बकवास है। यह कहने की आवश्यकता नही कि अब तक जितने सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है, वादों का आविष्कार हुआ है, उनसे जीवन-प्रवाह को एक तंग नाली में प्रवाहित कर देखने का प्रयत्न किया गया है, उनके सततप्रवहमान निर्झर रूप को देखने की कम चेष्टा हुई है। यही कारण है कि जैनेन्द्रजी को हम किसी वाद के पक्ष मे नहीं पाते। आधुनिक युग के 'प्रगतिवादी', जो रोटी और पेट को ही जीवन का परम तत्त्व समझे बैठे हैं, उनसे भी जैनेन्द्र अलग ही श्रेणी में आते हैं।

जैनेन्द्र को सच्चे और वास्तविक अर्थ में युद्धोत्तरकालीन लेखक कहा जा सकता है। अतएव यूरोप के युद्धोत्तरकालीन लेखकों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में मिलें तो यह स्वाभाविक ही है।

आधुनिक, अर्थात् युद्धोत्तरकालीन, यूरोपीय साहित्य मे दो प्रवृत्तियाँ काम करती हुई दिखलाई पड़ती है—(१) बुद्धिवाद, और (२) प्रवृत्तिवाद। बुद्धिवादी विचारक अपनी बुद्धि के द्वारा जीवन की समस्याओ पर विचार करता है, उनका विश्लेषण करता है तथा तटस्थता से अपने निर्णय मे भावनाओं तथा रूढिमूलक भावो को हस्तक्षेप नही करने देता।

'परख' जैसे उपन्यास के लेखक कट्टो और बिहारी के आध्यत्मिक विवाह के स्रष्टा जैनेन्द्र से हम बुद्धिवादी साहित्य के प्रणयन की आशा नही कर सकते। यदि लेखक का दृष्टिकोण बुद्धिवादी होता और वह बुद्धि के सहारे ही जीवन-लाभ और हानि, सुख और दुख के terms मे जीवन-यापन को मुख्यतया समझता होता, तो क्या 'त्यागपत्र' की मृणाल को तिल-तिलकर उस सड़ाध मे प्राण-त्याग करने की नौबत आती? उसका भतीजा जज था, साधन सम्पन्न था, समाज मे प्रतिष्ठित था, लेकिन फिर भी मृणाल उसके नियत्रण पर समाज मे जाकर प्रतिष्टित जीवन व्यतीत करना नही चाहती। क्या यह उसकी बुद्धिवादिता है? यदि कल्याणी या हरिप्रसन्न अपनी बुद्धि का थोडा-सा भी आश्रय लेते तो उनके जीवन मे इतनी विडम्बना होती? अतएव जैनेन्द्र तो बुद्धिवादी साहित्यिक मे आ ही नही सकते।

दूसरी बात आती है प्रवृत्तिवादियो की। प्रवृत्तिवादी बुद्धि को महत्त्व नही देता। उनका कहना है कि हमारी कुछ ऐसी मौलिक प्रवृत्तियाँ होती है जिनका शायद हमे भी पता न होता। उनके ही सहारे, उनके ही इगित पर जीवन व्यतीत करने पर ही हम सफल हो सकते है। यदि हमने उन्हे समाज के विधि और निषेधो से डरकर दबाने की कोशिश की तो वे दबेगी तो क्या, अचेतन और अर्धचेतन मस्तिष्क मे जा दुबकेंगी और मौका मिलने पर इतने आवेग के साथ आक्रमण करेंगी कि हमारे सारे जीवन की शृंखला टूटती दिखलाई पड़ने लगेगी। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों मे, प्रधानत: 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी को देखकर हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र को प्रवृत्तिवादी साहित्यकारों की श्रेणी मे रखा है। बात बाह्य दृष्टि से देखने पर ठीक-सी भी प्रतीत होती है। मृणाल अपने पति को छोड़कर कोयलेवाले के साथ रहने लगती है; उस स्थान को छोडकर फिर अपने समाज मे, अपने भतीजे की प्रार्थना पर भी, नही आना चाहती। इस बात को देखकर और क्या कहा जाय कि वह एक 'प्रवृत्तियो (Sex instincts) पर नाचने वाले बन्दर' से कुछ अधिक नही है।

जैनेन्द्र के सम्बन्ध मे, डी० एच० लारेंस की तरह ही कहा गया है कि वे प्रवृत्तिवादी हे, जीवन में instincts (प्रवृत्तियो) का उनके यहाँ बहुत ही बडा महत्त्व है। कहा जाता है कि जैनेन्द्र की दृष्टि बहुधा जीवन के उन्हीं कोनो की ओर जाती हे, जो दुर्गन्धयुक्त है, जहाँ कूड़ा करकट-भरा पडा है, और वे वहीं से सामग्री जुटाकर अपने साहित्य की रचना करते है, जिससे समाज मे विशृंखलता पैदा होने की सम्भावना रहती हे। पर बात कुछ दूसरी ही है। जैनेन्द्र मानव की प्रवृत्तियो में विश्वास तो करते है, पर विशेषत: उसकी Divine Instincts में।

मानव प्राणी तो है, पर एक विशिष्ट प्राणी है। इस विशिष्टता के कारण ही उसमें मनुष्यता का समावेश है। इसी विशिष्टता की चिनगारी अहर्निश उसके अन्दर जलती रहती है। यह बात दूसरी है कि वह एक क्षण बाहरी राख के नीचे दुबकी पड़ी रहे; पर अवसर पाते ही वह अपनी झलक से मानव हृदय को उद्भासित कर ही देती है। मृणाल के चरित्र की, उसकी मनस्विता को ही लेकर, अधिकतर जैनेन्द्र को प्रवृत्तिवादियों की श्रेणी में रखा जाता है। मृणाल एक मनस्विनी युवती है। वह अपने पति को छोडकर जाने के लिए तैयार नही है। ऊपर से देखने पर हम एक क्षण उस पर कठिन भले ही हो लें, पर उस मूल प्रेरणा की, जो उसके अन्तस् में बैठकर उसकी कुंजी घुमा रही है, झलक पा लेने पर कौन उसके प्रति श्रद्धावनत नही हो जाता ? वह जानती है कि जिस कोयलेवाले के साथ वह रह रही है, उसका बहुत दिनों तक साथ नही देगा। यह उसे अब धीरे-धीरे मालूम हो रहा है। मालूम क्या, वह तो प्रारम्भ से ही जानती थी कि अब उसका नशा धीरे-धीरे उतर रहा है और वह अब उसे छोड़ देगा। इतना जानते हुए भी वह उसका साथ छोडने को तैयार नही। यह उसके लिए भोग की बात नही, त्याग की बात है और त्याग की महत्ता के सामने हमारे तथाकथित त्याग का रंग फीका पड़ जाता है।

बंगाली औपन्यासिको मे शरत् बाबू ही एक ऐसे है जो बहुत अंशों मे जैनेन्द्र से मिलते-जुलते हैं और जिन्होंने जैनेन्द्र को प्रभावित भी किया है। विशेषत. 'शेष प्रश्न' की कमल और 'त्यागपत्र' की मृणाल के कण्ठ-स्वर तो एक ही संवादी दिखलाई पडते है। शरत् बाबू की नायिकाओं के हृदय में समाज के प्रति विद्रोह की भावना प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है, वे उन रूढ़ि-बन्धनों को एक झटके से तोड़ देती हैं, समाज को ललकारती है। राजलक्ष्मी एक वेश्या है, सावित्री ही कौन बड़ी दूध की धुली हुई है, कमल तो पति को छोड़ ही देती है, पर इतना होते हुए भी कुछ बातों मे बडी कट्टर है। वे पूजा करती है, पाठ करती है, बडी सादगी से जीवन व्यतीत करती है, कट्टर से कट्टर दिखलाई पडती है। इसका कारण क्या है ? उत्तर मे कहा जाता है कि शरत् बाबू का उद्देश्य यह दिखलाना था कि सब-कुछ होते हुए भी उनकी मौलिकपवित्रता नष्ट नही हुई थी, उनकी आत्मा अकलुष थी। पर जैनेन्द्र की नायिकाएँ तो उतनी भी कट्टरता नही दिखलाती। उनके हृदय की झाँकी देनेवाली उतनी-सी छोटी खिड़की की सृष्टि भी जैनेन्द्र ने नहीं की है। कारण कि उनका सिद्धात है मनुष्य को एक ही बल प्राप्त है और वह है आत्मिक बल। वह जिसको प्राप्त है उसके लिए किसी बाहरी सहारे की जरूरत नही। मृणाल मे जो वास्तविक पवित्रता है जिसके सामने 'जज साहब' भी अपने को तुच्छ समझते है। उसको दिखलाने के लिए किसी बाहरी उपादान की आवश्यकता है ? वह तो स्वत: प्रकाशमान है, सूरज की तरह दूसरों को प्रकाशित करने के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है।

सहज सम्बन्धों की काल्पनिक रेखाएँ : चित्रलेखा

गोविन्दलाल छाबड़ा

'''और फिर लेखक की पूर्व-नियोजित योजना के अनुसार गुरु महाप्रभु रत्नाम्बर के दोनों शिष्य—श्वेताक और विशालदेव—एक ही नगर पाटलिपुत्र में क्रमशः सामंत बीजगुप्त और योगी कुमारगिरि के पास रहकर पाप और पुण्य जैसी विकट समस्या के समाधान के लिए, जिसे गुरु कठिन परिश्रम और अनुभव के बाद भी हल करने में असमर्थ रहे, चल दिए। 'चित्रलेखा' की 'उपक्रमणिका' इस समस्या का प्रस्तुतीकरण है और 'उपसंहार' लेखक का मनमाना और पाठको का अनचाहा समाधान। प्रश्न उठता है कि क्या आलोच्य उपन्यास की रचना का उद्देश्य बस पाप-पुण्य की समस्या ही है ? उत्तर स्पष्टत. नकारात्मक है। पाप-पुण्य सम्बन्धी समस्या का विश्लेषण उपन्यास का एक पक्ष है। कृति की सफलता का रहस्य उसके दूसरे कलात्मक पक्ष में निहित है। अतः यहाँ उक्त दोनो पक्षो का विश्लेषण अनिवार्य है।

'चित्रलेखा' को पाप-पुण्य का विश्लेषण करने वाली कथा मानने पर आलोचक का मन सिहर उठता है, क्योंकि उसमे भारतीय दार्शनिक और धार्मिक विचारधारा को झुठलाया गया है। परिस्थितियो और नियति के वात्याचक्र मे पात्रों के प्रारम्भिक व्यक्तित्व को झुलसा दिया गया है। दो त्रिकोणात्मक कथाओं के माध्यम से नये भ्रामक दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति हुई है। 'चित्रलेखा' के सभी प्रमुख पात्र हमारे उक्त मत की पुष्टि करते है। प्रारम्भ का इन्द्रियजित अलौकिक शक्ति सम्पन्न योगी कुमारगिरि अन्त मे मानव और पशु की कोटि से भी नीचे गिरा हुआ अधम प्राणी प्रमाणित होता है। वह योगी—साधन जिसका सयम था और स्वर्ग लक्ष्य, जो तेज और प्रताप का पुज था, संसार की सम्पूर्ण वासनाओं को जिसने जीत लिया था, जो शारीरिक और आत्मिक बल दोनो से बलिष्ठ था, वही कुमारगिरि अन्त तक आते-आते मक्कार, झूठा, दम्भी, काम-लोलुप और भयंकर षड्यन्त्रकारी प्रमाणित होता है। प्रारम्भ का उसका अनुकरणीय चरित्र, योग और तप-त्याग अन्त मे पशुता, क्रोध और घृणा को जन्म देने वाला सिद्ध करता है। आरम्भ का उसका गर्व और आत्मसम्मान अन्त में अहंकार और कलुष प्रमाणित होते हैं। स्त्री को अन्धकार, मोह, माया और वासना समझने वाला बालब्रह्मचारी बाद मे चित्रलेखा के रूप-पुंज में पागल पतंगे-सा मंडराने लगता है।

कल्पना और शून्य में विचरण करनेवाला योगी माया के वात्याचक्र में पड़कर जीवन की मस्ती और योग के कलुष कुंड मे ऐसा गिरता है कि पुनः उबरने की सम्भावना भी नही रह जाती। वासना को पाप (अतः त्याज्य) समझने वाला योगी वासना का दास बन जाता है। दरबार मे योग-दर्शन के पूर्व का योगी झूठे गर्व और अहंकार मे आकर चित्रलेखा जैसी अपूर्व सुन्दर नर्तकी से प्रतिशोध लेते-लेते अपने आपको पथभ्रष्ट कर बैठता है। दम्भ के मद में भरी सभा मे कह बैठता है—"इस सभा मे कोई भी व्यक्ति मुझे पराजित नही कर सकता और न मुझको दण्ड देने का कोई व्यक्ति साहस ही कर सकता है।" और भी—"नहीं, पराजय असम्भव है। मैं पराजित हो ही नही सकता। क्या मेरी साधना का अन्त पराजय होगा? कभी नही, कभी नही!" और उसका यह दम्भ ही उसके पतन का प्रथम सोपान सिद्ध होता है। उसका यह दम्भ हम तभी चूर-चूर होते देखते है जब वह चित्रलेखा के सौन्दर्य की आभा मे अपने को गलाने लगता है। वह अतृप्त शराबी की भाँति नर्तकी को देखकर संज्ञाहीन-सा हो जाता है। उसकी सोयी हुई वासना भंयकर विषधर बन उसे डसने लगती है। और अन्त में अपनी साधना, अपने योग, अपने ज्ञान, अपने चरित्र—सबका होम कर बैठता है।

'चित्रलेखा' इस उपन्यास का केन्द्रबिन्दु है। यद्यपि चित्रलेखाकार ने इस अनिन्द्य सुन्दरी को नर्तकी के रूप मे सम्बोधित किया है किन्तु हमारे विचार मे वह वेश्या—हाँ वेश्या ही, सभवत. संभ्रान्त वेश्यासे कम नही। एक प्रेमी के रहते हुए दूसरे के प्रति उसका तीव्राकर्षण हमारे उक्त मत की पुष्टि के लिए यथेष्ट है। वह विचारों से ही नही, आचरण से भी वेश्या है। उसकी वासना सदा अतृप्त बनी रहती है। उन्माद, मस्ती और वासना को जीवन का सार-सर्वस्व समझने वाली यह प्रमदा बीजगुप्त के जीवन पर धूमकेतु-सी छा जाती है। उपन्यास के प्रथम परिच्छेद मे ही हम उसे जीवन की मस्ती और यौवन के मादकतापूर्ण उल्लास-विलास में किल्लोलें मारते हुए देखते है। विधवा का संयम उसने किया अवश्य था किन्तु कृष्णादित्य के सम्पर्क से वह पथभ्रष्ट हो गई थी। उसकी मृत्यु के उपरान्त पुनः उसने संयम का मार्ग अपनाया था किन्तु बीजगुप्त के वैभव और सौन्दर्य से पराजित होकर पदच्युत हो गई। नियति का विधान और वासना-प्यास-तृप्ति-मार्ग को श्रेयस्कर समझकर वह उस पर बेतहाशा दौड़ पड़ी। संयम-नियम की राह पर चलना अब उसे अपमानजनक और अतार्किक लगने लगा। स्वाभिमानिनी और बुद्धिमती यह असाधारण नर्तकी कुमारगिरि जैसे महात्मा को पहली ही भेंट में अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल होती है। योगी पर उसका मर्मान्तक प्रभाव पड़ता है। अपनी प्रत्युत्पन्न मति, अपने चातुर्य, अपनी सुन्दरता, अपने गर्व और अहं से वह कुमारगिरि को प्रभावित करती है। "प्रकाश पर लुब्ध पतिंगे को अंधकार का प्रणाम है"...कहकर वह योगी को अपनी बुद्धिमत्ता, शक्ति और सौंदर्य का एहसास करवाती है। उसका अपूर्व सौंदर्य कुमारगिरि के जीवन में उन्माद की भंयकर झंझा उत्पन्न कर देता है। योगी को अपनी तर्कना-शक्ति से अभिभूत

करते हुए वह एक स्थान पर कहती है—' योगी, तपस्या जीवन की भूल है, यह मै तुम्हें बतलाए देती हूँ, तपस्या की वास्तविकता है आत्मा का हनन।" और वास्तव में ही योगी तपस्या को आत्मा का हनन और एकांतवास को भ्रामक समझने लगता है। ऐसा है उस नर्तकी के आकर्षण का प्रभाव। उसके ऐसे ही प्रवृत्ति-प्रधान विकृत दार्शनिक सिद्धान्त योगी को विचलित करने लगते है। इन्ही ऊल-जलूल तर्कों से वह कुमारगिरि जैसे एकांत साधक को तो अपनी ओर आकृष्ट करती ही है, दर्शन-स्मृतियों के ज्ञाता, व्याकरण के पंडित, अनुभवहीन पचीसवर्षीय युवक श्वेतांक को भी प्रेम के भ्रम मे डाल देती है। "जिस समय चित्रलेखा की अधखुली मस्त आँखें श्वेतांक की आँखों से मिल जाती थी, उस समय श्वेतांक पागल की भाँति झूमने लगता था, श्वेतांक तो अभी अनुभवहीन बच्चा था।" योगी तक उसके मादक सौन्दर्य से पथभ्रष्ट हो गया। यह ठीक है कि वह योगी को ठगने चली थी, किन्तु उसे ठगते-ठगते स्वयं ठगी गई। कामलोलुपता और बदले की भावना ने उसे प्रवंचिनी और धूर्त बना दिया। वह अपने उदात्त, निर्मल, पवित्र प्रेम को त्यागकर क्रमश. पतित, पतितर और पतिततम होती गई। आरम्भ की 'परम पवित्र नर्तकी' अन्त में विश्वासघातिनी, रूप-लोलुपा, विलासिनी और वेश्या बन गई। असंयमित भोग-विलास उसके जीवन के लिए प्राणघातक विष प्रमाणित हुआ। निराशा, दु.ख और बदले की भावना से पीड़ित होकर उसने कुमारगिरि को अपना शरीर समर्पित कर दिया। सम्हली वह तब, जब उसका सब कुछ लुट गया। सच्चाई को जानने पर वह चोटखायी सर्पिणी के समान कुमार-गिरि पर फुंकार उठी, "वासना के कीड़े ! तुम मुझसे झूठ बोले। तुम्हारी तपस्या विफल हो जायगी और तुम्हे युगों-युगो नरक मे जलना पड़ेगा।" आत्मग्लानि एवं भयंकर आक्रोश से पीड़ित वह अपने घर मे तो लौट आयी, किन्तु बीजगुप्त से साक्षात्कार का आत्मिक बल उसमे न रहा। हाँ, बीजगुप्त की देवत्व वृत्ति अवश्य उसे उबारने मे सहायक सिद्ध होती है। बीजगुप्त से क्षमा का दान पाकर सम्पूर्ण सम्पत्ति का त्याग कर वह उस देव-मनुष्य के साथ हो लेती है। मै यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपन्यास के प्रथम परिच्छेद मे बीजगुप्त-चित्रलेखा के प्राथमिक चुम्बन, आलिंगन, परिरम्भन और अन्त के चुम्बन मे महान् अन्तर है। प्रारम्भ मे वे यौवन की मस्ती और मदिरा की मादकता मे डूबे है और अन्त मे वे सच्चे आत्मीय एवं तन्मयता से पूर्ण है।

पचीसवर्षीय हृष्ट-पुष्ट युवक बीजगुप्त 'चित्रलेखा' के सेक्स-त्रिकोण का तृतीय बिन्दु है। उन्मुक्त भोग-विलास में विश्वास रखने वाला यह सुदर्शन युवक मौर्य-साम्राज्य का वैभवशाली और प्रभावशाली सामन्त है। उसकी विशाल अट्टालिकाओ मे भोग-विलास नाचा करते है, रत्नजटित मदिरा के पात्रो मे ही उसके जीवन का सारा सुख है। वैभव और उल्लास की तरंगो मे वह केलि करता है। ऐश्वर्य की उसके पास कमी नही है। उसमे सौन्दर्य है और उसके हृदय मे संसार की समस्त वासनाओ का निवास। पाटलिपुत्र की अनिन्द्य सुन्दरी नर्तकी

चित्रलेखा को वह अपने विशिष्ट आचरण और व्यक्तित्व से पराभूत करता है। नर्तकी के व्यक्ति-प्रधान विचारों के उत्तर में वह एक स्थान पर कहता है''' "व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जब व्यक्ति वर्जित है तो उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है।" और अपने इसी विशिष्ट व्यक्तित्व को वह अन्त तक सुरक्षित रखता है। उसका यही व्यक्तित्व चित्रलेखा को आकृष्ट करता है। चित्रलेखा से वह पत्नी के समान व्यवहार करता है। समाज की मान्यताओं के विपरीत आचरण कर वह अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ देता है। वह जो बाहर है वही अन्दर है। अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को वह छिपाता नहीं। यद्यपि विलासी व्यक्ति धर्मभीरु और समाजभीरु होता है किन्तु बीजगुप्त में नैतिक साहस और स्पष्टवादिता, आत्म-विश्वास और मधुर संभाषण, त्याग और उदारता जैसी विशेषताएँ है जो उसे क्रमशः मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाती है। चित्रलेखा की अनुपस्थिति मे वह एक बार विचलित अवश्य होता है किन्तु उसकी मेधा, एव तटस्थता उसे अपने पथ से भ्रष्ट होने से बचा लेती है। आत्म-मथन कर वह यशोधरा को श्वेताक के लिए छोड़ देता है। अपने वैभव और मान का त्याग कर वह मनुष्यत्व देवत्व की ओर अग्रसर होता है। मृत्युंजय उसके इस महान् त्याग और विशिष्ट व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहते है—"आर्य बीज-गुप्त! मैने ससार को देखा है। मै कहता हूँ, आप मनुष्य नही देवता है।" सुख से उद्वेलित हो बीजगुप्त का हाथ अपने हाथ मे लेकर सम्राट चन्द्रगुप्त कहते है—"बीजगुप्त, तुम एक महान् आत्मा हो, तुमने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। तुम मनुष्य नही हो देवता हो। आज भारतवर्ष का सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तुम्हारे सामने मस्तक नवाता है।" महाप्रभु रत्नाम्बर द्वारा पूछने पर श्वेताक कहता है—"बीजगुप्त देवता है। ससार मे त्याग की वह प्रतिमूर्ति है। उनका हृदय विशाल है।"

बीजगुप्त का जीवन वासना एवं संयम का अद्भुत सम्मिश्रण है। वह उन्मादी होकर चित्रलेखा की वासना मे डूबा अवश्य है, उसके जीवन मे मनुष्योचित ईर्ष्या-प्रवृत्ति भी जागी है, किन्तु न तो उसने भोग में संयम का पल्ला छोड़ा है और न ही ईर्ष्या से जीवन को कलुषित-कलंकित किया है। घातक परिणामजन्य विलास और विराग की अतिशयता से वह परिचित है। विलास मे भी वह मानवता को नही खोता और योगी बनकर भी अहंकारी और दम्भी नही बन पाता। सम्भवतः बीजगुप्त की इन्ही महानताओ से प्रभावित होकर श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—"कुमारगिरि की अपेक्षा बीजगुप्त मे अधिक मानवता है और इसलिए जिस तत्व की उपलब्धि कुमारगिरि को कठिन साधनो से न हो सकी थी, उसे बीजगुप्त ने हृदय की साधना से उपलब्ध कर लिया था। उसका हृदय इतना विशाल था, उसमें इतनी उदारता थी कि वैभव के रस मे डूबे रहने पर भी कमल-पत्र के समान वह अछूता था। जिस विलासिता मे वह जीवन-भर आकण्ठ डूबा रहा, समय आने पर उसे बिलकुल ही त्याग देने में उसे तनिक भी हिचकि-चाहट न हुई। भोग करते हुए भी वह भोगों में बँधा नही है।" बीजगुप्त का जीवन

वास्तव में भोग और योग का सुखद सम्मिश्रण है—उसका जीवन आज के युवकों के लिए अनुकरणीय है।

'चित्रलेखा' में बीजगुप्त, चित्रलेखा, कुमारगिरि के त्रिकोण के अतिरिक्त एक अन्य प्रेम-त्रिकोण—श्वेताक यशोधरा-बीजगुप्त'''भी है। किन्तु वह गौण है। यशोधरा की सृष्टि बीजगुप्त की प्रेम-परीक्षा के निमित्त की गई है जिसमे वह सफल होता है। श्वेताक के लाघव से बीजगुप्त द्वारा सर्वदान कराकर लेखक ने बीजगुप्त को और ऊपर उठाया है।

'चित्रलेखा' के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस चरित्र-प्रधान उपन्यास के प्रमुख पात्र वस्तुतः वे नहीं है, जो वे है। आरम्भ का बीजगुप्त मानव है और अन्त का देवता; आरम्भ का योगी कुमारगिरि अन्त मे पिशाच बन गया है। आरम्भ की चित्रलेखा सभ्रान्त नर्तकी है, अन्त की घृणित कलुषित (और पुनः सती-साध्वी) पात्री।

अब प्रश्न उठता है कि क्या उक्त दो प्रेमी त्रिकोणो से पाप-पुण्य की समस्या का समाधान हुआ है? महाप्रभु का यह अन्तिम समाधान द्रष्टव्य है—"संसार मे पाप कुछ भी नही है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मन. प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दोहराता है। यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नही है। वह परिस्थितियो का दास है।'''विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधक है। फिर पुण्य और पाप कैसा? लेखक का स्पष्ट मत है कि संसार मे पाप कुछ भी नही है, केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का प्रतिफलन है। विषम दृष्टिकोण के कारण ही पाप-पुण्य की परिभाषा अलग-अलग है। सुखजन्य पाप-कर्म भी मनुष्य के लिए पाप नही है और दु खजन्य पुण्य त्याज्य एव पाप है। सुख-प्राप्ति की लालसा मानव में सर्वदा रही है। सुख की तुला भिन्न-भिन्न रुचियों के कारण अलग-अलग पदार्थों पर आधृत है। एक यदि उसे मदिरा मे पाता है तो दूसरा व्यभिचार में, कोई योग की लालसा मे ढूँढ़ता है तो कोई संसार के मोह मे। अत. इसी दृष्टिकोण की विषमता के कारण एक का पाप दूसरे के लिए पुण्य है। चूँकि मानव परिस्थितियो का दास है, वह परिस्थितियों से बाध्य होकर यदि विपरीत आचरण करता है, तो लेखक के अनुसार उसके पाप का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति विशेष पर नही है। लेखक ने रत्नाम्बर के मुख से कहलवाया है—"यह मेरा मत है, तुम लोग इससे सहमत हो या न हो तुम्हे बाध्य नही करता और न कर सकता हूँ।" मेरे विचार मे लेखक का पाप-पुण्य सम्बन्धी यह मत अनर्गल, अनुचित और घातक निष्कर्षों से भरा हुआ है।

इसी प्रसंग मे लेखक ने कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भी उठाया है। जीवन का लक्ष्य और उचित तथा श्रेष्ठ जीवन मार्ग आदि प्रमुख प्रश्नो के उत्तर मे लेखक का स्पष्ट मत है कि जीवन का लक्ष्य सुख-शान्ति की प्राप्ति है जिसके लिए भोग और

योग का मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है। प्रथम प्रश्न के समाधान के लिए लेखक ने अनुभूति का सहारा लिया है। अतः प्रश्न के कई उत्तर सामने आते हैं। चित्रलेखा के लिए जीवन का सुख 'मस्ती' है, कुमारगिरि के लिए योग-साधन और विराग ही इस जीवन का लक्ष्य है। श्वेतांक जीवन का लक्ष्य सुख और शान्ति मानता है। बड़ी कुशलता से लेखक ने चित्रलेखा की अतिमस्ती और कुमारगिरि की अतिसाधना का भयानक अन्त दिखाकर बीजगुप्त के जीवन द्वारा मध्यम मार्ग को श्रेयस्कर और सुखद प्रमाणित किया है। निश्चय ही उसने अतिप्रवृत्ति और अतिनिवृत्ति दोनों मार्गों का जोरदार शब्दों मे खंडन किया है। वास्तव मे पाप-पुण्य के माध्यम से वर्माजी ने मानव की अस्वस्थ एव निर्बल प्रवृत्तियो पर प्रहार किया है। कुमारगिरि के माध्यम से निवृत्तिजन्य मार्ग को हेय सिद्ध किया है और बीजगुप्त के चरित्र से जीवन की स्वस्थ प्रवृत्तियो की उपलब्धि और सफलता की ओर इशारा किया है। यशोधरा श्वेतांक के गृहस्थाश्रम-प्रवेश और बीजगुप्त के आशीर्वाद से इस भौतिक धरातल पर जीवन का उन्नयन दिखाया गया है।

लेखक की उक्त पाप-पुण्य सम्बन्धी धारणा आज के स्वतन्त्र विचारशील युवकों के गले से नही उतरती तो फिर क्या यह कह दिया जाए कि उपन्यास— एक साहित्यिक कृति के रूप में—सफल नहीं ? वास्तव में किसी साहित्यिक रचना की सफलता-असफलता की कसौटी उसमें वर्णित विभिन्न समस्याएँ नहीं होती, प्रत्युत कृति की सफलता उसकी कलात्मकता पर आश्रित है। अतः इस उपन्यास की कलात्मक विशेषताओं का विश्लेषण आवश्यक है।

आलोच्य उपन्यास की घटनाएँ और पात्रो की स्वभाव विशेषताएँ ऐसी घुल-मिल गई है कि इन्हे एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता। घटनाओ और पात्रो की यही एकात्मकता उपन्यास के रूप और उसके सौष्ठव को सुन्दरता प्रदान करती है। जीवन के सिद्धातों का जीवन्त पात्रों एवं सरस प्रसगों द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और योग-भोग का कलात्मक संगम उपन्यास की विशेषता है। 'चित्रलेखा' की सफलता का दूसरा रहस्य इसके अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थल है। चित्रलेखा की अनुपस्थिति में बीजगुप्त की मनःस्थिति, यशोधरा की प्राप्ति के लिए श्वेतांक के मन का द्वन्द्व, चित्रलेखा द्वारा प्रताड़ित श्वेतांक की आत्मग्लानि के प्रसंग, कुमारगिरि का क्षोभ और ग्लानिजन्य पश्चात्ताप आदि अन्तर्द्वन्द्व के मर्मस्पर्शी उदाहरण है। इसके अतिरिक्त मध्यरात्रि के समय प्रेमातुर चित्रलेखा और बीजगुप्त के पास रत्नाम्बर का आगमन, मौर्य की भरी सभा में योगी नर्तकी का बौद्धिक तर्क-वितर्क, कुमारगिरि के सम्मुख चित्रलेखा की अनुनयपूर्ण दीक्षा-याचना, योगी और नर्तकी के एकान्तवास में विशालदेव का प्रवेश आदि स्थल नाटकीयता की सृष्टि करते है। उपन्यास की यही नाट्यात्मकता उसकी सफलता का तीसरा कारण है। इस साहित्यिक रचना की सफलता का चौथा कारण उसकी विशिष्ट भाषा-शैली है। यथासमय भावानुकूल ललित कवित्वमय स्थल, दार्शनिक विचारों से भरी बोझिल भरकम सुगठित संक्षिप्त और सांकेतिक

भाषा, वर्णनात्मक स्थलों पर शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली—भाषा के ये सभी रूप उपन्यास की कलात्मकता मे अभिवृद्धि करते है। जीवन की मस्ती, उन्माद और मादकता को कवित्वमय शब्दो द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कोमल भाषा पाठको का मन अनायास ही मोह लेती है। ऐसे कवित्वपूर्ण स्थल अनुभव की वस्तु है, उनकी व्याख्या प्राय: दुष्कर है। विभिन्न भाषा-रूपो के अनुरूप 'चित्रलेखा' के रचयिता ने तर्कप्रधान, कथोपकथनात्मक और वर्णनात्मकशैलियो का प्रयोग कर अपने कौशल का परिचय दिया है। लेखक ने वस्तु के गठन, कसाव, संक्षेप, पात्रों और प्रसगों की कलात्मकता, भाषा-शैली की आवश्यकतानुसार विविधता की ओर जागरूक रहकर एक सफल कलाकार की भाँति कृति को दर्शन-ग्रथ होने से बचाया।

अन्त मे इतना कहना अभीष्ट है कि 'चित्रलेखा' अपने प्रकाशन-काल से लेकर अब तक लाखो हाथों मे गई। इस बहुचर्चित रचना का आलोचक स्पष्ट स्वीकार करता है कि सब मिलाकर यह एक सफल कलाकृति हे। पाठक कृति के विचारों से असहमत होते हुए भी प्रभाव से अपने आपको अलग नही रख सकता, यही इसकी कलात्मकता की कसौटी है, यही इसकी सफलता है।

सर्वग्राही अहं का करुण आलेख :
'शेखर : एक जीवनी'

नगेन्द्र

शेखर' का दूसरा भाग अभी कुछ दिन हुए, तीन-चार वर्ष के अन्तराल के उपरान्त, प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पहले और दूसरे भागों में शेखर सम्पूर्ण नहीं है—अभी कुछ और भी है जो सामने आएगा—और वास्तव मेंतभी हमारादृष्टि-कोण भी निश्चित एवं स्थिर हो सकेगा।—फिर भी तीसरे (और शायद चौथे भी ?—) भाग का अभाव शेखर की गरिमा और सौन्दर्य को ग्रहण करने मे विशेष बाधक नही होता।

शेखर हिन्दी के उन गौरव-ग्रंथों मे से हे जो प्रत्येक जागरूक आलोचक का आह्वान कर कहते है—"आओ, हमारे सहारे अपनी शक्ति की परीक्षा करो।" और सचमुच उसमे इतना कुछ हे जो मन और मस्तिष्क को उद्वेलित करता है कि उसे पढकर मौन हो जाना, अगर वह लेखक की आत्मा से सायुज्य स्थापित कर लेना नही है तो, निश्चय ही साहित्यिक चेतना के दौर्बल्य का द्योतक हे।

शेखर एक शक्ति-पूर्ण व्यक्ति का अपने जीवन का प्रत्यावलोकन है। और चूँकि इस व्यक्ति को शीघ्र ही फाँसी पा जाने का लगभग निश्चय-सा है, इसलिए इस प्रत्यालोकन में एक अनिवार्य तीव्रता आ गई है, जिसके कारण अपने जीवन के आर-पार देख लेना उसे सहज-सम्भव हो गया हे। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, मृत्यु का साक्षात्कार हठयोग की एक सफल क्रिया है जो मनुष्य को प्रायः अन्तर्भेदी दृष्टि प्रदान कर देती है। यह दृष्टि केवल साधन-शक्ति—केवल देखने वाली शक्ति नही होती। इसका एक आत्मरूप भी होता है, जो देखते नहीं दीखता है। उसे ही लेखक ने विजन (vision) कहा है। पहले दो भागों मे इस विजन की झिलमिली ही मिलती है—पूर्व दर्शन शायद तीसरे में होगा—इसलिए हम इसे अभी छोड़ देते है। इसके द्वारा जो देखा गया वही हमारा आलोच्य है। अस्तु !

'शेखर' के पहले भाग में एक संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त मूल्यवान भूमिका दी हुई है। उसके तीन चरण है। पहले मे 'शेखर' के सृजन-क्षणों की व्याख्या है। दूसरे मे हिन्दी के नासमझ पाठक उसे कहीं लेखक की आत्म-जीवनी न समझ बैठें इस बात

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, १९४०, द्वितीय भाग, १९४४, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।

का सतर्क और सप्रमाण—आधुनिक अंग्रेजी साहित्यकार इलियट के साक्ष्य के साथ—प्रतिपेध है। और तीसरे में 'शेखर' के प्लान की ओर संकेत है। इसमे पहला और तीसरा चरण जितना सत्य और सटीक है, दूसरा चरण उतना ही झूठ लगता है—लगता है मैं इसलिए कह रहा हूं कि इससे अधिक समर्थ शब्दावली का प्रयोग कर नही सकता हूं। आप एक बार फिर भूमिका के इस द्वितीय चरण को पढ़िये; और मुझे विश्वास है कि आप भी यह आसानी से पकड पायेंगे कि उसमे एक ऐसा आदमी झूठ बोलने का प्रयत्न कर रहा है जिसे उसका अभ्यास नही है। इसीलिए उसकी तर्क-पद्धति में असगति है। उसके वाक्यो मे उलझन है जैसे कोई सत्य का गला घोट रहा हो और वह छटपटा रहा हो। इलियट के क्लासिकल आदर्श की दुहाई इतने जोर से देने के पूर्व अज्ञेय ने एक बात नही सोची कि रूढ़ि-वादी विचारधारा के कवि इलियट और रूढि को किसी भी रूप मे सत्य न मानने वाले 'शेखर' के स्रष्टा में कम-से-कम जीवन-दर्शन का कोई साम्य नही है। फिर कोई भी व्यक्ति अपने सभी कवचो के बावजूद भी इतना अज्ञेय नही बन सकता कि दूसरे उसके विषय मे सर्वथा अधकार मे ही रहे और अपनी आँखो से न देख-कर जो वह कह दे, उसे मान ले। हमारी यह धारणा है कि 'शेखर' और अज्ञेय मे भोक्ता और कलाकार का अन्तर मानना दोनों के प्रति अन्याय करना है। अतएव हम यह मानकर चलते है कि 'शेखर' अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यालोकन है और उसकी घटनाएँ जीवन के प्रति सच्ची है—जो नही है वे जबर्दस्ती तोड़ी मोड़ी और गढी हुई साफ़ नजर आ जाती है।

'शेखर' के पढ़ने के उपरान्त पाठक के मन पर दो प्रभाव पड़ते है—एक अभि-भूत करनेवाली शक्ति का और दूसरा, गहरी करुणा का। गहरी से मेरा अभिप्राय यह है कि इसकी करुणा सतह पर नही है। अतएव उसमे तुरन्त ही हृदय को काटनेवाली करुणा नही मिलती, दूर पहुँचकर गहरे मे कचोटने वाली करुणा ही मिलती है। परन्तु ये दोनों तत्त्व पृथक् नही है—इनमे पूर्वापर कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट है—अर्थात् यह शक्ति ही अन्त में अपनी एकान्तता मे करुण बन जाती है।

'शेखर' की शक्ति उसके अदम्य अहंकार की शक्ति है जो अभ्रभेदी त्रिशूल की तरह ऊपर को बढ रही है। 'शेखर' की जितनी घटनाएँ है वे जैसे एक माला के मनके है, जिनका सुमेरू है उसका अहं। उसने पाना ही जाना है, देना नही। इस विषय में आप बस उसकी एक उक्ति ही सुन लीजिए—"मुझे मूर्ति उतनी नही चाहिए, मुझे 'मूर्ति-पूजक' चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नही चाहिए जिसकी ओर मैं देखू, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे। यह नही कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए, पर उन्हें मैं स्वय बना सकता हूं। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचता मेरे वश मे है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नही ''।" आरम्भ से ही उसने अहकार को इतने समग्र रूप मे स्वीकृत कर लिया है कि वह अपने सम्पर्क मे आनेवाले सभी व्यक्तियो से उसके पोषण की माँग करता है। पुरुषों से वह आदर माँगता है, स्त्रियो से

प्यार। और वे जैसे-जैसे उसकी इस माग को पूरा करते है उसी के अनुसार उसकी उनके प्रति प्रतिक्रिया होती है। पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य-रूप दिया है, उसका भी एकमात्र कारण यही है कि उनकी अपनी गौरव-भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ उसे अवश्य मिल जाता है जो बड़े अभिमान से उसके अहं को दुलारता है। माँ को उसके प्रति स्नेह नहीं था, यह नही कहा जा सकता। परन्तु वे बेचारी उसकी यह माँग पूरी करने में असमर्थ रही। इसलिए उसने जीवन भर उन्हे क्षमा नही किया। इस विषय में वह इतना निर्मम है कि मा को घृणा का पहला पाठ पढ़ाने का श्रेय भी वह नही दे सकता। उसके जीवन में कई स्त्रियाँ थोड़े-थोडे समय के लिए आती है। पहले उसकी बड़ी बहन सरस्वती, फिर शीला, फिर शारदा। रुग्णा शान्ति का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी उसे प्यार देती है। जो कुछ पाती है वह अधिक-से-अधिक एक हल्का-सा आत्म-द्रव ही होता है। उसमे वह सम्पूर्ण आत्म-प्रणति नही होती, वह आत्मोत्सर्ग नही होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके।

अब दो व्यक्ति रह जाते हैं जिनके प्रति वह प्रणत होता है---एक बाबा मदनसिंह, दूसरी शशि। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या बाबा मदनसिंह के प्रति वह आत्म-प्रणति का अनुभव नही करता, और क्या शशि के प्रति भी उसकी भावना आत्मोत्सर्ग नही है? बाबा मदनसिंह का यातना-पूत व्यक्तित्व उसको झुका देता है, इसमें सन्देह नही। परन्तु आप थोड़ी बारीकी से देखेंगे तो आपको स्पष्ट हो जायेगा कि बाबा की विनय मे और उनके सूत्रो मे बराबर उसके अहं को खाद्य मिलता रहा है। अपने को झुकाकर तोड देनेवाले इस व्यक्ति के सूत्रो से शेखर को अपने अहंवाद का जो समर्थन मिला वह अन्यत्र दुर्लभ था।

अब शशि को लीजिए। जिस शशि के लिए वह इतना संघर्ष करता है, इतने कष्ट सहता है, जिसके उपचार मे वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, जिसके प्रति उसका सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य तुषारधवल गिरि-शृंग की तरह पिघल उठता है, क्या उसके प्रति वह आत्म का उत्सर्ग नही करता? वास्तव में शशि-शेखर का अन्तिम प्रसंग रस से इतना भीगा हुआ है कि यहाँ तो 'हाँ' कह देने का लोभ हो उठता है। परन्तु यहाँ भी शेखर के स्वयं अपने शब्द उद्धृत कर हम अपनी धारणा को ही पुष्ट करेंगे।

"तुम वह सान रही हो जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा, जिस पर मँज-मँजकर मैं कुछ बना हूँ, जो ससार के आगे खड़ा होने मे लज्जित नही है।'''तुम जीवित नहीं हो। मेरे, शेखर के, बनने में ही तुम टूट गई हो—शायद स्वयं शेखर के हाथों ही टूट गई हो।" आप देखिए, शशि का अस्तित्व शेखर के लिए है, शेखर का शशि के लिए नही। अपने भव्यतम क्षणों मे भी शेखर नहीं भूल पाता कि उसका और शशि का सम्बन्ध तलवार और सान का सम्बन्ध है। सान का अस्तित्व तलवार के लिए है - इसलिए शशि ही शेखर के लिए जीती है, उसी के लिए मर जाती है। इतना बलिष्ठ अहं इससे कम खाद्य

पाकर क्या संतुष्ट होता !

शेखर और उसके स्रष्टा को एकरूप देखने वाला पाठक यहाँ आकर इस घटना पर चौंक सकता है। परन्तु यहाँ एक सतर्क क्रिया है। यह अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अज्ञेय ने इलियट के सिद्धांत को अपनाते हुए आत्म से पलायन किया है। उसकी जरूरत और तकलीफ आसानी से समझी जा सकती है—आत्मकथा लिखने मे पूर्ण सत्य का निर्वाह शायद कोई गाधी ही कर पाता हो।

इतना सर्वग्राही अह निश्चय ही अपनी नग्नता मे एकान्त और एकान्तता मे करुण होगा—यह एक सहज परिणाम है, इसीलिए तो मैने कहा कि शेखर की महत्ता और दीनता मे अभिन्न सम्बन्ध है। मैने आरम्भ मे ही कहा था कि 'शेखर' एक जीवन का एक अध्ययन है। परन्तु यह जीवन व्यक्ति का जीवन है, समाज या युग का जीवन नही है। मेरा यह मत अज्ञेय की अपनी स्थापना से भिन्न है। वे कहते है कि शेखर एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज होने के साथ युग-संघर्ष का भी प्रतिबिम्ब है। उनका आग्रह है कि उसमे उनका समाज और उनका युग बोलता है। निस्सन्देह 'शेखर' में उनके स्रष्टा के समाज और युग की जाति-वैषम्य, हिंसा-अहिंसा, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति आदि गम्भीर समस्याओ का विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन है। परन्तु उसमे समाज और युग नही बोलते, शेखर—अज्ञेय बोलता है। यह सभी समाज के प्रवहमान जीवन का अग नही है, शेखर की चेतना —उसके चिन्तन का ही अंग है। यह विवेचन सामाजिक जीवन के आलोडन मे से नही निकाला, शेखर की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ का ही समीकरण है, और स्पष्ट शब्दो में, इन प्रश्नो का विवेचन जीवित नही है, केवल विचारित है। इसीलिए वह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नही पहुच पाता। मैं अपनी पुष्टि के लिए एक बार फिर शेखर के ही शब्दों की शरण लेता हूं—"जो व्यक्ति के लिए ऊची-से-ऊची चोटी तक ऊबड़-खाबड पगडडी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोडी-सी दूर तक भी प्रशस्त पथ बतलाने के लिए रुक नही सकता।" पूछा जा सकता है कि आखिर व्यक्ति के लिए ही शेखर क्या देता है ? तो वास्तव मे जैसा मैंने आरम्भ मे ही कह दिया है, अभी उसकी देन मूर्तरूप मे, एक बंधे हुए सन्देश के रूप मे, सामने नही आयी। हो सकता है तीसरे भाग मे आये—और बहुत मुमकिन है न भी आये। क्योकि अज्ञेय स्वयं ऐसा कुछ पा सके है, इसमे ही बडा सन्देह है—उनके प्रयोग अभी तो चल ही रहे है।

फिर भी शेखर की आत्म-अनुभूति बड़ी तीव्र और सच्ची है और उसकी बुद्धि इतनी ही प्रखर है। इसलिए अपने अनुभूत सत्य को बुद्धि के द्वारा अन्वित करके सूत्र मे उपस्थित कर देना उसके लिए अत्यन्त सहज हुआ है। और, शेखर हमे जीवन के चिर मौलिक प्रश्न अहं से सम्बद्ध कुछ आत्मानुभूत सूत्र देता है।

"दुख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश नही करता है।"

"किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है – किसी के लिए लड़ना भी जरूरी है।"

पहला सूत्र शशि ने दिया है, दूसरा उसी के आलोक में शेखर ने प्राप्त किया है। सन्देश के नाम पर शेखर के दो भागों में इतना ही है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शेखर का अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—तात्त्विक धरातल पर वह कार्य-कारणवाद को काफी मजबूती से पकड़े बैठा है। जीवन और जगत के सभी तथ्यों की कार्यकारण-परम्परा में उसका अखण्ड विश्वास है। यह मूलतः उसे अपने अहंवाद और फिर आधुनिक विज्ञान विशेषतः मनोविश्लेषण-विज्ञान की देन है। कार्य-कारणवाद एक अभावात्मक दर्शन है। वह जीवन का विश्लेषण करके छोड़ देता है, संश्लेषण तक पहुँच नहीं पाता। इसलिए भारत मे बहुत पहले से और विदेश मे भी काफी दिनों से उसका विरोध होता रहा है। इसी कारण शेखर तत्त्व के धरातल पर नास्तिक है और समाज के धरातल पर निरुद्देश्य क्रान्तिकारी, जो एतादृशत्व मात्र को उलटने के लिए टकरा रहा है। यह कार्य-कारणवाद शेखर के जीवन को कुछ दे पाया या नहीं—(और वास्तव में 'नहीं' कहना सर्वथा मिथ्या होगा क्योंकि वह शेखर के सुख का कारण तो नहीं रहा परन्तु शक्ति का कारण अवश्य रहा है) —परन्तु उसकी कला को उसने एक अमूल्य निधि भेंट की है।

यह है उसकी बौद्धिक तटस्थता जो अपनी निर्ममता के कारण विश्लेषण के क्षेत्र में अद्वितीय है। मनोगुम्फो की तहो मे इतना गहरा घुसनेवाला कलाकार हिन्दी उपन्यास ने दूसरा पैदा नही किया। आप कही पर देख लीजिए, लेखक की दृष्टि जैसे तथ्य के भीतर घुसती ही चली जाती है—भीतर, बहुत भीतर जहाँ उसका कारण छिपा बैठा है, उससे पहले वह नही रुकती, नही रुक सकती। बस, फिर पर्त के पर्त खुलते जाते है। यह तटस्थता 'शेखर' को काफी ईमानदार बना देती है - दूसरो के प्रति भी और अपने प्रति भी। दूसरों के विश्लेषण में तो उसकी दृष्टि वस्तुगत ही है, अपने प्रति भी वह काफी हद तक वस्तुगत ही है। इतने भयंकर अहंवाद और उस पर आश्रित आत्म-प्रश्रय के बावजूद उसने चित्रण में दूर तक वस्तुगत दृष्टि को रखा है, यह कलाकार की बहुत बड़ी विजय है।

यहाँ अपनी बात को जरा और स्पष्ट करना होगा। अहंवाद व आत्म-प्रश्रय और वस्तुगत-दृष्टि क्या ये दोनों परस्पर विरोधी नही है। जो आत्म-प्रश्रय का अभ्यस्त है वह अपना वस्तुगत चित्रण कैसे कर सकता है। परन्तु बात ऐसी नही है। अहंवाद तो शेखर के लिए एक सत्य है, एक अनिवार्य तथ्य है, जिसे वह पूर्ण-रूप से स्वीकार कर चलता है। परन्तु उसको स्वीकार करने के बाद, उसको अनिवार्य तथ्य मान लेने के उपरान्त, वह जैसे उसके प्रति तटस्थ होने का पूरा प्रयत्न करता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य ही या तो उससे पीड़ित होकर उसकी भर्त्सना करता या उसमे गौरव की अनुभूति करता। परन्तु वह इन दोनों भागवत या आत्मगत प्रतिक्रियाओं को काफी हद तक

बचाता हुआ अपने विश्लेषण को बौद्धिक एव वैज्ञानिक बनाए रखने में सफल हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसके रंग प्रायः चटकीले नही हुए।

अतएव कम-से-कम जहाँ तक अकन का सम्बन्ध है वहाँ तक शेखर की वस्तुगत दृष्टि काफी स्थिर रही है। आत्मगत भावना है तो उसमे अनिवार्यतः ही, परन्तु वह बड़ी प्रच्छन्न और सूक्ष्म-तरल है। उदाहरण के लिए आरम्भिक भावना मे शेखर को स्पष्ट ही बहुत कुछ काट-छाँट करनी पडी है। उसमे एक भी घटना ऐसी नही दी गई जो उसकी क्षुद्रता की द्योतक हो। परन्तु इतनी आत्मगत भावना का अधिकार तो साहित्य-सृजन के लिए अनिवार्यतः देना ही पडेगा। आत्मभाव के इसी सूक्ष्म सयमन के कारण ही 'शेखर' की अंकन-कला हिन्दी की एक विभूति बन गई है। वह अपनी कारीगरी और नक्काशी मे एकदम पूरी है।

आप कल्पना कीजिए मृत्यु के साक्षात्कार से दीप्त एक पारदर्शी क्षण। उसमे सहज रूप से जीवन का प्रत्यालोचन। धीरे-धीरे जीवन की घटनाएँ उठती हुई चली जाती है, जो उसके निर्माण के मूल-तत्त्वों से सम्बद्ध है। फिर धीरे-धीरे उनके साथ गुँथी हुई प्रासगिक घटनाएँ। इस घटना-चक्र का केन्द्र है व्यक्ति का अह जो कार्यकारण के सूत्र में इन सभी को गुम्फित कर देता है। घटनाएँ स्वभावतः बिखरी हुई है। परन्तु वे अहं के विद्युत्-सूत्रो से खिचकर इतने सहज रूप मे समीकृत हो गई है—कर दी गई है—कि उनका गुम्फन सर्वथा निर्दोष बन गया है।

फिर इसके उपरान्त उसके सूक्ष्म अवयवो पर पच्चीकारी की गई है—अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है। अवयवों का यह अलंकरण अनायास ही 'शेखर' की समृद्ध भाषा की ओर संकेत करता है, जो अपनी प्रौढ़ता और सौन्दर्य मे अद्वितीय है। यह मनोगुम्फो की उलझनो को इतनी स्वच्छता से चित्रित करता है और मन एव मस्तिष्क की तरल सूक्ष्मताओ को इतनी बारीकी से शब्दबद्ध करता है कि पाठक को चकित रह जाना पड़ता है। उसमे तीखी कैंचियों से खेलने वाली सूक्ष्मता है, आवेश को भर लेने वाली उष्णता है और उदात्त क्षणों में विराट् अनुभूति तक उठने की महान् शक्ति है। सर्वत्र आपको ऐसा लगेगा कि अनुभूति पर जैसे तीव्र चिन्तन की धार ने शान रख दी हो और वह चमक उठी हो। शेखर की साधारण पंक्तियाँ भी इस चमक के बिना नही मिलेगी, भाव-दीप्त प्रसगों की तो बात ही क्या? वास्तव मे केवल भाषा की दृष्टि से ही हिन्दी गद्य के विकास मे 'शेखर' एक बहुत बड़ा मार्गस्तम्भ है। गद्य-निर्माताओं मे अज्ञेय का नाम चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', रामचन्द्र शुक्ल, जयशकर प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन आदि के साथ लिया जायेगा।

'शेखर' से मुझको और मेरे समान हिन्दी के और भी बहुत-से पाठकों को एक शिकायत रही है। उसमे रस क्षीण है, या यों कहे उसमें रस के क्षण अत्यन्त विरल हैं। पहले भाग का उत्तरार्द्ध—शारदा के प्रसंग को छोड़कर—और दूसरे भाग का पूर्वार्द्ध पढ़ने मे काफी बोझिल लगते है। केवल मन को रमाने के लिए

पढ़नेवाले पाठक को उनको पार करने में प्रयत्न करना पड़ेगा। परन्तु जैसा मैंने एक और स्थान पर कहा है 'शेखर' का आनन्द बौद्धिक आनन्द है—तटस्थता का आनन्द, भाव के संयम का आनन्द है। वह आत्म-संरक्षण का आनन्द है, जो आत्मदान के आनन्द से भिन्न है, और कहा जा सकता है कि निम्नतर भी है। सत्य का, वस्तु का, भरसक ईमानदारी से अपने राग-द्वेषों को दूर रखकर चित्रण करना साधारण से कहीं अधिक मानसिक शिक्षण और सन्तुलन की अपेक्षा करता है। इस शिक्षण और सतुलन मे एक प्रकार के बुद्धि-नियंत्रित संयम का आनन्द है, और यह आनन्द शेखर के विश्लेषण मे आपको अनिवार्यतः मिलेगा।

दूसरे प्रकार के आनन्द का भी अत्यन्त अभाव नही है। जहां-जहां शेखर अपने को ढीला कर पाया है वहीं दूसरे प्रकार के आनन्द की भी लहरें उसके आत्मबद्ध प्राणों से फूट पड़ी हैं। ये लहरें सघन नही हैं। परन्तु इनमें एक तीव्रता अवश्य है जैसी कि बन्धन तोड़कर उछलने वाली पतली-से-पतली धारा में भी होती है। प्रकृति के चित्रों मे, सरस्वती, शीला, शान्ति और शारदा के प्रसंगों मे और मोहसिन और रामजी के सकेत-चित्रों मे यह बात स्पष्ट है। रुग्णा शान्ति से उसके गले की स्नायु-रेखा का स्पर्श करने की प्रार्थना कितनी सरस-कोमल है! इन सबसे आगे शशि प्रसग है, जहाँ शेखर आत्म-चेतना को लगभग डुबो ही देता है। साल-भर तक घनीभूत तुषार-राशि को आपने ग्रीष्म सूर्य की किरणों से पहले धीरे-धीरे, फिर पुज-रूप मे पिघलते हुए देखा है। न देखा हो तो कल्पना कीजिए। अब आपको शशि-शेखर प्रसंग के पूत सौन्दर्य का अनुभव हो सकेगा। तब आप सहज ही समझ सकेंगे कि पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मे जो जघन्य पाप है—बहन के प्रति रति—उसको पवित्र रूप देने के लिए हृदय में कितने सतोगुण की आवश्यकता हुई होगी।

इस अन्तिम रस-स्थिति पर पहुँचकर मेरा मन यात्रा के सभी श्रम को भूल कर लेखक के प्रति एक अमिश्रित कृतज्ञ-भाव से भर जाता है। क्या आप मुझसे सहमत नही हैं?

इतिहास की पुनः कल्पना : 'मृगनयनी'

डॉ० शशिभूषण सिंहल

भारत के स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-प्रकाशनो मे श्री वृन्दावनलाल वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'मृगनयनी' उल्लेखनीय है। 'मृगनयनी' का महत्त्व उसमे निहित सजीव युग-चित्रण, प्रेरक पात्रों के प्रतिष्ठापन, सास्कृतिक एव लोकतत्त्वो तथा स्फूर्तिमय जीवनांकन पर निर्भर है। वर्माजी भारतीय संस्कृति के अनुरागी आस्थावान् कलाकार है। उनका दृष्टिकोण सतर्क और सतुलित है। अतीत उन्हें उत्तेजित नही करता वरन् गम्भीर चिन्तन की प्रेरणा देकर वर्तमान मे उनका मार्ग-निर्देश करता है। यह तथ्य 'मृगनयनी' में भली-भाँति द्रष्टव्य है।

'मृगनयनी' की मुख्य कथा मृगनयनी के व्यक्तित्व तथा राजा मानसिंह के सफल वैवाहिक जीवन की है। प्रकृति की गोद मे पली बलिष्ठ निन्नी आखेट मे पारंगत है। ग्वालियर का राजा मानसिह उसके सौन्दर्य और आखेट-कौशल पर मुग्ध हो उससे विवाह कर लेता है। निन्नी—मृगनयनी—को ग्वालियर पहुँचकर ज्ञात होता है कि मानसिंह की पहले ही आठ पत्नियाँ है। अतः वह मानसिंह के हृदय मे अपना स्थान अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जीवन मे नियम-सयम की साधना कर विभिन्न कलाओं मे रुचि लेती है।

मृगनयनी मानसिंह को देश-रक्षा के कार्य मे निरन्तर तत्पर रखती है। होली के हुल्लड़ में सिपाहियो द्वारा उपस्थित कला के वीभत्स रूप को लक्ष्य कर वह मानसिंह को उन्हे सर्वप्रथम शस्त्र-विद्या में निपुण बनाने की प्रेरणा देती है। वह अपने पुत्रो के स्वार्थ की चिन्ता न कर सपत्नी के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का उत्तराधिकार दिलाकर औचित्य बरतती है। वह अन्त में एक चित्र बनाकर मानसिंह को दिखाती है। इस चित्र मे जीवन के आधारभूत अंगो, कला और कर्तव्य के परस्पर सामजस्य पर बल दिया गया है।

उपन्यास की प्रासंगिक कथा लाखी और अटल की है। मृगनयनी के विवाह के उपरान्त ग्वालियर चले जाने पर उसका भाई अटल अहीर युवती लाखी से विवाह करने का निश्चय गाँववालो पर प्रकट करता है। विवाह-प्रस्ताव जाति-विरुद्ध होने के कारण गाँव की पचायत दोनो का 'बहिष्कार' कर देती है। अनेक कष्ट उठाकर उन्हें मानसिंह का आश्रय मिलता है और दोनों विवाह-सूत्र मे बँध जाते है। लाखी का आत्मबल और शौर्य तथा समाज से प्राप्त उसकी मानसिक

पीड़ा प्रस्तुत कथा के मूल विषय हैं। अन्त में सिकन्दर लोदी के आक्रमण के समय राई गढ़ी की रक्षा करते हुए दोनों प्राण त्यागते हैं।

उपन्यास में मृगनयनी तथा लाखी-अटल की कथाओं के अतिरिक्त कई कथा-सूत्रों को स्थान मिला है। पहला सूत्र है मालवा के कामुक सुलतान गयासुद्दीन खिलजी का। उसको दो बातों की धुन है। वासना-तृप्ति और युद्ध। वह एक षड्यंत्र के फलस्वरूप विष-पान द्वारा मौत के घाट उतार दिया जाता है। दूसरा सूत्र है गयासुद्दीन के कामांध पुत्र नसीरुद्दीन का। नसीर युवावस्था में मुल्लाओं के घोर नियंत्रण-वश स्त्री-सम्पर्क के लिए तरसते-तरसते हवस का साक्षात् पुतला बन जाता है। उसके हरम में पूरी पन्द्रह हजार स्त्रियों का असाधारण संग्रह है और उन्ही स्त्रियों से जल-केलि करता हुआ नसीर सदा के लिए जलमग्न हो जाता है। तीसरा सूत्र है नरवर-राज्य के वंशगत दावेदार कछवाहा राजसिंह और उसकी प्रेमिका कला का। राजसिंह अदूरदर्शी, मिथ्याभिमानी क्षत्रियों का प्रतीक है। कला उसे समर्थन और सहयोग देती है, किन्तु राजसिंह के सहायक सिकंदर के नरवर के मूर्ति-भंजन के जघन्य काण्ड पर हार्दिक शोक व्यक्त करती है। उक्त तीनों प्रकरण उपन्यास में मुख्य रूप से युग-प्रवृत्तियों का चित्रण करने के हेतु आये है। युग-प्रतीक पात्रों के चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से इन प्रकरणों में घटनाएँ जुटाई गई है। इसीलिए इन कथा-सूत्रों को यदि कथा की संज्ञा न देकर, पात्र-चित्र कहा जाये तो भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वर्माजी ने 'मृगनयनी' में युग-परिचायक कुतूहलप्रद पात्रों की शृंखला में महमूद बघर्रा को भी प्रस्तुत किया है। गुजरात के सुलतान बघर्रा को अपने दैत्याकार और राक्षसी भूख के कारण उपन्यास में स्थान मिल गया है। कथा-संगठन की दृष्टि से गयासुद्दीन तथा महमूद बघर्रा के प्रकरणों का मुख्य कथा से केवल इतना सम्बन्ध है कि ये दोनों पात्र निन्नी तथा लाखी की प्राप्ति के लिए लालायित बताये गये है। राजसिंह मानसिंह का विरोधी है और कला मानसिंह के महल में षड्यंत्र रचने का प्रयत्न करती है, इस दृष्टि से मानसिंह और कला का प्रकरण कथा का अंग बन जाता है। नसीरुद्दीन का कथा-प्रसंग उपन्यास में सर्वथा स्वतंत्र है। उपन्यास में सिकन्दर लोदी के अमानुषिक अत्याचारों तथा नट-वर्ग के षड्यंत्रों के जो प्रसंग हैं, वे क्रमशः मुख्य कथा तथा प्रासंगिक कथा के पूरक अंग है।

उपन्यास की मुख्य कथा का पूर्वार्द्ध प्रकृति तथा लोक-जीवन की रंगस्थली में घटित होने तथा घटनाओं में साहस-तत्त्व निहित रहने के कारण अधिक रोचक बन पड़ा है। उसका उत्तरार्द्ध कला तथा जीवन सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों पर केन्द्रित होने के कारण घटना-बिम्बों द्वारा व्यक्त न होकर संवादाश्रित तथा अमूर्त अधिक हो गया है। लाखी और अटल की प्रासंगिक कथा मुख्य कथा की अपेक्षा ज्यादा प्रवाहमय तथा रोचक है। यह कथा वर्माजी की कथा-सृष्टि की मूल प्रवृत्ति से अधिक मेल खाती है। इसके माध्यम से उन्होंने जन-जीवन की सामाजिक परिस्थितियों को कुशलता से उभारा है। मृगनयनी के विवाहित होकर ग्वालियर चले जाने पर उसकी कथा

सरिता का प्रवाह त्यागकर मथर गति ग्रहण कर लेती है। उसमे केवल विचारों और भावों की मंद तरंगें उठती-गिरती है। दूसरी ओर लाखी और अटल की कथा मुख्य कथा से पृथक् होते ही गति पकडती है। उनके बहिष्कार का प्रसग, नटों के कुचक्र मे पड़कर उनकी मगरोनी तथा नरवर की यात्रा, नरवर-रक्षा में लाखी का असाधारण पराक्रम आदि घटनाओ मे सामाजिक मनोवृत्ति और लाखी-अटल के चरित्र के सहज मानव-सुलभ पक्ष को प्रत्यक्ष करने की क्षमता है। मानसिंह का आश्रय पाने पर यह कथा मुख्य कथा से पुन. आ मिलती है। लाखी तथा अटल का सम्बन्ध जाति-सम्मत न होने के कारण राजमहल मे जो प्रतिक्रिया होती है वह मुख्य कथा को भी उद्वेलित करती है। अन्त मे भी लाखी-अटल के सघर्ष और बलिदान की घटनाएँ इस कथा के प्रवाह को सुरक्षित रखती है।

'मृगनयनी' की कथावस्तु के विश्लेषण के उपरान्त स्पष्ट है कि यह उपन्यास एक युग-विशेष की विराट् दृश्यमाला उपस्थित करता है। इसे संजोने के लिए उपन्यासकार ने मुख्य कथा-प्रवाह से स्वतंत्र होकर अनेकानेक घटनाओ, कथा-सूत्रो तथा पात्रों को ग्रहण किया है। इसके विभिन्न परिच्छेदो मे पारस्परिक अटूट क्रम का प्राय. अभाव है जिसके फलस्वरूप उपन्यास का कथानक शिथिल हो गया है और कथ्य को सुस्पष्ट करने के प्रयास मे लेखक ने कथा के विभिन्न अवयवो के परस्पर अनुपात-संयोजन की विशेष चिन्ता नही की है। उदाहरण के लिए उपन्यास के प्रारम्भ में ही होलिकोत्सव, प्रकृति, खेती, आखेट आदि के दृश्य और वर्णन खिचते चले गए है—मानो लेखक का मन उन चित्रो को चित्रित करते-करते भरा नही है और वह बारम्बार जल की प्याली मे अपनी कूँची डुबो-डुबोकर उन पर फेरे जा रहा है। उपन्यास के परिच्छेद तथा उनके अन्तर्गत विभिन्न प्रकरण भाँति-भाँति के पौधो से जुटाये गए फूल-पत्तो के समान है। इन्हे परस्पर खोसकर कथारूपी गुल-दस्ता तैयार किया गया है। ये अवयव प्रत्यक्ष रूप से परस्पर असम्बद्ध होते हुए भी मानव-चरित्र, युगीन वातावरण तथा प्रतिपाद्य सस्कृति के विभिन्न पक्षो को प्रस्तुत करते है। कभी-कभी पात्र और घटनाओ की सहज स्वाभाविक संगति नही बैठ पाती वरन् पात्र के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए घटनाएँ क्रम से आ-आकर उप-स्थित होती जाती है। उदाहरण के लिए उपन्यास के केवल परिच्छेद तिरसठ (६३) का उल्लेख यहाँ यथेष्ट होगा। उसमे भूकम्प का चित्रण है। परिच्छेद विभिन्न दृश्यो मे बँट गया और प्रत्येक दृश्य मे भूकम्प के प्रभावस्वरूप विभिन्न पात्रो की प्रतिक्रिया और उनकी मनोवृत्ति का परिचय दिया गया है। इस प्रकार भूकम्प की घटना उपन्यास के कथा-प्रवाह का सहज अग न बनकर प्रकाश मात्र है जो दृश्यो के माध्यम से विविध वर्ण-छटाएँ उत्पन्न करता है। कथानक के शैथिल्य तथा पाठक के हृदय पर पात्र, घटना अथवा परिस्थिति की छाप बिठाने की शैली ने उपन्यास मे नाटकीयता का तत्त्व उत्पन्न कर दिया है।

'मृगनयनी' का कथानक पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त एवं सोलहवी शताब्दी के आरम्भ से सम्बद्ध है। इन दिनों भारत में किसी पुष्ट केन्द्रीय शक्ति का अभाव

था। देश मे विशृंखलता और उच्छृंखलता का बोलबाला था। थोड़ी-सी जनशक्ति और भूमि वाला व्यक्ति अपने आपको बहुत कुछ समझता था। चारो ओर छोटे-बड़े युद्धो, जन-पीड़न और विलासप्रियता की धूम थी। ऐसे अस्त-व्यस्त युग मे मानसिंह तोमर सन् १४८६ से १५१६ ई० तक तीस वर्ष ग्वालियर का राजा रहा। वह सिकन्दर लोदी के भयंकर आक्रमणो से विचलित नही हुआ, अपने राज्य की रक्षा तथा समृद्धि के विषय मे पूर्ण सजग रहा। कर्तव्य-पालन के साथ कलाओ मे भी उसकी रुचि थी।

मानसिंह की कलाप्रियता को जगाने तथा उसकी कर्तव्य-भावना को उद्बुद्ध रखने वाली कोई प्रेरक शक्ति अवश्य रही होगी। वर्माजी ने मानसिंह की प्रिय रानी मृगनयनी को यह श्रेय प्रदान किया है। मृगनयनी गूजर कुल की थी। राई गाँव की दरिद्र किसान कन्या! अपने शारीरिक बल, आखेट-कौशल और अप्रतिम सौन्दर्य के लिए वह विवाह से पूर्व प्रसिद्ध हो गई थी। ग्वालियर के किले में आज भी मान-मंदिर और गूजरी महल स्थित है। बैजू बावरा मानसिंह के गायक थे। उन्होने गूजरी टोड़ी, मगल गूजरी आदि राग बनाए है। इन कृतियों मे मानसिंह की गूजरी रानी मृगनयनी का कही स्पर्श अनुभव कर वर्माजी ने उक्त तथ्य की व्याख्या इस प्रकार की है : "हम मानसिंह और मृगनयनी का विवाह सन् १४९२ ई० के लगभग मानते है, मान-मंदिर और गूजरी महल के निर्माण-कार्य से सम्भवतः पन्द्रह वर्ष पूर्व। इन भवनों के निर्माण के पीछे मृगनयनी की कला-प्रियता और प्रेरणा अवश्य रही होगी। बैजू बावरा की राग-रचना और संगीत-कौशल को मृगनयनी ने प्रोत्साहित किया होगा। तभी तो मगल गूजरी आदि रागों की रचना उन्होने की थी।

उक्त व्याख्या को आधार मानकर उपन्यास के मुख्य चरित्र मृगनयनी का चित्रण किया गया है। मृगनयनी के शौर्य से सम्बन्धित प्रचलित परम्पराओ मे जो व्याख्या के अनुकूल और तर्क-सम्मत है उन्हें ग्रहण किया गया है। अन्य सम्बन्धित किंवदन्तियों को भी मृगनयनी तथा मानसिंह विषयक उपन्यासकार की धारणा के अनुसार ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिए, एक किंवदन्ती है कि मानसिंह की दो सौ रानियाँ थी। वर्माजी को अपने नायक की इतनी पत्नियाँ दिखाना सम्भवतः अभीष्ट नहीं था। उन्होंने ग्वालियर किले के गाइड की एक अन्य किंवदन्ती को मान्यता दी है कि मानसिंह की 'एट' (आठ) रानियाँ थी। वर्माजी ने उसकी नवीं रानी के रूप मे मृगनयनी को चित्रित किया है।

मृगनयनी के भाई का नाम अटल था। उसने किसी अहीरन से विवाह किया था। राई गाँव के लोगों ने इस अन्तर्जातीय विवाह का तीव्र विरोध किया था और अटल तथा उसकी पत्नी नरवर होते हुए ग्वालियर जा पहुँचे थे। यह तथ्य अब भी राई के आसपास के गूजरों मे प्रचलित है। इनके मार्ग मे अड़चन डालने वाले नटो की कल्पना वर्माजी की है। नटिनी पिल्ली के खड्ड में गिरकर चूर होने की घटना अन्य काल की एक किंवदन्ती के आधार पर पल्लवित की गई है। इसी प्रकार

अटल की अहीरन पत्नी का उपन्यास मे लाखी के रूप में विकास वर्माजी की देन है।

मालवा का सुलतान गयासुद्दीन तथा उसका उत्तराधिकारी नसीरुद्दीन ऐतिहासिक है। पर्वताकार शरीर तथा असीम भूख वाला महमूद बघर्रा विचित्र होते हुए भी इतिहास-सम्मत है। राजसिंह ऐतिहासिक है और कला कल्पित।

इस संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'मृगनयनी' के कथा-स्रोत विख्यात इतिहास के अतिरिक्त स्थानीय रूप से प्रचलित अतीत-वृत्त, घटनास्थल का अवशिष्ट वातावरण तथा लोककथाएँ है। लेखक ने कथा-पट को पूर्ण कर उसे रंगने के लिए कल्पना का आश्रय लिया है। उसकी कल्पना 'तथ्यमूलक' है। उसने जीवन मे जो चरित्र और घटनाएँ देखी हैं, सुनी है, उन्ही को अपनी कल्पना का उपजीव्य बनाया है। इतिहास से प्राप्य तथ्यों की खोज मे लेखक दत्तचित्त है, किन्तु विदेशी या उनसे प्रभावित इतिहासकारो द्वारा प्रतिपादित 'तोड़े-मरोड़े' गये तथ्य उसे यथावत् स्वीकार्य नही है। विकृत तथ्यो की स्थान-पूर्ति तथा तथ्यों के मध्य रिक्त स्थलो की पूर्ति के लिए उसने जन-परम्परा का आश्रय लिया है। उसे परम्परा अतिशयता की गोद मे खेलती हुई भी सत्य की ओर संकेत करती जान पडती है। इस प्रकार 'मृगनयनी' मे वर्माजी ने इतिहास से खोजबीन कर तथ्य जुटाये है और उन्हे विचार, विवेचन, कल्पना-तत्त्वो से कार्य-करण-शृंखला प्रदान की है।

वर्माजी के उपन्यासो में नारी-पात्र प्रबल और प्रधान है। वर्माजी अपने प्रिय नारी-पात्रों के बाह्य आकर्षण मे निहित उनकी आन्तरिक विभूति को प्रत्यक्ष करते है। उनकी दृष्टि में पुरुष शक्ति है तो नारी उसकी संचालक प्रेरणा। मृगनयनी तथा लाखी उनके ऐसे ही नारी-पात्र है।

मृगनयनी प्रकृति की गोद में पली होनहार युवती है। उसकी काया अत्यन्त पुष्ट और मन निर्भीक है। कामुक आततायी पुरुषो के प्रति उसमे अपूर्व उग्रता है। सोचती है, "सुनती तो यही आयी हूँ, परन्तु क्या उनके (जौहर करनेवाली स्त्रियो के) हाथ-पैर इतने निकम्मे होते होगे कि अपने ऊपर आँख और हाथ डालने वाले पुरुष को घूँसे से धरती न सुँघा सके ? कैसी स्त्रियाँ होंगी ये ! खाने को इतना और ऐसा अच्छा मिलते हुए भी मन उनके ऐसे मरियल ! चिता में जलकर मरें स्त्रियो पर हाथ डालने वाले !!! मैं तो कभी इस तरह नही मरने की।" वह ऐसा सोचती ही नहीं, गयासुद्दीन के भेजे हुए घुडसवारों के प्रसंग मे कर भी दिखाती है।

प्रचण्ड निन्नी मे कोमलता और रसिकता भी है। उसे राई की प्रकृति-स्थली अत्यन्त प्रिय है। वहाँ की नदी की दमकती हुई कल्लोलिनी धार, ऊँघती-लहराती बालें, पर्वतो की ऊँचाइयाँ, पेड़ और डालियाँ-पत्ते आदि उसके जीवन-सहचर है। खेत के मचान से उन्हे जी-भर देखती है और उन्हें एक जगह सजो लेने की कामना करती है। ग्वालियर के वैभवमय किले में पहुँचकर भी वह राई को नही भूलती। गाना उसे भला लगता है—'जाग परी मैं पिय के जगाये,' उसका प्रिय गीत है। ग्वालियर पहुँचकर वह संगीत और नृत्य सीखती है। वास्तुकला और चित्रकारी

में भी उसका मन रमता है।

निन्नी होनहार है, परन्तु है साधारण कृषक-बालिका। वह लोहे के तीर जैसी तुच्छ वस्तु के लिए अपनी सहेली लाखी से झगड़ पड़ती है। उसे चिढ़ाना और उसे नंगे पैर देखकर अपने जूतों पर अभिमान करना मृगनयनी को सामान्य बालिका के स्तर पर ले आता है। इसी प्रकार महल के वातावरण में पहुँचकर वह कभी-कभी स्वयं में हीनता अनुभव करती है। फलस्वरूप वहाँ वह अपनी मर्यादा-रक्षा के लिए पग-पग पर चौकन्नी रहती है।

निन्नी अपने ग्राम्य जीवन की अबोधप्राय अवस्था में भी नारी की पुरुष-सापेक्ष मर्यादा-भावना से भली-भाँति परिचित है। राजा मानसिंह के विवाह-प्रस्ताव पर वह सतर्क हो जाती है। उसे आशंका है कि कहीं भविष्य में सम्मान न खोना पड़े। मानसिंह से उसने धीरे से कहा, "गरीबों और बड़ों का जन्म-साथ कैसा?—बड़े लोग कहते कुछ और हैं, करते कुछ और है, ऐसा सुना है कथा-कहानियों में।" यदि उसे ज्ञात होता कि मानसिंह की पहले से आठ रानियाँ हैं तो कदाचित् वह विवाह की स्वीकृति नहीं देती। वह जानती है कि संयम और गम्भीरता द्वारा ही नारी पुरुष के, मानसिंह जैसे पुरुष के, हृदय में अक्षुण्ण अधिकार रख सकती है। उसे मानसिंह का प्रेमालाप और चेष्टाएँ भाती हैं किन्तु नारीत्व की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वह इन्द्रिय-नियन्त्रण की इच्छुक है। मानसिंह से कहती है, "और निकट आये तो मैं बहुत छोटी रह जाऊँगी।"

नारी पुरुष की प्रेरणा है, पुरुष को सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना उसका कर्तव्य है, मृगनयनी यह भूलती नहीं। मानसिंह मृगनयनी के ग्वालियर आने पर मनोरंजन और कला-प्रेम की ओर अधिक झुक जाता है। मृगनयनी उसे सजग कर उसमें नवीन चेतना भर देती है। उसका आधारभूत विचार इन पंक्तियों में आ जाता है—"कला कर्त्तव्य को सजग किये रहे, भावना विवेक को सम्बल दिये रहे, मनोबल और धारणा एक-दूसरे का हाथ पकड़े रहे।"

मृगनयनी का चरित्र असाधारण है। उसके पूर्व तथा उत्तर जीवन में सगति बिठाने के लिए वर्माजी विशेष सतर्क रहे हैं। उन्होंने रानी मृगनयनी के प्रबुद्धरूप के मूल सूत्रों को बालिका निन्नी में सावधानी से लक्षित किया है। उसकी बाद की भावनाओं और चिन्तना में परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रिया के तत्त्व को वर्मा जी ने अपरिहार्य अंग के रूप में ग्रहण किया है। मृगनयनी का व्यक्तित्व चिन्तन-प्रधान होने तथा अभिजात जीवन से घिर जाने के कारण पाठक को प्रभावित तो करता है, किन्तु अपने में तन्मय नहीं कर पाता। उसकी अपेक्षा लाखी अपनी सहज साधारण गति के कारण पाठक को विशेष आकृष्ट करती है। उपन्यास में लाखी का चिन्तन-पक्ष मुखर नहीं है, उसका व्यक्तित्व मनोविकारों और प्रवृत्तियों के माध्यम से विकसित हुआ है। लाखी उपन्यास में मृगनयनी के साथ उसके आनुषंगिक पात्र अथवा उसकी उपसृष्टि के रूप में पदार्पण करती है। आगे चल-कर उपन्यासकार जब मृगनयनी की प्रतिभा को सजाने-सँवारने में प्रयत्नरत हो

जाता है, उस समय लाखी मानो उसकी दृष्टि बचाकर स्वतन्त्र, परिपूर्ण नारी-पात्र का रूप धारण कर लेती है। मृगनयनी यदि उपन्यासकार की सतर्कता, सजगता का प्रतिफल है तो लाखी उसकी हृदयानुभूति की सहज देन है।

राजा मानसिह उपन्यास के प्रतिपाद्य पात्रो मे प्रमुख है। वह कर्तव्यनिष्ठ शासक है। उसकी श्रमप्रियता और कलाप्रियता ने उसे लोकप्रिय बना दिया है। बहुपत्नियों के मध्य स्वय घिर जाने पर वह मन-ही-मन स्वीकार करता है कि एक स्त्री का शासन पुरुष के लिए कठिन है, आठतो आठ ग्वालियर राज्यो की समस्या के समान है। अतः वह विनय और शील से काम लेने और व्यंग्य व कटूक्ति सहने मे अपना कल्याण समझता है। मृगनयनी के कथा की केन्द्र-बिन्दु होने के कारण उपन्यास में प्रकाश-किरणे मानसिंह पर सीधी कम पडती है। कुछ स्थलो को छोड़-कर शेप मे प्राय' मानसिह मृगनयनी के स्वरूप को उभारने के लिए ही उपस्थित होता है। वह मृगनयनी के रूप-निर्माण मे पूरक चरित्र के समान है।

'मृगनयनी' मे वर्माजी की दृष्टि जीवन (इतिहास) के ग्राह्य और अग्राह्य को पृथक् कर देखने मे व्यस्त रहने के कारण उपन्यास मे अधिकाश पात्र भले अथवा बुरे के विपरीत वर्गों में बँट गए है। बोधन मिश्र इस प्रसग मे उल्लेखनीय है। वह पाठक की सहानुभूति अर्जित न कर पाने पर भी, भला नही तो बुरा भी नही है। बोधन ब्राह्मण-समाज की कट्टरता का जीता-जागता प्रतीक है, परन्तु है ईमानदार। जो ठीक जँचता है, उसे अपनाता है। उसका अपने विश्वास के विपरीत जाना असम्भव है, भले ही राजा क्रुद्ध हो या विधर्मी बध कर डाले। उपन्यास का पट विशद होनेके कारण पात्रोकी बड़ी सख्या मे सृष्टि हुई है। किन्तु उनकी पृथक् विशिष्टता का निर्वाह हुआ है। उनके चित्रण मे प्रत्यक्ष विधि की अपेक्षा नाटकीय शैली का अधिक आश्रय लिया गया है।

चर्चा की जा चुकी है कि 'मृगनयनी' मे नाटकीयता का तत्त्व है। वह तत्त्व मुख्य रूप से इसकी सवाद-कला से प्रादुर्भूत हुआ है। नाटकीयता से यहाँ तात्पर्य है वास्तविकता के आभास से। नाटकीय स्थल वह है जहाँ घटना का वर्णन मात्र न होकर घटना स्वयं घटित होती जान पड़े, वार्तालाप तथा कार्य मे गति का, सजीवता का बोध हो। 'मृगनयनी' के सवादों मे वक्ता के हाव-भाव का सूक्ष्म निरीक्षण भी साथ-साथ चलता है। विशेपता यह है कि उपन्यासकार सवाद से इतर, पात्रों के हाव-भाव का निर्देश न कर उन्हे संवादो से ही व्यंजित करता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। मुल्लाओं तथा सुलतान के घोर नियन्त्रण मे बँधे हुए लोलुप शाहजादा नसीरुद्दीन तथा चलते-पुर्जा दरबारी ख्वाजा मटरू की एकान्त-चर्चा अपने विपय और शैली के कारण नाटकीय दृश्य उपस्थित करती है। सवाद का एक-एक वाक्य चुना हुआ और वक्ता की प्रवृत्ति का द्योतक है।

शाहजादा नसीर ने बगलें झाँकते हुए मटरू से पूछा—"शराब तो बुरी चीज़ कही जाती है, फिर लोग क्यों पीते है?"

"जान आलम!" मटरू ने फूंक कर कदम रखा—"बुजुर्गों ने ज़माने से इसको

बुरा कहा है, मगर लोग नहीं मानते हैं, इसलिए पी लेते हैं।"

"बुरी कहते हैं तो पीने में भी बुरी होती होगी ?"

"जान आलम, बुरी चीजें जब बादशाहों के हाथ छू लेती है तब उतनी बुरी नहीं रहती। बन्दा तो गुलाम है, कह ही क्या सकता है ? लेकिन हा, सुना है कि बाज लोग दवा के तौर पर भी कभी-कभी पी लेते है।"

"तुमने कभी पी ?"

"जान आलम के सामने बयान करने मे गुस्ताखी होगी।"

(नसीर) "जी चाहता है कि मै भी कुछ दुनिया देखूं। किताबें तो बहुत-सी पढ़ ली, मगर दुनिया समझ मे नहीं आ रही है।"

"जान आलम जिन्दाबाद ! मै कुरबान जाऊँ। हुजूर तो इतना देखेंगे कि न खुद अघायेंगे, न दुनिया अघायेगी।"

(नसीर) "सख्ती अभी क्या कम है—मर जाने को भी जी चाहता है। मगर तुम ठीक कहते हो। यही तै रहा। तो फिर सच-सच बतलाओ कि बुरी कही जाने वाली उस चीज में कुछ मजा भी है या वाकई बुरी है ?"

"जान आलम, अगर उसमे मजा न होता तो बादशाहों के मुँह क्यों लगती ?"

"तब—फिर एक तो यह। पर थोड़ी-सी ही, बहुत ही थोड़ी, वरना पकड़ में आ जाने का अन्देशा है। और दूसरी—तुम खुद समझ लो।"

"कुछ भी मुश्किल नही, जान आलम !"

बगले झाँकने वाले नसीर के प्रश्नो में कोरी जिज्ञासा नही वरन् तीव्र लालसा है। उसकी अनुभवशून्य लोलुपता अपनी उत्सुकता का समाधान ही नही, उस दिशा मे प्रोत्साहन भी चाहती है। उसके इस वाक्य में—"बुरी कहते है तो पीने मे बुरी होती होगी ?" मटरू को रहस्यमय संकेत है कि वह अपने अनुभव की छाप लगाकर शराब को ग्राह्य घोषित कर दे। फिर वह जिज्ञासु भोले बालक की भाँति बिलकुल स्वाभाविक प्रश्न कर बैठता है—"तुमने कभी पी ?" डरता भी है। उसकी सहम, सतर्कता और पिपासा केवल इस दबी जबान में साक्षात् प्रकट हो जाती है—"पर थोड़ी-सी ही, बहुत ही थोड़ी।" और भिंचे गले से कह ही बैठता है—"और दूसरी—तुम खुद ही समझ लो।" इन कथोपकथनों के साथ वक्ता के हाव-भावों का संकेत नही दिया गया है। भावों को व्यक्त करनेवाले कथनों को कुछ ऐसे सधे हुए मनोवैज्ञानिक ढँग से रखा गया है कि वक्ता की भाव-भंगिमा पाठक की कल्पना में स्वतः साकार हो उठती है। उल्लिखित संवाद पढ़कर हमारी कल्पना में एक चित्र बनता है, जिसमें एक आत्मपीड़ित शाहजादा है, घबराया-सा, झल्लाया हुआ, डरा हुआ, चौकन्ना, ललचाया और सकपकाया-सा, इधर-उधर झाँककर धीरे-धीरे बात करता हुआ, बेताबी उसकी आँखों से झाँक रही है। दृश्य में दूसरा व्यक्ति है सीखा-सिखाया, मँजा हुआ दरबारी मटरू—पूर्णतया सतर्क और बात-बात पर शतरंज के खिलाड़ी जैसी चालें चलने वाला। वह

शिकार को मुट्ठी में आया समझता है, किन्तु उसे तनिक खिलाकर पजो मे दबोचना चाहता है। खुशामद से भरपूर दरबारी शिष्टाचार का पुतला। शाहजादे की लालसा को चरमबिन्दु पर लाकर गोल-मोल ढँग से शराब के विषय मे अपना स्पष्ट निर्णय दे देता है—"अगर उसमे मजा न होता तो बादशाहो के मुँह क्यों लगती ?" यह संवाद चरित्र-चित्रण, कथा-विकास तथा नाटकीय सजीवता प्रस्तुत करने मे समर्थ है।

'मृगनयनी' मे जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया गया है उसके दो पक्ष है—एक जीवन का अग्राह्य और दूसरा ग्राह्य। अग्राह्य के बीज तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक स्थिति मे छिपे हुए है। पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे, उस युग में देश मे केन्द्रीय सत्ता न थी। चारो ओर अराजकता तथा जनपीड़न का बोलबाला था। विदेशी शक्तिशाली जन स्वर्ण-सचय की कामना, मारकाट की आकांक्षा और स्त्रियों के अपहरण की वासना मे आकंठ मग्न थे। हिन्दू परलोकभय, निराशावाद तथा पारस्परिक झगड़ो के कारण लड़खड़ा उठे थे। ऐसी स्थिति में शासन-कार्य शासक की व्यक्तिगत आकाक्षाओं व वासनाओ का साधन मात्र रह गया था। नित्य पिटने-पिसने वाले उपेक्षित प्रजाजन की यही भावना रही होगी—"कोउ नृप होइ हमहिं का हानि।" मानसिंह और मृगनयनी की प्रजावत्सल दृष्टि और गतिविधि उस युग की तिमिराच्छन्न दशा मे प्रकाश-रेखाएँ है।

हिन्दू-समाज की वर्ण-व्यवस्था ने जटिल भेदभाव का रूप धारण कर लिया था, जिसका उग्र प्रभाव आज भी किसी से छिपा नही है। 'मृगनयनी' मे गूजर अटल और अहीर कन्या लाखी एक-दूसरे को अपना लेते है। पुरुष-स्त्री के इस सहज स्वाभाविक सम्बन्ध को तत्कालीन समाज हाथ के सब काम-धन्धे छोड़कर तोड़ने के लिए उद्यत हो जाता है। लाखी-अटल अविचलित रहकर स्थिति का सामना करते है। फिर भी लाखी जैसी वीरागना के हृदय मे किसी कोने मे जाति-वाद के प्रति निष्ठा बनी रहती है। मरते समय अटल से टूटे स्वर मे कह देती है—"ब्याह कर लेना। अपनी जात-पात में...।" दूसरी ओर गूजर जाति की मृगनयनी और तोमर मानसिंह का विवाह हो जाता है। मानसिंह राजा है, वह सब कुछ कर सकता है। कोई उस पर उँगली तक नही उठाता। उपन्यासकार का तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था पर यह मार्मिक व्यंग्य है। जातिगत भेदभाव की निस्सारता पर मानसिंह की टिप्पणी उल्लेखनीय है। वह कहता है—"रक्षा के लिए ढाल और तलवार दोनों अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। जात-पाँत ढाल का काम तो कर सकी है और कर रही है, परन्तु तलवार का काम न तो हाल के युग मे उसने कर पाया है और न कभी कर पायेगी।"

वर्माजी ने उपन्यास में जीवन का जो ग्राह्य स्वरूप प्रस्तुत किया है उसकी सचालक उनकी 'रोमांस' प्रवृत्ति है। 'रोमांस' शब्द का यहाँ विशिष्ट अर्थों मे प्रयोग किया जा रहा है। रोमांस अंग्रेजी साहित्य मे उपन्यास की पूर्वज विधा के रूप में था। यह एक विलक्षण कथा थी। प्रस्तुत प्रकरण मे रमांस एक प्रवृत्ति

जीवन-दृष्टि है। इसकी एक शब्द में व्याख्या की जाए तो इसका अर्थ है 'स्फूर्ति'। वर्माजी का रोमांस साधारण जीवन में ही है, अपनी मिट्टी, अपने चारों ओर की प्रकृति, अपने समाज मे है। उन्होने विवेक, सतुलन और कर्मठता से रोमांस के तत्त्व जुटाये है।

'मृगनयनी' का सन्देश है कि मनुष्य का जन्म साभिप्राय है। उसे जीवन मे जैसा, जो कुछ मिला है उसी मे सन्तुष्ट रहकर यथाशक्ति कुछ जोड़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। अनवरत प्रयत्न का दूसरा नाम जीवन है। उपन्यास मे मृगनयनी और मानसिंह के माध्यम से सतुलित मानव-जीवन की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास है। शारीरिक स्वास्थ्य मानवता के निर्वाह की पहली अनिवार्य सीढ़ी है। स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है। मस्तिष्क से उत्पन्न होता है तर्क और तर्क का प्रसाद है कर्तव्य। हृदय कोमल भावनाओ, कला-प्रेम आदि को जन्म देता है। जीवन मे कर्तव्य और भावना के बीच प्रायः संघर्ष के अवसर आते है। इन दोनों के संतुलन-समन्वय मे ही मनुष्य का क्षेम है। तभी उसकी शारीरिक शक्ति अनुचित मार्ग ग्रहण कर नहीं पाती। इस प्रकार शारीरिक शक्ति, मस्तिष्क और हृदय के उपयुक्त समन्वय में जीवन की 'स्फूर्ति' अर्थात् वर्माजी का 'रोमांस' निहित है। इस रोमांस की अभिव्यक्ति उपन्यास के लोक-जीवन तथा प्रकृति-चित्रण मे भली-भाँति हुई है। प्रणय-प्रसंगों तथा कला के उदात्त स्पर्शों में यह प्रवृत्ति खिल उठी है।

'मृगनयनी' में ग्वालियर-किले के अभिजात जीवन मे 'रोमांस' की उपलब्धि हुई है, किन्तु बुन्देलखण्डी जन-जीवन में इसकी छटा देखते बनती है। उस युग की प्राणांतक परिस्थितियो का उल्लेख किया जा चुका है। उपन्यास का जर्जर बुन्देलखंडी जन कठोर प्रकृति और विषम परिस्थितियों की गोद मे पलते रहने के कारण अपने अन्तर् में एक और व्यक्तित्व छिपाये हुए है। वह व्यक्तित्व निर्भीक है और कठिनाइयो से जूझने वाला और मौज का एक क्षण मिलने पर मस्ती से झूम उठने वाला है। मस्ती का एक क्षण ही उसे सजीव बनाये रखता है और शक्ति देता है भविष्य की बाधाओं से भरपूर टक्कर लेने की। उसके त्योहार और उत्सव ऐसे ही सुखद क्षणों की अमूल्य निधि है। नवीन रूप धारण करती प्रकृति उसमें उमंगों की हिलोरो पर हिलोरें उठा देती है। उसका कृतज्ञ मन परमेश्वर के आगे नत हो जाता है। वह उन अवसरों पर भजन-पूजन करता है, उसके चरणो मे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। फिर बारी आती है हृदय मे दबे हुए उल्लास की दुगुने वेग से बाहर फूट पड़ने की। बुन्देलखण्डी नर-नारी फागें और राछरे गाते है और नाचते-कूदते मस्त हो जाते है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही होलिकोत्सव का चित्रण इस तथ्य का साक्षी है।

भारतीय मध्यकालीन इतिहास के आधार पर हिन्दी मे अनेक उपन्यासों की रचना हुई है। स्वयं श्री वृन्दावनलाल वर्मा के अब तक प्रकाशित बारह ऐतिहासिक

भारत-विभाजन का औपन्यासिक महाकाव्य : 'झूठा सच'

मन्मथनाथ गुप्त

यशपाल की कृति 'झूठा सच' निश्चित रूप से एक राजनैतिक उपन्यास है। कुछ लोगों के अनुसार ऐसा कहना किसी हद तक उपन्यास के स्तर को घटा देना है, पर यह एक बहुत ही संकुचित धारणा है, जिसका कोई आधार नही। यदि 'झूठा सच' एक राजनैतिक उपन्यास है, तो तोलसतोय का 'युद्ध और शान्ति' भी एक राजनैतिक उपन्यास है, पर वह उपन्यास लगभग सर्वसम्मति से संसार का श्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। अन्य अनेक महान् उपन्यासकारो ने जैसे रोम्या रोला, आना तोले फ्रांस, सिक्लेयर लिविस, अप्टन सिक्लेयर तथा हमारे रवीन्द्र, शरत, प्रेमचन्द सम-सामयिक या अभी-अभी जो समय भूतकाल बना उस पर उपन्यास लिख चुके है। इसलिए 'झूठा सच' को राजनैतिक उपन्यास करार देने से किसी भी प्रकार उसके स्तर को निम्न नही बताया जा सकता।

यशपाल का यह उपन्यास एक राजनैतिक उपन्यास है, पर उपन्यास अब केवल कथा-कहानी के अतिरिक्त कुछ और भी होता है और यदि कोई उपन्यास राजनैतिक पहलुओं को लेते हुए चलता है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, बल्कि यह एक हद तक स्वाभाविक है। पर साथ ही यह बता दिया जाए कि लगभग समसामयिक घटनाओ पर उपन्यास या कथा-साहित्य प्रस्तुत करना लेखक के लिए बहुत जोखिम का कार्य है। साधारण उपन्यास की रचना में, जिनमें एक व्यक्ति या परिवार या शहर या गाँव की स्थिति का चित्रण रहता है, उपन्यासकार को उतनी गुत्थियाँ नहीं सुलझानी पड़ती जितनी कि एक राजनैतिक उपन्यास में सुलझानी पड़ती है। राजनैतिक उपन्यास के लेखक से यह आशा की जाती है कि वह जड़ तक जाकर सारे प्रश्नों पर विवेचन करे, कार्य-कारण की शृंखला को स्पष्ट करे भूतकाल से आयी हुई परम्परा से स्थितियों को संयुक्त करके दिखाये और भविष्य का भी सकेत दे।

वैसे भी इस प्रकार से लिखा हुआ उपन्यास, जिसका मुख्य विषय सामाजिक, राजनैतिक स्थिति और उससे आने वाले परिवर्तन हों, बहुत आसानी से महज रिपोर्ताज में परिणत हो सकता था। उस हालत में वह कला की दृष्टि से निम्न कोटि का हो जाता है। पर यशपाल की सतर्क लेखनी ने घटनाओं के साथ न्याय करते हुए भी और उनका सिलसिला या कार्य-कारण किसी प्रकार से न बिगाड़ते

हुए भी कथानक का ताना-बाना इस प्रकार से फैलाया, विस्तार किया और उसमें इस प्रकार से रंग भरे कि कहीं भी पाठक को यह महसूस नहीं होता कि वह कहानी की अपेक्षा कुछ और पढ़ रहा है। यों तो संसार में कई मूर्धन्य लेखकों ने सामाजिक, राजनैतिक घटनाओं को और लगभग समसामयिक इतिहास को अपना उपजीव्य बनाया है, पर इस सिलसिले मे अप्टन सिंक्लेयर का उल्लेख विशेष उपयुक्त होगा जिसने दूसरे महायुद्ध का सारा इतिहास एक उपन्यास-माला के जरिए लिखा है, बल्कि यों कहना चाहिए कि दूसरे महायुद्ध की पृष्ठभूमि पर एक विराट उपन्यास लिखा है।

लेखक के लिए इस प्रकार यह एक कसौटी है कि जरा चूका कि कलाकार की मर्यादा से विचलित होकर एकदम अथाह खाई के अन्दर गिरा।

मैंने पहले यह बतलाया है कि राजनैतिक-सामाजिक घटनाओं को पृष्ठभूमि में रखकर उपन्यास-लेखन बहुत कठिन है, पर साथ ही यह भी बहुत सही है कि अति-साधारण पात्र राजनैतिक-सामाजिक घटनाओं की 'फुटलाईट' की चौंध में खड़े होकर बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हे और वह एक साधारण व्यक्ति न रहकर इतिहास का एक प्रतीक बन गया है। इस नाते उपन्यास के पात्र का स्तर अनायास ही ऊपर उठ जाता है। पर ऐसे उपन्यासो मे एक डर यह भी रहता है कि कहीं व्यक्ति प्रतीक बनकर साँस लेता, चलता-फिरता और जीवन के अन्य लक्षणों से सुसज्जित तो रहता है, पर उसका व्यक्तित्व न उभरे और वह एक 'रोबोट' मात्र बनकर रह जाये। सफल कलाकृति के लिए यह जरूरी है कि उसका प्रत्येक पात्र अपना जीवन जीये जो मात्र समसामयिक प्रतीक या कठपुतले का जीवन न हो। हर्ष का विषय है कि यशपाल इन सारी दृष्टियों से सफल हुए है और उनका प्रत्येक पात्र बिलकुल अपना ही जीवन जीता है। जितने हिन्दू चरित्र है, हो सकता था कि एक ऐसे समय जब सभी हिन्दुओं के सामने एक ही संकट मुँह बाकर खड़ा था, एक ही जिन्दगी जीते और एक ही तरह से बातचीत करते, पर यशपाल के इस उपन्यास में प्रत्येक पात्र अपना अलग-अलग जीवन जीता है। उसकी अलग-अलग बुद्धि है, अलग-अलग कमजोरियाँ और सहजोरियां है, इस प्रकार से कहीं भी पाठक को यह अनुभव नही होता कि दो पात्र एक-दूसरे की कार्बन-प्रतियाँ है।

यों हम इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कह सकते है, पर केवल एक जोड़े को ले—जयदेव और उसकी बहन तारा। दोनों एक परिवार के है। एक ही प्रकार की आर्थिक समस्याएँ उनके सामने है। विभाजन की विपत्ति का पहाड़ उनके सिर पर एक ही तरह से टूट पडता है, पर सारे मामलों में उन पर असर अलग-अलग होता है। केवल गहराई से देखने पर ही पता लगता है कि एक घटना का इतना पृथक् असर दोनो पर हुआ है। इसे मैं कलाकार की बहुत बड़ी सफलता मानता हूँ और यह रचना की श्रेष्ठता का एक प्रमाण है। यही बात सारे पात्रों के विषय में कही जा सकती है।

यशपाल ने 'झूठा सच' उपन्यास में आधुनिक इतिहास की बहुत बड़ी घटना को उपजीव्य बनाया है। लगभग १२०० पृष्ठ के इस उपन्यास मे देश के विभाजन से उत्पन्न स्थितियो को लिया गया है। स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश का विभाजन हुआ। वह क्यो हुआ और कैसे हुआ, इस पर यशपाल नही जाते, यद्यपि पुराने वक्तो से जो विचार तथा भावनाएँ चली आ रही है और जिनके कारण देश का विभाजन हुआ वे काफी हद तक कथानक के दौरान खुलकर सामने आ जाती है। यदि भारत के आधुनिक इतिहास को देखा जाए तो जो सबसे अधिक रोमाचकारी घटना इस दौरान घटित हुई वह है भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति। लगभग एक शताब्दी का निरन्तर संग्राम इस घटना के पीछे है। यो पाठ्य-पुस्तको मे किराये के लेखक यह दिखलाते है कि काग्रेस ने ही देश को स्वतंत्रता दिलाई, पर असल मे स्वतंत्रता-सग्राम का प्रारम्भ किसी-न-किसी रूप मे १८५७ से माना जा सकता है। १८५७ से १९१९ तक, जब गाधीजी नेता के रूप मे सामने आए, स्वतन्त्रता-संग्राम ऐसे लोगों तक सीमित था जिन्हे हम क्रान्तिकारी कह सकते है। इस बीच के सभी स्वतन्त्रता-सैनिक, जैसे—सावरकर, वारीन्द्रकुमार घोषआदि व्यक्ति,तथा फाँसी पर चढने वाले सैकड़ो शहीद और काला पानी जाने वाले हजारो देशभक्त काग्रेस के बाहर के लोग थे। १९१९ के बाद स्वतंत्रता सग्राम के दो विभाग हो गए—एक काग्रेस और दूसरा क्रान्तिकारी। कभी ये दोनो आन्दोलन साथ-साथ चलते, कभी अलग-अलग। १९३५ तक दोनो आन्दोलन एक साथ चले और समाप्त इस अर्थ मे हो गए कि दोनो आन्दोलन सामयिक रूप से दब गये यानी जनता के अन्तर्मन की गहराई मे उतरकर बैठ गये। पर १९३९ में जो महायुद्ध शुरू हुआ उसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता-आन्दोलन फिर उभरा। यह कहना बड़ा मुश्किल है कि यदि यह लड़ाई न छिडती तो काग्रेस फिर से आन्दोलन छेड़ती या नही। क्रान्तिकारी छिटपुट ढग से तो काम कर रहे थे, लेकिन काग्रेस मे फिर से आन्दोलन उभरता या नही, यह प्रश्न है। शायद न उभरता, शायद उभरता। जो कुछ भी हो, लडाई के बाद जब १९४२ मे आन्दोलन चलाया गया, उसके बहुत पहले से ही क्रांतिकारी तत्त्व कार्यशील थे। यद्यपि १९४२ के आदोलन का सूत्रपात कांग्रेस के द्वारा ही हुआ था, पर उसमे ऐसे क्रातिकारी तत्त्व आ गए कि उसे किसी भी प्रकार एक कांग्रेसी आंदोलन कहना सम्भव नहीं है, यहाँ तक कि गाधीजी ने भी उस आन्दोलन के सिलसिले मे नजरबन्द रहने के बाद छूटकर यही बयान दिया था। जो कुछ भी हो, तथ्य है कि १९४२-४३ मे दोनो आन्दोलन घुल-मिलकर अन्तःप्रविष्टहोकर चले। फिर अन्तिम धक्का आजाद हिन्दी फौज ने लगा दिया, जिसके कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि अंग्रेजो को अपनी भारतीय फौजों पर भरोसा नही रहा। इसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का दबाव भी आया और हम स्वतंत्र हुए—पर साथ ही दुर्भाग्य यह रहा कि भारत को दो हिस्सों मे बाँट दिया गया।

यही वह परिस्थिति है जहाँ से 'झूठा सच' के कथानक का आरम्भ होता है।

लोग लाहौर मे बहुत आनन्द से थे। यद्यपि हिन्दुओं की संख्या वहां आधे से कुछ ही कम थी, पर उनके हाथ में ८० प्रतिशत सम्पत्ति थी। हिन्दू मध्यवर्ग बहुत सुखी था। यशपाल ने कथानक का प्रारम्भ संग-सियापा या शोक-समारोह से किया है। यद्यपि मौका शोक का है, पर यशपाल ने उसका जो वर्णन प्रस्तुत किया है, उससे कुछ हास्य रस ही उत्पन्न होता है।

पंजाबियो और सिन्धियों के शोक-समारोह का यह सामन्ती रूप शायद अब समाप्त हो गया है, इसलिए यशपाल ने इसकी जो अमर कहानी प्रस्तुत की है, वह मजेदार कहानी के अतिरिक्त एक युग का पूरा चित्र प्रस्तुत करती है। इसी शोक-सभा में हमे तारा का परिचय मिलता है, जो अभी छात्रा है। उसका भाई जयदेव और वह स्वयं इस उपन्यास के प्रधान पात्र हैं और उन्ही के जरिये से विभाजन के समय जो बाह्य और आन्तरिक स्थितियाँ पैदा हुईं उनका उद्घाटन किया गया है। जयदेव १९४३ में एम० ए० की पढ़ाई कर रहा था कि तभी युद्ध-विरोधी आन्दोलन मे गिरफ्तार कर लिया गया था और जेल भेज दिया गया था। जेल में उसने समय का अच्छा उपयोग किया था। पहले ही वह लेख, कहानी आदि लिखता था और इस नाते उसने कुछ प्रसिद्धि भी पायी थी। १९४५ की मई में वह जेल से छूटा तो उसने घर मे आकर देखा कि पिताजी का स्वास्थ्य बिगड़ चुका है और घर मुश्किल से चल रहा है। जेल में जैसा भी भोजन-वस्त्र था, मिल जाता था, कोई चिन्ता नही थी, पर बाहर निकलते ही राजनीति की तो नहीं, दूसरी तरह की चिन्ताओं ने उसे घेर लिया। महंगाई बढ़ती जा रही थी, यहाँ तक कि लोग पुराने युग की याद बड़े चाव से किया करते थे और अपने जमाने को बुरा बताते थे। जयदेव ने सुना—खुशालसिंह की सरदारनी कर्तारो अपनी खिड़की से बोल उठी—"घी खाने के दिन गये। अब तो बीमारी-सीमारी मे डाक्टर कहेगा तो बोतल में ही घी आया करेगा। बहन, हम लोग अब घी की सुगन्ध से ही संतोष कर लेते है।"

बचपन से जयदेव ने गरीबी ही देखी थी, परन्तु जेल के पौने दो वर्ष उसने स्वार्थ की चिन्ता न करने वाले त्यागी वीर की भावना से काटे थे और भविष्य में योग्यता के बल पर निरन्तर सफल जीवन के स्वप्न बाँधता रहा था। वहाँ से लौट कर घर में दारिद्र्य का यह उत्कट रूप उसे अधिक असह्य लगा। जयदेव ने पिता के सामने कह दिया कि वह अब कॉलेज में नहीं पढ़ेगा।

यद्यपि अभी पाकिस्तान बहुत दूर था, यहाँ तक कि प्रान्तीय स्वराज्य के दिनों में पंजाब में लीगी मंत्रिमण्डल कायम नहीं हो सका था, फिर भी हिन्दुओं के लिए परिस्थिति खराब हो चुकी थी। एक हिन्दू ने शिकायत की और जयदेव ने सुना, "यूनियनिस्ट मिनिस्टरी मे हम लोगों के लिए नौकरियाँ कहाँ? मुसलमान और जाट को सेकण्ड डिवीजन बी० ए० पास पर नौकरी मिल सकती है। हिन्दू के लिए एम० ए० फर्स्ट डिवीजन करके भी जगह नहीं।" दूसरे मित्रों से भी आर्थिक कठिनाई की बातें सुनने को मिलीं।

जयदेव ने जेल में कुछ कहानियाँ लिखी थीं, उन्ही को इधर-उधर छपवाना शुरू किया, जिससे उस जमाने के अनुसार कुछ-कुछ पारिश्रमिक भी मिलता चला गया। स्मरण रहे कि उसका यह लेखन-कार्य सब उर्दू मे हो रहा था। अपनी कहानियों के सिलसिले में उसका परिचय एक प्रकाशक पंडित गिरधारीलाल की मझली लड़की कनक से हुआ था। कनक को उर्दू पढाई गई थी, उसने अपने-आप हिन्दी पढी थी, पर बाप का अखबार उर्दू मे निकलता था, इसलिए उर्दू के प्रति उसका झुकाव ज्यादा था। जब जयदेव ने देखा कि परिवार की हालत अच्छी नहीं है तो उसने कहीं नौकरी करने की सोची तो वह एक प्रकाशक के यहाँ गया जहाँ उसकी बहुत आवभगत हुई, पर ज्यों ही मालूम हुआ कि वह एक कहानी-लेखक के रूप में नहीं आया है बल्कि नौकरी माँगने आया है, त्यों ही उसकी हालत अजीब हो गई।...कुर्सी पर बैठाये जाते समय वह सम्मानित कलाकार अतिथि था, उठते समय कशिश साहब के अधीन पत्र का एक नौकर। अनुभूति कटु थी, परन्तु जीविका का अवलम्ब हाथ मे आ जाने की सान्त्वना ने उसे सहृदय बना दिया।

जयदेव और कनक में प्रेम-सम्बन्ध हो गया तो भीतर-ही-भीतर वे लोग मिलते-मिलाते रहे। जयदेव ने उर्दू-अखबार मे नौकरी कर ली थी और बीच-बीच मे कनक से मिला करता था। जयदेव के विचार कुछ क्रान्तिकारी नहीं तो गर्म अवश्य थे। उसने १९४६ की नाविक क्रान्ति पर एक टिप्पणी दे दी जो बहुत गर्म समझी गई और उस टिप्पणी के कारण कई लोग उसके साथ आ गए, जिनमे स्टेट फेडरेशन और कम्युनिस्ट पार्टी के लोग असद, प्रद्युम्न आदि थे। एक सभा हुई जिसमें जयदेव का भाषण हुआ पर जयदेव कम्युनिस्टो मे मिल न सका क्योंकि उस समय कम्युनिस्टों की नीति पाकिस्तान बनाने की थी। जयदेव कम्युनिस्ट दल के जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग का अर्थ यह समझता था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को दो पृथक् जातियाँ मानकर देश का पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में बँटवारा हो। जयदेव देश को बँटवारे से बचाने का उपाय समझाता था। इस विकट समस्या पर बहस करने के लिए स्टडी-सर्कल (विचार-सभाएँ) होते थे।

तारा की सहानुभूति कम्युनिस्टो के दृष्टिकोण के साथ थी, यह जयदेव को अच्छा नहीं लगा।

पाकिस्तान-निर्माण के मसले को लेकर लाहौर शहर के अन्दर काफी चख-चख मची हुई थी और राजनैतिक पहलू के अतिरिक्त बहुत तरह की बातें भीतर-ही-भीतर चल रही थीं और परिस्थिति को बिगाड़ रही थी।

यहीं थोड़ी देर रुककर यह बता दिया जाये कि हमारी राष्ट्रीयता के उदय-काल से ही उसमें अजीब तत्त्व शामिल थे। ऐसे बिम्ब, प्रतीक और सन्दर्भ थे, जिन्हें मुसलमानी आँखें पसन्द नहीं रखती थी, साथ ही एक हद तक अंग्रेजों के इशारे पर और एक हद तक अन्य धर्मों की तरह इस्लामी कट्टरता के कारण स्वयं

मुसलमानों मे सर सैयद से लेकर हाली आदि कवियों के जरिए एक अलगाव की भावना पैदा की जा रही थी। यहाँ इसके ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है, पर स्वतन्त्रता के कुछ पहले जो गड़गड़ाहटें सुनाई दे रही थी उनका चित्रण यशपाल ने किया है।

यशपाल ने अपनी पुस्तक मे उन दिनो का लगभग तारीखवार इतिहास प्रस्तुत किया है। पर यह इतिहास इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि उपन्यास के प्रवाह में कोई रुकावट नही आती। जेम्स जॉयस के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि उन्होने अपनी पुस्तको मे डबलिन शहर का ऐसा चित्र जगह-जगह प्रस्तुत किया है कि यदि किसी कारण से डबलिन शहर समाप्त हो जाए तो जेम्स जॉयस की किताब से उसका पुनर्निर्माण सम्भव होगा। इसी प्रकार से यशपाल ने लाहौर का न केवल भूगोल, बल्कि उन दिनो का इतिहास भी प्रस्तुत किया है।

लीग का आन्दोलन बहुत बढता जाता देखकर खिजर मिनिस्ट्री ने अनेक नगरों मे दफा १४४ लगाकर जुलूसों और सभाओं पर रोक लगा दी थी। लाहौर में मुस्लिम-लीग ने दफा १४४ के विरोध मे अहिंसात्मक-सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। आशा नही थी कि लीग भी कांग्रेस की भाँति अहिंसात्मक रहकर आन्दोलन जारी रख सकेगी। आशंका थी कि लीग के स्वयंसेवक उत्तेजित होकर मारपीट करेंगे और सरकार की सशस्त्र शक्ति से सामने दब जायेंगे। मुस्लिम लीग के बड़े-बड़े नेता—फिरोज खाँ नून, इफतखारुद्दीन, गजनफ़रअली खाँ सत्याग्रह करके जेल चले गए थे, परन्तु प्रतिदिन लीग के स्वयंसेवकों के अहिंसात्मक जुलूस निकलते। पुलिस उन पर लाठी चलाती। स्वयंसेवक अहिंसात्मक रहकर—'अल्ला हो अकबर, मुस्लिम-लीग जिन्दाबाद, खिजर मिनिस्ट्री मुर्दाबाद, पाकिस्तान लेके रहेंगे, लीग मिनिस्ट्री क़ायम हो, हिन्दू-मुस्लिम एक हो!" के नारे लगाते रहते और गिरफ्तार हो जाते।

इन जुलूसों में रेलवे मजदूर और स्टूडेंट फेडरेशन के लोग भाग नहीं ले रहे थे। परीक्षाएँ समीप आ रही थी। तारा अधिक से अधिक समय पढ़ाई मे लगाने लगी थी पर कभी स्टडी-सर्कल की खबर पाती तो चली भी जाती। असद प्रायः मिल जाता, परन्तु अकेले में देर तक बात कर सकने का अवसर नहीं आता।

तारा के साथ असद की दोस्ती बढ़ती जा रही थी। पर साथ ही देश का नाटक दूसरे ढंग से परिपक्व होता जा रहा था और वह तारा और असद के मिलन के बिलकुल विपरीत जा रहा था। यशपाल ने उस दृश्य का भी वर्णन किया है जब मास्टर तारासिंह ने मुसलमानों को धमकाया था और उसके कारण स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती चली गई थी।

मास्टर तारासिंह ने प्रधान की अनुमति की प्रतीक्षा न कर अपना भाषण आरम्भ कर दिया—"हम पंजाब में मुसलमानी की हुकूमत हर्गिज बरदाश्त नहीं करेंगे! ...आप लोग तवारीख को मत भूलिये। सिक्ख कौम मुसलमानों के खिलाफ लड़-लड़कर ही इतनी बड़ी हुई है...अगर हमें मुसलमानों की हुकूमत बर्दाश्त

करनी है तो श्री दसमेश (गुरु गोबिन्दसिंह) ने ओतार किसलिए धारण किया था ?"

फिर तो हत्याएँ आदि शुरू हो गई। पहले दौलू मामा की हत्या का दृश्य दिखलाया गया है, जिसे मुसलमानों ने मारा था। वह एक बहुत ही साधारण और निर्दोष व्यक्ति था जिसे हिन्दू और मुसलमान सभी पसन्द करते थे और पीढ़ी दर पीढ़ी सभी उसे 'मामा-मामा' कहते थे।

इसी के साथ तारा के विवाह की बात भी चल रही थी। असली बात तो यह थी कि तारा का विवाह उसी समय सोमदेव नामक एक व्यक्ति से तय हुआ था जिसे तारा नहीं चाहती थी। तारा तो असद के साथ विवाह करना चाहती थी। उधर कनक का भी बुरा हाल था क्योंकि कनक के पिता बड़े आदमी थे और उन्हें मालूम हो चुका था कि यह जयदेव से प्रेम करती है। हद तो यह है कि उसके पत्र भी छिपकर पढ़े जाते थे। फिर भी कनकपुरी से उस समय हवालात में मिल आयी जब कि वह हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के शक मे गिरफ्तार होकर बन्द था। कनक के बहनोई ने कनक को तरह-तरह से समझाया कि प्रेम करना और बात है और शादी करना और इस तरह उसने ब्रह्मास्त्र के रूप में कनक से यह कहा कि जयदेव यो तो प्रेम का बड़ा प्रतिपादक बनता है, पर तारा का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध कर रहा है। बाद मे जब जयदेव से कनक ने इस सम्बन्ध मे पूछा तो जयदेव साफ झूठ बोल गया। उसने यह कहा कि तारा की सगाई पहले हो चुकी थी और तारा ने कभी खुल कर विरोध नहीं किया तारा की शादी हो गई और उसके पति को मालूम हो गया कि तारा उससे शादी नहीं करना चाहती थी, इसलिए उसने एक दिन उसकी बहुत मारपीट की जिसमें वह तंग आकर भागी और एक मुसलमान के हाथ लग गई जिसने उस पर बलात्कार किया। उस बलात्कार से उसके परिवार और पड़ोस में क्या परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, यह यशपाल ने निष्पक्ष होकर दिखाया है। उसके बाद मुहल्ले वाली मुसलमानियों ने उसकी किस प्रकार मदद की, यह भी दिखाया गया है। तारा की हालत ऐसी हो गई जो इन शब्दों में व्यक्त है :

"हजारों बार सुनी हुई बात याद आयी—मनुष्य के चाहने से कुछ नहीं होता, होता वही है जो भगवान चाहता है। भगवान अभी मेरा और क्या करना चाहता है ? मुझे और क्या दण्ड देना चाहता है ? पिछले जन्म के ऐसे क्या पाप है ?··· कौन-से पाप ? इस जन्म के किन कर्मों का दण्ड है ? सोमराज से विवाह न करने की इच्छा का ? या असद के साथ चले जाने की इच्छा का ? सोमराज से तो विवाह कर ही लिया। अब मेरा और क्या होने को शेष है ? मरने की भी स्वतन्त्रता नहीं···शायद नरक की यातना मे, नरक की भट्ठी मे जीवित जलाये जाना, गरम तेल में खौलाये जाना, आरे से सिर चीरा जाना बाकी है; जो होना है, जल्दी हो···"

यह स्थिति कुछ-कुछ अस्तित्ववादी परिस्थिति से मिलती है। पुरी की भी

ऐसी हालत हो चुकी थी जिसका वर्णन यों किया गया है –

"वैसी चिन्ता अब उसे (पुरी को) व्यर्थ जान पड़ती थी। लाखों आदमियों का समाज उसके विचार से नहीं चल सकता था। मानव-मधुमक्खियों का छत्ता जाने किस सामूहिक प्रेरणा से चल रहा था। उस सामूहिक मार्ग से भिन्न मार्ग किसी व्यक्ति के लिए अपना लेना सम्भव न था। इस समूह में सभी की अपनी-अपनी चिंताएँ भी थीं।"

तारा और कनक की परिस्थितियों में हम हिन्दू-समाज में स्त्रियों की हालत को अच्छी तरह देख सकते हैं। साथ ही, विभाजन से किसप्रकार तारा और कनक पर प्रभाव पड़ा और किस प्रकार वे अपने प्रेमियों से मिल नहीं सकीं, इसका पूरा ब्यौरा आ जाता है। यशपाल ने न केवल यह दिखलाया है कि हिन्दुओं ने मुसल-मानों पर अत्याचार किये और मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये, बल्कि वह स्थिति भी दिखाई जब हिन्दुओं ने हिन्दुओं को लूटा।

इन्हीं परिस्थितियों मे भारत और पाकिस्तान दो देश बन गए और 'झूठा सच' के इस पहले भाग का अन्त ड्राइवर के इन अत्यन्त मार्मिक शब्दों मे होता है :

' रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उसे दो कर लिया…"

इसके बाद दूसरा भाग शुरू होता है जो पहले भाग से भी बड़ा है।

डिमाई आकार के ७१० पृष्ठों मे यह भाग समाप्त हुआ है। पर इसमें यश-पाल ने क्या प्रमाणित किया है इसे यदि हम देखें तो हमें कुछ आश्चर्य होगा। इसमें मुख्यतः दो पात्र है—एक पुरी और एक सूद साहब। पुरी अब लाहौर से भागा हुआ एक शरणार्थी है। इस रूप में यशपाल ने शरणार्थियों की सारी समस्याएँ, उन पर आने वाली सारी विपत्तियाँ और किस प्रकार से इन शरणार्थियों ने अपने पुरुषार्थ से सिर ऊँचा करके फिर एक बार धरती पर पग जमा लिए, यह दिखाया है। सूद का जीवन एक काग्रेसी नेता का जीवन है, वह सत्य के बहुत पास रहने की चेष्टा करता है, वह जान-बूझकर कोई बड़ी बेईमानी नहीं करता, फिर भी बहुत-सी छोटी बेईमानियाँ हो ही जाती है। वह अपने दल के प्रभुत्व तथा नेतागीरी को क़ायम रखने के लिए अधिक तो नहीं, पर कुछ न कुछ जाल-फरेब रचता ही रहता है। वह बढ़ते-बढ़ते मंत्री तक हो जाता है, पर अन्त मे हम यह देखते हैं कि वह अपनी सारी चालाकियो के बावजूद सत्रह सौ वोटो से हार जाता है। इस पर एक पात्र कहता है, और यही उपन्यास के अन्तिम शब्द है—"गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नही हे। जनता सदा मूक भी नही रहती। देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियो की मुट्ठी में नही है, देश की जनता के ही हाथ में है।"

इन शब्दों से क्या ध्वनि निकलती है? क्या यह ध्वनि नहीं निकलती कि लोकतंत्र से ही सारी समस्या सुलझ सकती है और क्रान्ति की कोई आवश्यकता नही है, जबकि समाजवादी विचारधारा का यह एक तरह से मौलिक उपपाद्य है

कि लोकतंत्र से भले ही किसी क्षेत्र में कुछ हो जाए, पर लोकतंत्र असल में वह अंजीर का पत्ता है जिससे पूँजीवादी वर्ग का खूँखारापन तथा उसकी नग्नता ढंकी रहती है।

इस प्रकार आधारभूत रूप मे यशपाल ने एक पुस्तक लिखी है जो लोकतंत्र की बाइबिल बन सकती है और जो कट्टर समाजवादी विचारधारा के विरुद्ध जा पड़ती है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यशपाल ने यह जो कहा है कि देश का भविष्य जनता के ही हाथ में है, तो जनता वोट भी दे सकती है और क्रान्ति भी कर सकती है। इस उपन्यास मे केवल वोट देने का ही पहलू दिखलाया गया है। पर इस कारण जनता के हाथों से क्रान्ति का अस्त्र छीना तो नही गया है।

मैने सबसे पहले इस उपन्यास के राजनैतिक पक्ष को लिया। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस उपन्यास मे केवल राजनीति-ही राजनीति है। नही, यह उपन्यास बहुत विस्तृत अर्थ में जीवन के सभी पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है। बन्ती के जीवन मे हम यह देखते है कि हिन्दू समाज कितना गुमराह और बेदर्द हो सकता है। बन्ती बड़ी मुश्किलों से ढूँढ-ढाँढ कर अपने पति के घर पहुँची तो उसे उसके घरवालो ने निकाल दिया। कहा गया कि तुम्हारा धर्म नष्ट हो गया है। इस पर एक नौजवान ने क्रोध में किवाडो पर धक्का देकर कहा—"बेशर्मो ! कसूर तुम्हारा नही तो किसका है ?" पर इसका कोई असर नही हुआ। बन्ती को घर में घुसने नही दिया गया। फट्ट से आवाज हुई। बन्ती ने अपना माथा दहलीज पर पटक दिया था। पाँच, दस, बीस बार बन्ती दहलीज पर माथा पटकती गई। उसका गला रुँध गया, परन्तु वह दहलीज परअपना सिर मारती ही जा रही थी। अन्त में बन्ती वही मरी मिली। जब वह मर गई तो उसे सती बना दिया गया। इस घटना में और बाद मे, तारा के पूरे जीवन मे, यशपाल ने भारतीय हिन्दू नारी की दुःखभरी कहानी लिखी है जो अविस्मरणीय है और जिसके लिए हमारा धर्म जिम्मेदार है।

उपन्यास मे अगरवाला-परिवार का चित्रण भी बहुत सुन्दर रूप मे हुआ है। कांग्रेस की भक्ति और साथ ही साथ सब तरह के नैतिक सिद्धान्तों को तिलाजलि देना, मिसेज़ अगरवाला का यह कहना कि मैं तब तक जरा मुँह धोकर यह मरी खद्दर की साड़ी बदल लूँ, कमर पर मूँज की तरह गड रही है, बहुत ही मार्मिक है। इन्ही मिसेज अगरवाला ने आगे गांधी जी कीमृत्यु का समाचार सुनकर जल्दी से खद्दर की साड़ी पहन ली थी। वह गांधीजी के शव के साथ जुलूस में जाने के पहले शिवनी को बुलाकर बोली—"माँ जी कोकहकर हमारेऔर साहब के नाश्ते के लिए पराँठे बनवा दो। हम दोपहर में खाने के लिए नहीं आयेंगे।"

अगरवाला-परिवार के चित्रण मे यशपाल शायद उन पूँजीपति परिवारो का चित्रण करना चाहते है जो कांग्रेस के बहुत निकट थे और युद्ध-कोप मे लाखों और कांग्रेस को हजारों रुपये का चन्दा देते थे। इन चित्रणों के अलावा लेखक ने यत्र-

तत्र कांग्रेसियों के विरुद्ध बहुत तरह के विद्रूप किए है, जैसे —"कांग्रेसियों ने गांधीजी से एक ही बात सीख ली है कि चाहे जिस लड़की या स्त्री के कन्धे पर हाथ रख लें। सभी अपने को राष्ट्रपिता समझने लगे हैं।"

एक जगह एक पात्र उत्तेजित होकर कह रहा है—"दो ही साल में 'गांधी की जय' खोखली पड़ गई है। सब शासन पुराने आई०सी०एस० लोग चला रहे है। उन लोगों ने सेवा करना नही, शासन करना सीखा है। उन्हे डेमोक्रेसी नही, ब्यूरोक्रेसी चाहिए। वही कानून है, वही पुलिस का राज। रेवोल्यूशन इज चेंज ऑफ रूलर्स (क्रान्ति मे शासक बदल जाते है)। रेवोल्यूशन हुआ कहा, आप ही बताइए ?"

इस उपन्यास के मुख्य पात्रों के जीवन पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो ऐसा ज्ञात होगा कि उनके जरिये युग सम्पूर्ण रूप से अपने पूरे वैविध्य मे प्रतिफलित हो रहा है। इस उपन्यास का सबसे मुख्य पात्र जयदेव है। यदि देश का विभाजन न होता तो हम आशा करते है कि वह अपनी लेखन-प्रतिभा की बदौलत किसी पत्र का सम्पादक हो जाता या, जैसा कि उस युग मे होता था वह स्वयं किसी मित्र की सहायता से एक पत्र निकालता और उसका सम्पादक और प्रकाशक हो जाता और समाज पर अपनी छाप छोड़ जाता। जयदेव पहले से एक साधारण भद्र युवक के रूप मे विकसित हो रहा था कि तभी १९४२ के आन्दोलन में वह जेल गया। वही से उसने मानो अपने जीवन का मूल स्रोत दूसरो को अर्पित कर दिया और वह मूल स्रोत से बहका तो नहीं पर किसी न किसी रूप मे स्रोत का शिकार होता चला गया। यदि वह जेल न जाता तो एम० ए० पास कर लेता और लेखक के साथ-साथ डिग्रीधारी होने के कारण वह एक सफल नागरिक बन सकता था, पर जेल जाने के कारण वह बराबर विरोधी-परिस्थितियो से जूझता रहा और अन्त में हम उसे एक बेईमान छोटे-मोटे नेता के रूप मे देखते है।

यही बात उसकी बहन तारा के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है कि उसके जीवन मे युग का प्रतिफलन भरपूर है, पर बिलकुल दूसरे ही आयाम में। इसी के साथ प्रमुख पात्र सूद साहब के विषय मे हम देख चुके है कि किस प्रकार वह शरणार्थी बनकर आए और धीरे-धीरे एक ढोंगी नेता बने। जैसा कि हम पहले बता चुके है, उपन्यास की सफलता इसी मे है कि पात्र मुख्य हों या गौण, उसके जरिये से युग प्रतिफलित हो, पर साथ ही सभी लोग अपना-अपना जीवन जीते है, तभी राजनैतिक उपन्यास कलाकृति बन सकता है।

इस प्रकार इस पुस्तक मे अभी हाल के सालो का बहुत विस्तार के साथ वर्णन और चित्रण है। सम्भव है कि कहीं-कहीं अर्द्धसत्य और अतिरंजन हो, लेखक के क्रान्तिकारी संस्कार उनमे प्रतिफलित है, पर लेखक ने जो कुछ भी कहा है वह बहुत जबर्दस्त तरीके से कहा है और अकसर उसे सत्य का जामा पहनाने में सफलता प्राप्त की है। वह वर्तमान शासकों से बहुत असन्तुष्ट है, पर उनकी इतनी बडी पुस्तक मे वैकल्पिक शासकों की कोई रूपरेखा हमारे सामने नहीं आती जिससे मान लिया जाए कि लोग गए-गुजरे है, इनकी जगह ये लें। पता नहीं

लेखक अपने पाठक से क्या और किन लोगों की सिफारिश करता है ? उन्होंने यह तो लिखा है—"एक महात्मा के पीछे हजारों पाखण्डी होते हैं। भगतसिंह या रेवोल्यूशनरियों का अनुकरण पाखण्ड से नहीं किया जा सकता। वहाँ तो जान की बाजी ही सब कुछ होती है।" पर वर्तमान समय में भगतसिंह और क्रान्तिकारियों का क्या रूप होगा और क्या रूप है, इसको लेखक ने स्पष्ट नहीं किया। हम इसके लिए लेखक को दोष नहीं देते, क्योंकि जो लोग आज असन्तुष्ट हैं उन सबकी विचारधारा में यही खामी है। वे वर्तमान की बुराई करते हैं और बहुत कुछ सही बुराई करते हैं, पर अकसर कोई विकल्प सामने नहीं रखते। इस प्रकाण्ड उपन्यास में भी कोई वैकल्पिक इंगित या दल या व्यक्ति सामने नहीं आता जिसके सम्बन्ध में पाठक यह कह सके कि भई, ये लोग तो खराब हैं, ये अच्छे हैं।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यह उपन्यास एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख है जिससे हमारे समाज के हर पहलू और हर हिस्से पर तेज रोशनी पड़ती है। हम किसी उपन्यासकार से यह आशा करें कि वह हमें रास्ता भी दिखाएगा तो यह शायद बहुत अधिक आशा करना होगा। लेखक इस उपन्यास में यह साफ कर देता है कि वर्तमान समाज में बहुत-कुछ सड़ा हुआ, गला हुआ, कीड़ा लगा हुआ, जहरीला है और उसे सुधारने, तोड़कर बनाने की जरूरत है। पर यह कैसे होगा, उसके लिए क्या-क्या साधन काम में लाए जाएँगे, इस पर पाठक स्वयं सोचें।

अन्त में हम लेखक की तकनीक के सम्बन्ध में एक मौलिक प्रश्न उठाना चाहते हैं। क्या उपन्यास-लेखक को यह आजादी है कि वह इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के मुंह से जो चाहे सो कहलवाये, जो चाहे बयान दिलवाये। मैंने भी अपने ढंग से इस दिशा में अपनी क्षुद्र शक्ति के साथ कुछ कार्य किया है, पर मैं यह समझता हूँ कि यदि उपन्यासकार या कहानीकार हाल के इतिहास के किसी व्यक्ति को अपनी रचना में घसीटता है तो उसके लिए यही उचित है कि वह उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के वक्तव्य प्रामाणिक ढंग से पेश करे यानी केवल उन्हीं वक्तव्यों को पेश करे जो उन्होंने वाकई दिये। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यशपाल ने इस पुस्तक में महात्मा गांधी, जवाहरलाल आदि के मुँह से ऐसी बातें कहलवाई हैं जो शायद ऐतिहासिक नहीं हैं यानी वस्तुतः उन लोगों ने उस अवसर पर उस दिन और उस घड़ी वे बयान नहीं दिये। पर यशपाल का कहना है कि उन्होंने सन्-तारीख ही नहीं, वक्तव्य भी सही-सही उद्धृत किये हैं। इस सन्देह के अलावा मैं यह मानता हूँ कि इस उपन्यास में यशपाल ने हिन्दी उपन्यासकार तथा कहानीकारों के लिए तकनीक की दृष्टि से भी एक चुनौती प्रस्तुत कर दी है जिसे निभाने तथा अनुकरण करने में ही अन्य लेखकों का गौरव बढ़ेगा। 'झूठा सच' हिन्दी का एक अमर उपन्यास और कलाकृति है।

सामाजिक जीवन-संक्रांति का जीवन्त आलेख : 'बूँद और समुद्र'

नेमिचन्द्र जैन

अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' घटनाओं और चरित्रो के चारों ओर बुना हुआ ऐसा उपन्यास है जिसे एक प्रकार से प्रेमचन्द की परम्परा में माना जा सकता है। प्रेमचन्द मूलत: सामाजिक परिस्थितियों और समस्याओ पर, व्यक्ति के जीवन के साथ उनके प्रकट संघात पर बल देते थे, और उसी परिप्रेक्ष्य मे मनुष्यो के बाह्य आचरण के चित्रण द्वारा उनके मानसिक संघर्ष और नैतिक अन्तर्द्वन्द्व का अकन करते थे। उन्होंने मुख्यत. व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को ही अपनी व्यापक और अशेष सहानुभूति द्वारा पहचाना और चित्रित किया है। उनकी रचनाओ मे सहानुभूति की यह व्यापकता जितनी मिलती है, व्यक्ति की निजस्व भावनाओं और पीड़ा की गहराई उतनी नही मिलती। किन्तु उनके परवर्ती उपन्यासकारो का ध्यान व्यक्ति की ओर भी गया। उन्होने समझा कि समाज मूलत: व्यक्ति की अधिकतम आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्ति का ही साधन है और सामाजिक समस्याएँ इसीलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे मनुष्य के इस चरम उत्कर्ष, उसकी सार्थकता के चरम प्रतिफलन के साथ जुड़ी हुई होती है— उसमें बाधा बनती है अथवा सहायक होती है। साथ ही, व्यक्ति भी समाज में रहकर अपने व्यापक उत्कर्ष के उद्देश्य से अपने तात्कालिक, क्षणस्थायी और क्षुद्र स्वार्थों का परित्याग करता है और इस भाँति अपनी आत्मोपलब्धि के, अपने व्यक्तित्व के, पूर्णतम विकास का मार्ग अधिक प्रशस्त करता है। व्यक्ति की ऐसी महत्ता प्रेमचन्द के युग तक हमारे सामाजिक जीवन में ही स्पष्ट न थी। इसलिए उस युग के साहित्य मे भी व्यक्ति के इस रूप का, समस्या के इस पक्ष का कोई चित्र नही मिलता, न उसको समझने अथवा सुलझाने की चेतना ही दीखती है।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारो ने कई रूपो और स्तरो पर इस कमी को पूरा करने का यत्न किया। वे या तो व्यक्ति के केवल निजी आंतरिक जीवन का अनुसंधान करने मे लगे या फिर सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं को एक प्रकार से समानांतर अथवा परस्पर सम्बद्ध मानकर उनके बीच प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सूत्रों की खोज करने लगे। फलत:एक ओर व्यक्ति के आचरण और उसके अंत: संघर्ष के अध्ययन मे अधिक तीव्रता और गहराई आयी, और दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं को भी एक नई सार्थकता और उनके चित्रण को एक नयी

गम्भीरता प्राप्त हुई। 'बूँद और समुद्र' इसी शृंखला का बड़ा उल्लेखनीय उपन्यास है जिसका प्रकाशन सन् १९५६ में हुआ है। उसकी दुनिया भी वैसी व्यापक, विस्तृत और जनसकुल है जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिला करती थी। किन्तु साथ ही उसमें व्यक्ति के मन की एकान्त निजी भावनाओं, कुण्ठाओं, उलझनों और आत्मसंघर्ष को समझाने का भी बड़ा सच्चा प्रयत्न दिखाई पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शहरी जीवन के विभिन्न स्तरों के, विशेषकर निम्न और उच्च मध्यवर्ग के अथवा किसी हद तक सुसम्पन्न वर्गों के भी, जीवन का ऐसा सूक्ष्म और बहुमुखी किन्तु साथ ही अधिक से अधिक सहृदयतापूर्ण रूपायन हिन्दी-उपन्यासों में बहुत कम ही देखने को मिलता है। 'बूँद और समुद्र' में एक पूरे नगर, एक पूरे समाज के जीवन के कुछेक महत्त्वपूर्ण वर्ष सजीव हो उठते हैं। उसमें जहा एक ओर परम्परागत जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, विचार-विवेक, पुरानी चाल के लोगों, और उनकी जीवन-दृष्टियों का सटीक चित्रण है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियों, विचार-धाराओं और परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली जीवन-दृष्टियाँ, व्यक्ति और उनकी समस्याएँ, रहन-सहन, उलझनें आदि भी अधिक से अधिक व्यापकता में मौजूद है। एक ओर ताई, नन्दो, बड़ी, कल्याणी, राजाबहादुर, द्वारका-दास, ताने दलाल, मनिया जैसे लोग हैं तो दूसरी ओर वनकन्या, चित्रा, शीला स्विग, सज्जन महिपाल जैसे लोग भी हैं। जहाँ एक ओर आटे के पुतले बनाकर मारण-मंत्र के उपयोग मे पक्का विश्वास करने वाले, एक स्तर पर अत्यन्त सहज-सरल किन्तु दूसरे स्तर पर अत्यन्त उलझाव भरे प्राणियों की दुनिया है वहीं हवाई जहाज से पर्चे गिराकर चुनाव के आन्दोलन की सरगर्मियाँ भी है। और साथ ही इन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न दुनियाओं को जोडने वाली कड़ियाँ भी कम नही है। कर्नल रामजी, मि० वर्मा, तारा ऐसी ही कड़ियाँ है जो इन दोनों दुनियाओं के बीच आर-पार गुँथी हुई हैं।

एक प्रकार से 'बूँद और समुद्र' मे इन दो भिन्न जीवन-पद्धतियों और जीवन-दृष्टियों का इतना विस्तृत और व्यापक, किन्तु एक हद तक एक-दूसरे से असंबद्ध चित्रण ही उपन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषता है और उसकी दुर्बलता भी। निस्सन्देह लेखक ने ऐसे कई सूक्ष्म और सुस्पष्ट दोनो प्रकार के सूत्रो को उपस्थित करने का यत्न किया है जिनसे ये दोनों जगत एक-दूसरे से सम्बद्ध और प्रभावित होते हैं, एक-दूसरे की समस्याओं को जन्म देते और सुलझाते है, एक-दूसरे का संस्कार करते है। इस प्रकार जहाँ हमारे आज के आधुनिक जीवन और उसकी समस्याओं की जड़े, विशेषकर इन समस्याओ के साथ उलझने वाले व्यक्तियो के संस्कारों के मूल रूप, किन्हीं परिचित-अपरिचित पुरानी मान्यताओ, धारणाओ और आचार-व्यवहार में छिपे हुए है और अपना वर्तमान रूप उन्हीं सस्कारों द्वारा प्राप्त करते हैं वहीं दूसरी ओर इन आधुनिक प्रवृत्तियो और विचारों के संघात से जीवन की पुरानी मान्यताएँ धीरे-धीरे विघटित हो रही है, विशृंखल हो रही है,

और नए तत्त्व उन्हें एक नया ही रूप प्रदान कर रहे हैं—यह रूप न तो पुराना है और न नया ही, इसलिए चरित्रहीन है, किसी हद तक पापहीन, जर्जर और आधारहीन है। सामाजिक जीवन की इस संक्रान्ति का अध्ययन आज के महाकाव्य का विषय है और इसमें कोई शक नहीं कि अमृतलाल नागर ने अपने इस उपन्यास को 'महाकाव्य का फलक' ही प्रदान किया है और उसे उतनी ही गरिमा तक उठाने और रक्षित रखने का प्रयत्न भी किया है। 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के जिस चौक का चित्र नागर जी ने उपस्थित किया है उसमें एक जीवन-व्यवस्था टूटती और एक नई जीवन-व्यवस्था जन्म लेती दीखती है। इसीलिए उपन्यास में एक ओर प्राचीन शिखरों के ढहने की करुणा है तो दूसरी ओर नई आलोक-किरण की प्रथम रोमांचकारी सिहरन भी।

टूटती हुई पुरानी व्यवस्था और जन्म लेती हुई नई व्यवस्था के इस सम्बन्ध को दिखाने के लिए नागरजी ने उपन्यास मे कई-एक कथा-सूत्रों और जीवन-खंडो का समानांतर प्रयोग और चित्रण किया है : चौक की गलियों मे पुरानी परम्पराओ के अनुसार चलने वाली जिन्दगी, जिसकी केन्द्र ताई है : इस जिन्दगी को परिधि से छूकर निकलती हुई, या किसी हद तक काटती हुई, वनकन्या और सज्जन की जीवन-गाथा, और सज्जन के मित्र होने के नाते इस जीवन से हल्की सी जुड़ी हुई लेखक महिपाल, उसके परिवार और प्रेमिका डा० शीला स्विंग की कथा। मुख्य सूत्र ये तीन ही है, पर इनको बीच-बीच में काटते-गूँथते चलनेवाले अन्य प्रसंग है, जैसे बड़ी-विरहेश काड, महिला-सेवा-मंडल का भंडाफोड, राधा-कृष्ण विवाह आदि; विविध व्यक्ति है, जैसे कर्नल, रामजी बाबा, चिन्ना आदि। इस प्रकार बड़े पैमाने पर लेखक ने जीवन को समेटना चाहा है और अनगिनती व्यक्तियों, घटनाओ और समस्याओ को एक साथ पिरोने की कोशिश की है—यहा तक कि प्रभाव की एकाग्रता नष्ट होने लगती है और सारा उपन्यास असंख्य रेखाचित्रों की लड़ी जैसा लगने लगता है। वास्तव मे मुख्य प्रसंगो में से प्रत्येक अपने-आप मे एक विराट उपन्यास के फलक पर उठाया और चलाया गया है। इन स्वायत्त-सूत्रों की अपनी-अपनी अलग सत्ता और गति है। वे एक-दूसरे को कही-कही स्पर्श करने पर भी स्वतः सम्पूर्ण है और केवल व्यक्तियों के माध्यम से एक-दूसरे से थोड़ा-बहुत जुड पाते है। इस प्रकार 'बूँद और समुद्र' में प्रधानता विभिन्न पात्रों की है जो कुछेक सूत्रो से विभिन्न स्तरों पर, जिन्दगी के विभिन्न क्षेत्रों में, एक-दूसरे से सम्बद्ध तो है, किन्तु कोई एक समन्वित सूत्र नही उभरता जो विभिन्न तत्त्वों को अपने भीतर आत्मसात् कर जीवन की समग्रता को सम्प्रेषित करता हो। विभिन्न प्रमुख कथा-सूत्र अपने सहारे 'पारम्परिक' और 'आधुनिक' जीवन-पद्धतियों, दृष्टियों और व्यवस्थाओ के चित्र मात्र उपस्थित करते है जो कहीं-कहीं सम्बद्ध होकर भी स्वतंत्र है। कुल मिलाकर उनसे टूटती-बनती संक्रान्तिकालीन जीवन-व्यवस्था की झाँकी भले ही मिले, पर जीवन की कोई अखंड स्थिति अपनी आन्तरिक द्वन्द्वात्मकता में, विभिन्न तत्त्वों की संघर्षमयता में, उभरकर सामने

नहीं आती।

बल्कि इन विभिन्न जीवन-खंडो का अलग-अलग अनुसरण करते-करते अंत में यह लगता है कि नागरजी वास्तव में उस पुरानी पारम्परिक दुनिया को ही जानते और समझते है, उसी के साथ उनका आन्तरिक व आत्यतिक लगाव है। इसी से उनके जितने प्रामाणिक और सच्चे चित्र इस पुरानी दुनिया के है उतने नयी दुनिया के नहीं। नन्दो, ताई, बड़ी, मनिया, लाले दलाल, टिल्ली उस्ताद और उनका अखाड़ा, गोकुलद्वारा के गितरिया जी, जलघड़िया जी कीर्तनिया जी, मुखिया जी, खन्ना की बहुरिया आदि के चित्र सम्पूर्णत: सजीव ही नही, उनके अंकन में ऐसा सूक्ष्म कला-बोध है और सहज सहानुभूति के साथ-साथ ऐसा कलाकार का संयम भी है, जो उन्हे हिन्दी के कथा-साहित्य में बेजोड़ बनाता है। सज्जन, महिपाल, चित्रा, वनकन्या के चित्र इतने प्रामाणिक नहीं। दोनों में यह अन्तर इतना स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि एक से लेखक का आत्मीय और गहरा परिचय तथा दूसरे से एक प्रकार का काल्पनिक लगाव पूरी तरह उजागर हो उठता है। पुरानी दुनिया के ये सब पात्र अपने स्वाभाविक सम्पूर्ण परिवेश में अपनी समस्त सम्भावनाओ, दुर्बलताओं और क्षमताओ के साथ प्रकट होते है, वे अपने जीवन का सुपरिचित मार्ग बडी सहजता के साथ तय करते हुए अपनी चरम परिणति प्राप्त करते है। उसमें नन्दो की विकृति अथवा बड़ी की दुर्गति दोनो एकदम सहज लगती है। यह दुनिया एक प्रकार से अपने-आप में पूर्ण है। और यदि केवल इसी के संदर्भ मे देखा जाय तो इस अंश के चित्रण मे विस्तार की इतनी बातें प्रस्तुत करने पर भी प्राय: ऐसा अनुभव नहीं होता कि यह केवल ऐतिहासिक अथवा सामाजिक डायरी अथवा घटनाओं और व्यक्तियो का संग्रह मात्र है। नागरजी इस जीवन के विभिन्न पक्षों और तत्त्वो को बड़ी सूक्ष्म कला-दृष्टि के साथ समन्वित करके रख सके है जिससे हर चित्र अपने-आप मे सम्पूर्ण होकर भी एक बृहत्तर चित्र का अंग जान पड़ता है।

इसीलिए वास्तव मे देखा जाए तो 'बूँद और समुद्र' की मुख्य पात्र ताई है। वह हिन्दी कथा-साहित्य की एक अद्वितीय सृष्टि है जिसकी गणना होरी और शेखर जैसे पात्रों के साथ होगी। ताई का व्यक्तित्व असाधारण है। उसका क्रोध भी जैसा असंयत और अनियन्त्रित है वैसा ही निश्छल और उत्कृष्ट उसका स्नेह और ममत्व भी। उसमें तीव्र प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की धधकती हुई ज्वाला है, तो दूसरी ओर असीम करुणा का सागर भी। ऐसा सजीव और सप्राण चरित्र हिन्दी उपन्यासों मे बहुत कम देखने को मिला है। ताई जीवन की अनन्त सार्थकता और अनिवार्य दुखान्तता को एक साथ मूर्त करती है। इन दो परस्पर-विरोधी तत्त्वो को नागरजी जिस रासायनिक प्रक्रिया से समन्वित कर पाए है वह उनकी अपूर्व क्षमता और प्रतिभा की परिचायक है। निस्सन्देह लेखक को जितनी अगाध और अपरिमित करुणा तथा सहानुभूति उँडेल कर ताई के चरित्र को निर्मित करना पड़ा होगा कि उससे मार खाकर भी, उससे गालियाँ सुनकर भी, उसे भयंकर से भयंकर मुद्राओं में देखकर भी, हमारा स्नेह उस पर कम नही होता।

वह मनुष्य के बच्चों को मारने के लिए पुतला बनाती है और बिल्ली के बच्चों को प्यार करने के लिए अपना नेम-धर्म सब कुछ छोड़ देती है। अन्त में जब वह अपने पति को मारने के लिए 'मूठ' चलाती है और फिर एकाएक जोर से 'नईं, नईं, नईं' चीखती हुई बड़ी तेजी से और व्यग्रता से मंत्र पढ़कर मूठ को अपने ऊपर लौट आने के लिए पुकारती है तो उसके संस्कारों की ट्रैजेडी और व्यक्तित्व की गहराई एक साथ प्रकट हो जाती है। 'बूँद और समुद्र' का मूल उत्स और केन्द्र ताई और उसके चारों ओर का वह सारा सरल और उलझा हुआ, संस्कारनिष्ठ और संस्कारभ्रष्ट, परोपकारी और स्वार्थी, आत्मीय और निर्मम परिवेश ही है जिसमें ताई उत्पन्न होती है, जीती है और विलीन हो जाती है। यदि उपन्यास मूलतः उसी की जीवन-गाथा और कार्य-कलाप के घेरे को लेकर विकसित होता और उसकी मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता तो सम्भवतः कही अधिक सशक्त और सक्षम लगता। उसकी मृत्यु के बाद तो बाकी सब घटनाएँ उपसंहार जैसी लगती हैं, उनमे अधिक सजीवता नहीं आ पाती।

यही बात सज्जन और वनकन्या के प्रेम तथा महिपाल और उसके जीवन की दुखान्त परिणति के बारे मे नहीं कही जा सकती। यह अकारण नही है कि जहाँ पहली दुनिया के चित्रण मे लेखक ने उसके निवासियो के सहज सरल आचार-व्यवहार द्वारा जीवन की गहराई और उनके चरित्र की सूक्ष्मता प्रकट की है, वहाँ सज्जन, महिपाल, वनकन्या, शीला, चित्रा आदि के साथ उसने बेशुमार वाद-विवाद, चर्चा, विवेचन-विश्लेषण आदि का अम्बार लगा दिया है। पर फिर भी उनके जीवन मे गहराई नही आ पाती। इन 'आधुनिक' पात्रो को हम उनके सहज वास्तविक जीवन रूप मे, जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया द्वारा नहीं जानते, हम कही अधिक परिचित होते है उनके विचारो से, उनकी बौद्धिक मान्यताओं से, उनकी बहस और चर्चा से, अपने ही विषय से उनके आत्म-चिन्तन से और आत्म-विश्लेषण से। इसलिए ये सब पात्र अवास्तविक और काल्पनिक लगने लगते है। उनके चरित्र की रेखाएँ धुंधली और अस्पष्ट हो जाती हैं, कही कही अनियन्त्रित, असंगत और कलाहीन भी लगती है। उनका मानवीय रूप हमारे सामने उजागर नही होता, और यदि कही होता भी है तो वह बहुत ही क्षीण और प्राणहीन जैसा लगता है। यही कारण है कि बहुत सा मनो-विश्लेषण प्रस्तुत करने के बाद भी सज्जन और वनकन्या का प्रेम तथा उसे लेकर उनके मन का संघर्ष किताबी और सैद्धान्तिक लगता है, ठीक उसी प्रकार जैसे महिपाल के मन की विकृति और उसकी अन्तिम परिणति आकस्मिक तथा सन-सनीपूर्ण। इन चरित्रों के जीवन में एक विचित्र प्रकार की सूत्रहीनता, असम्बद्धता और संस्कारहीनता है, यद्यपि लेखक उन्हे, विशेषकर सज्जन और वनकन्या को, बड़ी सहानुभूति से अपने उपन्यास के मुख्य पात्र, नायक-नायिका, के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। सज्जन और वनकन्या को तो लेखक ने लगभग आदर्श चरित्रों के रूप में प्रस्तुत किया है और सम्भवत. सारे उपन्यास में सज्जन और वनकन्या से

अधिक 'भले' और 'शरीफ' चरित्र दूसरे नही हैं।

व्यक्तित्व के विकास और प्रतिफलन की दृष्टि से महिपाल के अंकन मे भी नागरजी पर्याप्त सूक्ष्मता और अन्तर्द्वन्द्व नही दिखा सके है। यह ठीक है कि महिपाल के चरित्र मे एक तरह के सन्तुलन के अभाव का तत्त्व लेखक ने शुरू से ही रखा है और इसी आधार पर एक ओर उसकी आदर्शवादिता तथा दूसरी ओर उसकी स्वार्थपरता को साथ-साथ दिखाने का यत्न किया है। किन्तु इस अकन मे आन्तरिक सगति नही है। 'बूंद और समुद्र' मे महिपाल सबसे अधिक जाग्रत और आत्मसजग व्यक्ति है। उपन्यास के प्रारम्भ मे ऐसा अनुभव होता है कि वह लेखक का प्रतिनिधित्व करता है। लगता है कि जीवन की गहरी पीड़ा मे तपकर उसने वह ओजस्वी व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन प्राप्त किया है जो उसे एक प्रकार का बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करता है। प्रारम्भ में उसकी बातो मे ऐसी धार महसूस होती है जो प्रतिभा और जीवन के गहन अनुभव के बिना नही प्राप्त होती। ऐसा अनुभव होता है कि लेखक उसके चरित्र को एक ऐसे पृष्ठ-फलक के रूप मे प्रस्तुत कर रहा है जिसके परिप्रेक्ष्य मे अन्य लोगों का व्यक्तित्व सुस्पष्ट उभरकर दिखाई पड़ेगा। किन्तु अचानक ही उसकी यह मूर्ति टूट जाती है। जब क्रमशः हम पारिवारिक जीवन को लेकर उसकी दुर्बलता, अनिश्चय और खीझ का चित्र देखते है, और फिर एक प्रकार के आत्मपलायन के रूप मे डाक्टर शीला स्विंग के साथ उसकी मैत्री तथा प्रेम सम्बन्ध का परिचय पाते है, तो ऐसा अनुभव होता है कि उसकी सारी बाते शब्दाडंबर मात्र थी। अंत मे तो लेखक दिखाता है कि किस प्रकार वह सम्पन्न बनने के मोह मे, समाज की रूढ़ियो के अनुसार अपनी भानजी तथा कन्याओ के विवाह करने के आकर्षण मे, साधारण और सम्पन्नता का जीवन बिताने के लालच में धन चुराता है, अपने आदर्शवाद को तिलाजलि देता है और अपने घनिष्ठ बन्धुओं से अलग होकर, बल्कि उनका तीव्र विरोध करके, जीवन में ऊँचा उठने की कोशिश करता है। यहाँतक कि चरित्र की इस परिणति का अन्त आत्महत्या के अतिरिक्त लेखक के पास कुछ नहीं बचता। महिपाल के प्रारम्भिक और परवर्ती व्यक्तित्त्व मे बहुत सार्थक आन्तरिक सगति नही है, न तो किसी उत्तरोत्तर विकास की, और न किसी गहरे सूत्र द्वारा परस्पर-विरोधी तत्त्वों के समंजन की। इसी से महिपाल के चरित्र मे जोड़ लगे हुए जान पड़ते है। उसके व्यक्तित्व की गाँठ पकड़ में नही आती, न वह केन्द्र समझ में आता है जहाँ से उसके चरित्र के ये परस्पर-विरोधी सूत्र प्रारम्भ होते है। ऐसा अनुभव होता है कि लेखक उसका सही स्थान तथा महत्त्व अन्त तक ठीक से स्पष्ट नही पहचान सका। एक ओर लगता है कि सज्जन के साथ विसदृशता (कट्रास्ट) के लिए लाया गया है, पर दूसरी ओर वही बहुत-सी गहरी सैद्धान्तिक चर्चा भी करता है जो विभिन्न विषयों पर लेखक के अपने, या कम-से-कम प्रबुद्ध वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को प्रकट करती जान पड़ती है। उसके दृष्टिकोण मे जो धार है वह बहुत बार आत्मद्रोही या आत्मघाती होने का भाव नही उत्पन्न करती, इस कारण उसकी

परवर्ती अन्तोमुखी परिणति ऊपर से आरोपित और यांत्रिक लगती है।

महिपाल के चरित्र को यदि सज्जन के साथ रखकर देखें तो यह यांत्रिकता लेखक की और भी बड़ी असफलता जान पड़ती है। इन दोनों में अधिक क्षमतावान और प्रखर महिपाल ही है। सज्जन उनकी तुलना में कहीं अधिक प्राणहीन और सार्थकताहीन चरित्र है, यद्यपि अन्त में लेखक ने उसे जैसे जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में सज्जन का सन्तुलन खोखला लगता है, क्योंकि वह किसी मूलभूत नैतिक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व के ऊपर आधारित अथवा विकसित नहीं है। उसके जीवन में हर घटना जैसे सहज ही, आसानी से, लेखक की इच्छानुसार, होती जाती है। वह जो कुछ भी हाथ में लेता है, अन्त में उसमें सफल होता है, यद्यपि कहीं भी उसके चरित्र में वह गहनता अथवा अनुभव या समझ की ऊँचाई नहीं है कि उसके जीवन को आदर्श माना जा सके या जो उसकी परिणति या सफलता को विश्वसनीय बना सके। महिपाल की तुलना में उसे जीवन में अधिक दिखाने से कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि अधिक निकम्मे और अधिक अक्षम लोग ही, अधिक साधारण कोटि के लोग ही, अधिक सफल होते हैं। सज्जन की साधारणता लेखक के सारे प्रयत्नों के बावजूद पुस्तक में से बार-बार छलकती है, यद्यपि लेखक ने बड़ी धूमधाम से और बड़े गहरे रंगों में उसे अंकित किया है। उसका अन्तःसंघर्ष फार्मूलों के अनुसार है और विरोधी तत्वों को केवल ऊपर से रंग दिया गया है। इसीलिए उसके 'मूड' बड़े बचकाने और अस्वाभाविक लगते हैं, कुछ यह किताबी धारणा सिद्ध करने के प्रयत्न जैसे कि अचेतन मन की गूढ़ रहस्यमयी वृत्तियाँ किस प्रकार चेतन मन को नियंत्रित करती रहती हैं। सज्जन के अन्तःसंघर्ष से इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के पात्रों की मिथ्या मनोविश्लेषणपरक शैली का स्मरण होता है। यह उचित ही है कि लेखक वनकन्या के साथ सज्जन के व्यक्तित्व की टकराहट और उससे उत्पन्न तनाव को देख पाता है, पर उपन्यास में उसके लिए जो हेतु (मोटिवेशन) रखे गए हैं, वे अत्यन्त ही सतही और कृत्रिम हैं। अधिकतर उसके व्यक्तित्व का उद्घाटन वर्णन द्वारा होता है, सार्थक कार्य-व्यापार द्वारा नहीं। सज्जन बड़ा 'टिपीकल' फिल्मी नायक है जिसमें बड़ी कमजोरियाँ हैं, पर जो उन पर अन्त में विजयी होता है, समस्त विघ्न-बाधाओं के बावजूद अपने शत्रुओं का नाश करता है और नायिका को प्राप्त ही नहीं करता, वरन उसके हृदय को जीतने में भी सफल हो जाता है। उसे अपार धनी माता-पिता की एकमात्र संतान और कलाकार बनाकर तो नागरजी ने उसके फिल्मी नायक होने में बची-खुची कसर भी पूरी कर दी है।

यही बात वनकन्या के सम्बन्ध में भी है। साधारणतः जीवन के प्रति यथार्थवादी और वस्तुपरक दृष्टिकोण रखते हुए भी वनकन्या के चित्रण में लेखक स्वाभाविक रूप से रोमांटिक हो उठा है। सज्जन के साथ उसका प्रेम-सम्बन्ध कुछ अतिरिक्त रूप में सरल तथा पवित्र बन गया है। उसे लेकर सज्जन और वनकन्या दोनों के मन में जो संघर्ष यदा-कदा दिखाई पड़ता है, वह भी बहुत ही फिल्मी ढँग का है।

उसमें अन्तःसंघर्ष की वैसी तीव्रता और प्रबलता नहीं है जो इस प्रकार के सम्बन्धों में अनिवार्य होती है, इसलिए वह कोई गहन जीवन-दृष्टि की, अथवा मानव-मन के गहरे संकट की छाप हमारे मन पर नहीं छोड़ती और नीति-कथाओं के अथवा फिल्मी कहानियों के संघर्ष और उनके सुखान्त समापन जैसी जान पड़ती है।

सच पूछा जाय तो आधुनिक व्यक्ति के भीतर इस खिंचाव की, उसके गहन अन्तर्द्वन्द्व और आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में उसके विघटन की, पकड़ नागरजी को नहीं है। यह बात चित्रा और शीला स्विंग के चरित्र से भी प्रकट होती है। दोनों ही एक प्रकार से असाधारण स्त्रियाँ है, क्योंकि दोनों ही पुरुष के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में लीक से हटकर चलती है और सोचती है। दोनो ही विद्रोहिणी है जो समाज के ढोंग और आडम्बर की शिकार होने पर अपने-अपने अलग-अलग ढँग से उसकी अवज्ञा करके चलती है। वे साधारण स्त्रियों से भिन्न है—कम-से-कम उनकी मूल परिकल्पना में बड़ी तीव्र भिन्नता की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। पर मूलतः वह भिन्नता उनके मन के अन्तर्द्वन्द्व में ही प्रकट हो सकती थी, किसी सामान्य केन्द्र पर उनके चरित्र के दो सर्वथा विपरीत और विरोधी छोरों को एकाग्र कर देने से ही अभिव्यक्त हो सकती थी। नागरजी यह करने मे सफल नहीं हुए है। इसलिए अत्यन्त सम्भावनापूर्ण होकर भी ये चरित्र फीके और एक ही सामान्य आयाम में अंकित दीख पड़ते है और उनकी असाधारणता पूरी तीव्रता के साथ नही उभर पाती।

प्रसंगवश यह बात कही जा सकती है कि आधुनिक जीवन के किसी भी साधारण सहज मनुष्य को नागरजी प्रस्तुत नहीं कर सके है न पुरुषो को न स्त्रियों को। जितनी सूक्ष्मता और सहानुभूति के साथ नागरजी पुराने समाज के साधारण पात्रो को अंकित कर पाते है वैसे आधुनिक समाज के पात्रो को नही। उनके आधुनिक पात्र या तो विरहेश अथवा चित्रा जैसे पतित हो सकते है या वनकन्या जैसे असाधारण। दूसरी ओर कर्नल और रामजी बाबा जैसे चरित्र अपने साधारण आडम्बर के बावजूद बडे अच्छे लगते है। इन सबके अंकन मे लेखक की सहज सहानुभूति और अन्तर्दृष्टि स्वाभाविक रूप मे प्रकट होती है क्योंकि वे सर्वथा उस पुराने जीवन के अंग न होकर भी, उससे कुछ-कुछ भिन्न होकर भी, अन्ततः है उसी के अधिक समीप, और इसीलिए लेखक के अधिक परिचित है।

यह बड़ी दिलचस्प स्थिति है कि इस बात मे भी अमृतलाल नागर प्रेमचन्द से तुलनीय है। 'गोदान' मे होरी और उसका परिवेश जितना अभूतपूर्व, यथार्थ और विश्वसनीय है, उतना शहरी प्रकरण नहीं। 'बूंद और समुद्र' मे भी ताई और उसका परिवेश ही जीवंत है, बाकी सब कमोवेश मात्रा मे, उस परिवेश के साथ दूरी के अनुपात में जीवन्त या मृतप्राय है। इसमे इतना आश्चर्य भी नही। अभी तक हमारे सामर्थ्यवान लेखक भी बीते हुए युग मे ही जीते है, वे मूलतः संक्रान्ति-काल के उस छोर पर खड़े है जहाँ से उन्हे डूबते सूरज के रंग ही स्पष्ट दिखाई देते है, दूर उगने वाले प्रभात की चर्चा वे अपनी कल्पना के सहारे ही करते है,

किसी जीवन्त अनुभूति के बल पर नहीं। सम्भवतः प्रत्येक देश का संक्रान्तिकालीन लेखक इस कठिनाई का सामना करता है और यदि स्वयं इस विषय में सजग रहे तो नए युग के इच्छापूर्तिपरक निर्माण से बच सकता है, कम से-कम उस पर आग्रह करने से तो बच ही सकता है।

नागरजी की कला का यह अन्तर्विरोध 'बूंद और समुद्र' के बौद्धिक पक्ष में औरभी तीव्रता से प्रकट होता है। इस उपन्यास में लेखक ने अनगिनती सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य सैद्धान्तिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, कहीं किसी पात्र के माध्यम से उसके आत्मचिन्तन द्वारा, कहीं विभिन्न पात्रों के बीच विवेचन द्वारा, अथवा कहीं केवल परिस्थितियों के संघात द्वारा। अन्तिम अध्याय में लेखक ने अपने आप भी अपने विचार रखे हैं।

मूलत. 'बूंद और समुद्र' में बूंद और समुद्र के, व्यक्ति और समूह के स्वरूप, परस्पर सम्बन्ध—सहयोग और संघर्ष—को खोजने और समझने का प्रयास है। सत्य बुनियादी तौर पर द्वन्द्वात्मक है, जीवन को उसकी द्वन्द्वात्मकता पहचाने बिना नहीं समझा जा सकता। यह द्वन्द्व जिस प्रकार व्यक्ति और समूह के बीच है, उसी प्रकार स्वयं व्यक्ति के भीतर भी है, और इकाई के रूप मे वह स्वय समाज के भीतर भी है। और साथ ही ये द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति और समूह स्थिर नहीं है, निरन्तर गतिमान है, परिवर्तनशील है। इस प्रकार स्थिरता और गतिमानता के बीच भी एक अलग द्वन्द्व मौजूद है। यह बात उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है कि सत्य की द्वन्द्वात्मकता के इन विभिन्न रूपों और स्तरों को, उनके पारस्परिक प्रभावों और सम्बन्धों को, एक साथ ही नागर अपने इस उपन्यास में खोजने का प्रयास करते है। बाबा रामजी एक जगह वनकन्या से कहते है, "हर बूंद का महत्त्व है, क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूंद भी व्यर्थ क्यों जाय? उसका सदुपयोग करो। पर यह सदुपयोग हो कैसे? कैसे यह बूंद अपने आपको महासागर अनुभव करे? इस विशाल जनसागर मे वह नितान्त अकेली है। उसका कोई अपना नहीं। ऐसा लगता है जैसे उसके चारो और सागर सीमा बांधकर लहरा रहा है और वह एक बूंद सागर से अलग रेत मे धुलती चली जा रही है। और केवल उसकी ही यह हालत हो, सो बात भी नहीं। हर व्यक्ति आमतौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक-दूसरे से अलग है ...। आदर्श का यदि महत्त्व है तो सबके लिए उसका मूल्य समान हो, यह क्योंकर सम्भव नहीं? बड़ी बूंद हो, छोटी बूंद हो, नन्ही जैसी बुंदकी क्यों न हो, यह छोटाई-बड़ाई नैतिक मापदंड के लिए कोई मूल्य नहीं रखती। वह मात्र यही देखता है कि बूंद मे, प्रत्येक अणु में, सत्य के लिए निष्ठा कितनी है।"

स्पष्ट ही लेखक की सहानुभूति पुराने दकियानूसी विचारो, अंधविश्वासों और मान्यताओं के साथ नहीं है। किन्तु मनुष्य का धर्म, नए युग का धर्म, परम्परा से प्राप्त नई शक्ति के आधार पर ही, आत्मविश्वास के आधार पर ही, बन सकता है। पर आज हमे वह आत्मविश्वास प्राप्त नहीं। इस अभाव का एक बड़ा

कारण लेखक राजनीतिक पार्टियों को बताता है। एक जगह उसने लिखा है कि सब पार्टियां अधिकांश में एक-से-एक बढ़कर आकांक्षा वाले, जालसाज, और मगहरो द्वारा अनुशासित है, आदर्श और सिद्धान्त तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियां है। ये राजनीतिक पार्टियां या तो पुरानी रूढ़ियो को देश के ऊपर लादना चाहती है या विदेशी परम्पराओं को। इनमे से किसी पार्टी को भी, बल्कि राजनीतिक मात्र को, लेखक प्रगतिशील नही मानता। उसका विश्वास है कि रूढ़िगत अथवा राजनीतिजन्य अंधविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़े हुए जन-जीवन को केवल अपने देश से प्रेम करने वाले बुद्धिजीवी ही रास्ता दिखा सकते हैं। पर यह काम बुद्धिजीवी तभी कर सकेंगे जब एक ओर उन्हें अपने देश की परम्परागत सृजनात्मक शक्तियों पर अभिमान हो और दूसरी ओर आज के युग की आवश्यकताओं की पकड़ भी। नागर चाहते हे कि 'मनुष्य का आत्मविश्वास जागना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए। मनुष्य को दूसरों के सुख, दुख को अपना सुख-दुख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारो के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख-दुख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे—जैसे बूंद से बूंद जुड़ी रहती है—लहरो से लहरें। लहरो से समुद्र बनता है। इस तरह बूंद मे समुद्र समाया है।

इसमे कोई सन्देह नही कि विभिन्न विचारधाराओं के प्रबल संघर्ष के इस युग मे यह उपलब्धि एक संवेदनशील लेखक और बुद्धिजीवी के लिए महत्त्वपूर्ण है, बल्कि एक प्रकार से रास्ता दिखा सकने मे निरन्तर सहायक हो सकती है। किन्तु साथ ही यह बात भी भुलाई नही जा सकती कि इस उपन्यास मे यह उपलब्धि बड़ी सरल जान पड़ती है। जब तक वह जीवन के प्रति सघर्ष और घात-प्रतिघात से उत्पन्न न हो तब तक वह निरे शब्दजाल से अधिक कुछ नहीं। इस बात का भारी भय है कि वह भी एक अन्य विचारधारा बन कर रह जाय जिसके पीछे सदाशयता हो तो हो, जीवन की अनुभूति नही।

यह बात इसलिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'बूंद और समुद्र' उपन्यास अनुभूति और कलात्मकता के स्तर पर इस उपलब्धि की ओर ले जाता हुआ नही जान पड़ता। लेखक उसे जीवन के संघर्ष मे से उद्भूत दिखाने की बजाय अत में 'यह चाहिए', 'वह चाहिए' कहने को बाध्य होता है। समर्थ रचना मे ऐसे 'चाहिए-वादी' सिद्धान्त-वाक्य आवश्यक नही ही रह जाते। इसका मूल कारण, जैसा कि पहले भी कहा गया है, यह है कि समूचे उपन्यास में जैसी सहानुभूति और आत्मीयता लेखक ने पिछले युग के जीवन के साथ अनुभव की है और अभिव्यक्त की है, आज के जीवन-सघर्ष के विषय मे, उसकी तीव्रता, उसकी पीड़ा और उसकी व्यर्थता के विषय में वह नही कर सका। पुस्तक के अन्त मे किन्ही पात्रो के बारे में यह कह देना कि वे 'एक लगन लेकर अपने छोटे-से क्षेत्र में मानवता का दर्शन करने के लिए कर्मरत हो गए', पर्याप्त नहीं है। अन्य श्रेष्ठ आदर्शों की भाँति यह

उपलब्धि भी यदि ऊपर से आरोपित है और अनुभूतिजन्य नहीं है तो वह तो केवल थोथे और खोखले आत्मसंतोष को ही जन्म दे सकती है। सज्जन और वनकन्या बहुत हद तक इसी थोथे आत्मसंतोष के प्रतीक लगते हैं। वे आधुनिक जीवन की विषमता का सामना ही नहीं करते, उनका संघर्ष आज के व्यक्ति का संघर्ष नहीं है, न वैयक्तिक स्तर पर, न सामूहिक स्तर पर। आदर्शों और भौतिक परिस्थितियों के बीच, मान्यताओं और आचरण के बीच, युद्ध और शान्ति के बीच, सृष्टि और संहार के बीच, जैसा भीषण संघर्ष आज सामाजिक जीवन में और व्यक्ति-व्यक्ति के मन में छिपा हुआ है, उसका आभास भी सज्जन और वनकन्या की चेतना में नहीं है। बल्कि राम जी बाबा के रूप में जिस समाधान की ओर लेखक इंगित करता जान पड़ता है, वह चाहे जितना रोचक हो, प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' से केवल एक-दो क़दम से अधिक आगे नहीं है। निस्सन्देह यह आवश्यक नहीं है कि लेखक किसी भी समस्या का समाधान 'प्रस्तुत' करे ही। पर 'बूँद और समुद्र' तो आग्रहपूर्वक जीवन की मूलभूत समस्याएँ उठाने और उनके समाधान खोजने की बात करता है। ऐसी स्थिति में उनका कैसा निर्वहण उपन्यास में हुआ है, इसका मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है। ऐसे मूल्यांकन की कसौटी पर 'बूँद और समुद्र' बहुत खरा नहीं उतरता।

वास्तव में 'बूँद और समुद्र' उपन्यास परोक्ष रूप से आज के बुद्धिजीवी के इस तीव्र मानसिक संकट की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। वह आज के जीवन के कृत्रिमता, पाखण्ड और स्वार्थपरता से अपनी संवेदनशीलता के कारण चौंकता है और उनसे बचने का यत्न करता है, किन्तु साधारणतः उसके जीवन में परम्परागत सृजनात्मक शक्तियों और आधुनिक जीवन की सम्भावनाओं तथा समस्याओं का ऐसा बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक समन्वय नहीं है कि किसी निश्चित मार्ग की उपलब्धि कर सके। इसलिए उसकी सहानुभूति एक ओर जाती है और बौद्धिक मान्यताएँ दूसरी ओर। यदि किसी प्रकार अपनी बौद्धिक मान्यताओं को वह किसी आदर्श की ओर उन्मुख भी कर पाता है तो अंत में उसे यही पता चलता है कि वह प्रेरणा अवास्तविक और खोखली थी। अमृतलाल नागर भी इस उपन्यास में इस विषम स्थिति से उबर नहीं पाये हैं, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इस विषय में उनकी खोज और उनकी ईमानदारी से किसी को इनकार नहीं हो सकता।

'बूँद और समुद्र' के कथ्य का यह अन्तर्विरोध उसके रूपबन्ध और गठन में भी मौजूद है। अमृतलाल नागर हिन्दी के बड़े क्षमतावान शिल्पी हैं। उनके कथा कहने के ढंग में ऐसा अनूठापन और आकर्षण है कि उनकी किसी भी रचना को एक बार शुरू करने पर छोड़ना कठिन होता है। विशेषकर इस रचना में उनका परम्परागत जीवन का अध्ययन और अवलोकन इतना सूक्ष्म और गहरा है, और उसको मूर्त रूप देने की क्षमता ऐसे अपूर्व रूप से प्रकट हुई है कि हिन्दी में उनका सानी नहीं। वे बड़े सहज भाव से एक के बाद एक ऐसे चित्र उभारते चले जाते

है जिनकी आत्मीयता और सहानुभूति से कोई अछूता नहीं रह सकता। किसी क्षेत्र की बोली की पुनः सृष्टि में भी वे अद्वितीय है और किसी भी प्रसग को अपनी भाषा और शैली के चमत्कार से स्मरणीय बना देते हे। पर लगता है कि 'बूँद और समुद्र' मे यह सहजता और क्षमता ही उनकी कठिनाई और सीमा बन गई है। वे किसी भी प्रसंग को उठा कर उसके वर्णन के रस मे स्वयं इतने डूब जाते है कि सम्पूर्ण उपन्यास के सदर्भ मे उसकी स्थिति और आनुपातिक सार्थकता का उन्हें ध्यान नही रहता। इसलिए प्रत्येक छोटे-से-छोटा वर्णन भी स्वतन्त्र रूप से अत्यन्त रोचक और चमत्कारपूर्ण हो उठता है और समग्र रचना की अन्विति को तोड़ देता है। सज्जन-वनकन्या की वृन्दावन-बरसाना यात्रा, राजा द्वारिकादास का जलसा, महिला सेवा-मण्डल का भंडाफोड़, ताई द्वारा राधाकृष्ण का विवाह, चित्रों की प्रदर्शनी आदि ऐसे अनगिनती स्थल है जहाँ रोचकता और वर्णन की विशदता के लिए पूरी रचना के समन्वित प्रभाव की बलि चढ़ा दी गई है। ऐसे सब प्रसग अपने-आप मे स्वतंत्र रेखाचित्र-जैसे हो जाते है। फलस्वरूप पूरी रचना के गठन में अनुपात और आन्तरिक सम्बन्ध की शिथिलता बेहद खलती है। विभिन्न कथा-सूत्रो के बीच तथा उनके अन्तर्गत उप-प्रसंगो, विवरणो और वर्णनो के बीच, कलात्मक-सौन्दर्यात्मिक सन्तुलन और सयम नही रह पाया है। लेखक इतनी मधुरता की सृष्टि करता है कि वह कड़वी लगने लगती है। साथ ही नागर जी के इस संसार मे सरस हरियाली के पास ही बीच-बीच में उजाड़-बजर प्रदेशो की भी कमी नही। 'बूँद और समुद्र' के सबसे बोझिल और अनावश्यक अश उसके लम्बे-चौड़े वाद-विवाद अथवा आत्म-विश्लेषणात्मक स्थल ही हे। विशेषरूप से जहाँ लेखक ने विभिन्न विषयो से सम्बन्धित अपनी जानकारी को किसी पात्र के माध्यम से कहने का यत्न किया है, वहाँ वह बहुत ही नीरस और अरोचक हो गया हे। 'बूँद और समुद्र' ऐसा उपन्यास है जो संक्षिप्त होकर निश्चय ही अधिक तीव्र और प्रखर हो सकता है।

यह असमता और अन्विति का अभाव उसमे शैली के स्तर पर भी है। लेखक की मुख्य पद्धति यथार्थवादी है पर बीच-बीच में वह अतिशयोक्ति और अयथार्थ-वाद के साथ कार्टून-जैसी पद्धति सदा मेल नही खाती। नागर प्रथम कोटि के किस्सा-गो शैली के लेखक हे और 'बूँद और समुद्र' के एक अश के लिए उनकी वह शैली बहुत ही उपयुक्त भी है। कही-कही उनके वर्णन 'चन्द्रकान्ता' शैली की याद दिलाते है और बड़े चमत्कारपूर्ण भी लगते हैं। पर सम्पूर्ण उपन्यास मे शैली-गत सामंजस्य नही है। कही वे ऐसे वर्णन करते है जैसे घटनाएँ इसी समय सामने घट रही हो, कहीं इस प्रकार जैसे अतीत मे घट चुकी हो, कही किस्सा-गो के ढग से 'कही मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक ढंग से। पूरे उपन्यास के रूपबन्ध मे इससे विषयानुकूल विविधता के बजाय स्वर का विवादीपन और वैषम्य, प्रभाव का अवश्-मावड़पन और वातावरण का टूटना-बनना ही अधिक उभरता हे।

निःसन्देह यह सम्पूर्ण विश्लेषण इस परिप्रेक्ष्य में ही है कि 'बूँद और समुद्र'

युद्धोत्तर हिन्दी उपन्यास की एक महत्वपूर्ण और सशक्त कृति है जो अपनी अपूर्व उपलब्धि के कारण ही मूल्यांकन के स्तर को अधिक ऊँचा और कठोर रखने की माँग करती है। उसमें निश्चित रूप से इस दौर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति बनने की पूरी सम्भावना थी और अमृतलाल नागर के पास उस दायित्व को निभाने योग्य पर्याप्त सामर्थ्य भी है। पर इस बात से गहरी निराशा ही होती है कि यह उपन्यास उस स्तर तक नहीं पहुँच सका। फिर भी, अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद वह पिछले दो दशकों के सबसे महत्वपूर्ण उपन्यासों में गिना जाने योग्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आँचलिक यथार्थ की अभिनव अभिव्यक्ति : 'मैला आँचल'

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आँचलिक उपन्यासो का शोर जितनी तेजी से हिन्दी में उठा था, उतनी ही तेजी से दब भी गया और आज तो बहुत-से उपन्यासकार अपनी कृतियो को, जो वास्तव में आँचलिक है भी, इस संज्ञा से विभूषित करने मे हिचकते है। इसके कारणों को खोजने से पहले आँचलिक उपन्यासों के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित होगा। पहले, विशेष रूप से प्रेमचन्द के समय मे उपन्यासो के कथानक के लिए विशाल चित्रफलक चुना जाता था और जहाँ तक सम्भव हो सके, समग्र भारतीय जीवन को समेटने की चेष्टा की जाती थी। प्रेमचन्द के पश्चात् उपन्यासो की गति प्रमुख रूप से व्यक्ति-केंद्रित या आत्म-केंद्रित हो गई। यही नही कि इन उपन्यासो मे सामाजिक संचेतना प्राप्त नही होती, किन्तु वे समाज के संदर्भ मे नही, व्यक्ति के संदर्भ मे मूल्यांकित की जाने लगी। यही कारण है कि इस काल में मुख्यतः व्यक्ति-चरित्र उभरकर सामने आये।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद स्थिति सर्वथा परिवर्तित हो गई। भारत एक देश होते हुए भी जीवन के छोटे-छोटे खण्डो मे विभाजित हो गया। विभाजन की विषमयी प्रतिक्रिया, सीमा-विवाद, नदी-बिजलीघर जैसी चीजो को लेकर राज्यो का स्वयं आपस में विदेशी शत्रुओं की तरह लड़ना, जाति-प्रथा का अजगर की तरह मुँह बाए फिर से उपस्थित होना और वर्ग-सम्प्रदाय तथा धार्मिक असहिष्णुता का बढ़ना कुछ इस तरह से हुआ कि सारा वातावरण विषाक्त हो गया और एक नयी संक्रान्ति का जन्म हुआ। इसी नयी संक्रान्ति ने वस्तुतः आँचलिक उपन्यासो को जन्म दिया। जब उपन्यासकार किसी अंचल, गाँव, कस्बे या मुहल्ले को परिवेश बनाकर वहाँ के लोगों के आचार-व्यवहार, जीवन-पद्धति, संस्कृति, लोक-भाषा, धर्म एवं दृष्टिकोण का सूक्ष्म वर्णन करता है, तो वह आँचलिक उपन्यास ही है। इन उपन्यासो में किसी अंचल का चित्रण होने के बावजूद व्यापक संदर्भों को समेटने का प्रयत्न होता है, ताकि वे सीमित परिवेश मे ही बँधे न रह सकें। जब कोई उपन्यास (आँचलिक) ऐसा नही कर पाता, तो वह अपने उद्देश्य मे निश्चय असफल रहता है। कुछ उपन्यासो मे लोकभाषा का इतना रूढ़ उपयोग किया गया है कि वे संकीर्णता के दायरे से निकल ही नही पाये और आँचलिक उपन्यासों का अर्थ गलत समझा जाने लगा। इसी भ्रान्ति के शिकार अनेक

आँचलिक उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों पर यह 'लेबल' लगाना इसलिए उचित नहीं समझा कि कहीं उनके उपन्यास विराट्ता के बोध से वंचित न हो जाएँ। वस्तुतः यह एक बड़ा ही हास्यास्पद तर्क है। कोई उपन्यास आंचलिक हो या नहीं, इससे उसके व्यापक होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। विराटता का बोध समस्याओं को उठाने और उनके निर्वाह के ढंग पर निर्भर है।

इस दृष्टि से फणीश्वरनाथ रेणु कृत 'मैला आँचल' (१९५४) इसलिए एक विशिष्ट कृति है क्योंकि आंचलिक होते हुए भी उसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के ग्रामों में होने वाले परिवर्तन के सूत्रों का व्यापक धरातल पर अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकन हुआ है। यद्यपि लेखक के अनुसार इसमें पूर्णिया जिले के एक पिछड़े हुए गाँव मेरीगंज की जिन्दगी का चित्रण हुआ है और इसमें फूल भी है, शूल भी है, धूल भी है, गुलाल भी है, कीचड़ भी है, चंदन भी। सुन्दरता है, कुरूपता भी - लेखक किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया है। लेकिन यह मेरीगंज सिर्फ पूर्णिया का नहीं है, वह हरियाणा में भी हो सकता है, महाराष्ट्र में भी। उत्तर-प्रदेश में भी हो सकता है और तमिलनाडु में भी। यह लेखक की वर्णन-शैली की सशक्तता ही है कि मेरीगंज पूरे भारत के गाँवों का प्रतीक बन जाता है। जमींदारों का शोषण, आर्थिक वैषम्य, पुराने नए मूल्यों की टकराहट और असमानता, जमींदारी-उन्मूलन तथा भूमि की समस्या, राजनीति, धर्म तथा समाज सबके निर्माण और विध्वंस की टकराहट आदि इस उपन्यास में मेरीगंज के माध्यम से इतने विशाल चित्रफलक पर अभिव्यक्त हुए हैं कि यह एक काल-विशेष का सजीव एवं प्रभावशाली चित्र उपस्थित करने में सफल हो जाता है।

'मैला आँचल' की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें गाँव-जीवन को लेकर केवल ग्रामीण समस्याओं में ही लेखक नहीं उलझ गया है। उसने गाँव की अन्तरात्मा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की एक बहुत बड़ी सीमा यह थी कि उन्होंने व्यक्तियों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना समस्याओं की ओर। रेणु ने समस्याओं के साथ साथ व्यक्ति का भी अद्भुत समन्वय करने की चेष्टा की है और यही कारण है कि इस उपन्यास में स्थूलता नहीं सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति कलात्मक ढंग से हुई है, जो इसे प्रेमचन्द के गाँव-चित्रण से अलग करती है। डा० प्रशान्त ममता को एक पत्र में लिखता है, "तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते। तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकती। तुम जो खाती हो, ये नहीं खा सकते। तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते। तुम जैसे सोती हो, बैठती हो, हँसती हो, बोलती हो, ये वैसा कुछ नहीं कर सकते। फिर तुम उन्हें आदमी कैसे कह सकती हो! वह आदमी का डाक्टर है, जानवर का नहीं—भूख और बेबसी से 'तिल-तिल कर, घुल-घुलकर' मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी।··· यहाँ इन्सान है कहाँ?···अभी पहला काम है जानवर को इन्सान बनाना।" यह प्रकारान्तर से रेणु के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है। ग्रामीण पात्रों की इतनी

मानवीयता, सहृदयता तथा काव्यमयता के साथ प्रेमचन्द के बाद पहली बार नए सन्दर्भों में प्रस्तुत की गई है, जो आधुनिकता से भी पूरित है।

इस उपन्यास में मानव की कुत्सित प्रवृत्तियों का चित्रण भी उतनी ही तटस्थता से किया गया है, जितनी तटस्थता से उसके सौन्दर्य-पक्ष का उद्घाटन। नेत्रहीन सेवादास लछमी के लिए लार टपकाता रहता है और लरसिंघ भी उससे पीछे नहीं रहता। लछमी के पीछे नंगा बाबा भी पड़ा है और रामदास की इच्छा उसे दासी बना लेने की है। लछमी के सम्पर्क में असफल होने पर वह जात-पाँत की उपेक्षा कर रमपियरिया को लाकर घर में बिठा देता है। रमपियरिया की माँ सात बेटों के बाप छीतन से फँसी है। मंगलदेवी भी गाँव में आकर्षण की केन्द्र है। उससे मिलने के लिए नित्य नये लोग आते रहते हैं—कॉलेज के विद्यार्थी, एम० एल० ए०, साहित्य-गोष्ठी के मंत्री जी, चर्खा संघ के कार्यकर्ता तथा नई हिन्दी दैनिक के सहायक सम्पादक भी। टुनटुन जी इसी मगला के फेर में फरेब करते हैं। कालीचरण भी उसके प्रेमपाश में बँध जाता है। सदाब्रिज फुलिया के पीछे पागल है। फुलिया उससे विवाह करने के बाद भी पैटमानजी के साथ भाग जाती है और होली की रात सहदेव मिसर से रास रचाती है। और खुद खलासी भी एक पतुरिया से मुहब्बत करने लगता है। फुलिया की माँ भी कम नहीं है। रमजुदास की स्त्री उसे 'सिपाही की रखैली' कहती है। तब फुलिया भी रमजुदास की स्त्री की पोल खोलते हुए बताती है कि वह अपने खास भतीजा के साथ भाग गई थी और गुअरटोली के कलरू के साथ रात-भर 'रासलीला' रचाती रहती है। गोप की स्त्री रामचरनसाह के बेटे से फँसी हुई है और उचित-दास की बेटी कोयरटोली के सदन भगत से। तहसीलदार हरगौरीसिंह भी किसी से पीछे नहीं है। वह अपनी मौसेरी बहन से रासलीला रचाता है और बालदेवजी कोठारिन से लपटा जाते हैं। सफलदीप किसी 'लैला' के साथ भाग जाता है और लरसिंह सोनमतिया कहारिन की रधिया को उड़ा ले जाता है। वह उसे बाद में इसलिए छोड़ देता है क्योंकि 'नौटंकी कम्पनी' के मालिक की ही बात रहती तो वह सह भी सकता था, पर हारमोनियम और नगाड़ा वाले भी रधिया को कभी फुरसत नहीं देते। जोतखी कालीचरण को चुनौती देते हैं कि वह अपनी माँ से पूछकर बताए कि वह किसका बेटा है। कालीचरण भी प्रत्युत्तर देता है कि वह अपनी पत्नी से पूछें कि उसके पेट में किसका बेटा है। कुमारजी डफ साहब की बेटी से फँसे हैं और प्रशान्त लावारिस सन्तान है।

इस प्रकार अन्य अनेक प्रसंग भी उपन्यास में आये हैं, जिनसे जीवन के दोनों पक्षों का विशद उद्घाटन हुआ है। लेखक ने अनैतिकता के इतने व्यापक चित्र देकर पारम्परिक मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है। यह एक प्रकार से पुरानी और नयी सांस्कृतिक परम्पराओं की टकराहट भी है। इस अभिव्यक्ति में शुभ बात यह है कि लेखक ने कोई निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया है और न इस यौनशीलता के माध्यम से घृणा या जुगुप्सा का वह स्वरूप कहीं उपस्थित

किया है, जो मात्र आवेश या विस्मय उत्पन्न करके ही सीमित नहीं रह जाता, वरन् परिवर्तन की माँग की भूमिका स्वयमेव उत्पन्न करता है। लेखक ने इस सम्बन्ध में कोई आग्रह या दुराग्रह नहीं प्रकट किया है, केवल आस्था एवं संकल्प का आह्वान किया है। लेखक ने एक स्थान पर कहा है, "साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं··· मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाशी शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है, जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा···एटम 'ब्रेक' कर रहा है।···मकड़ी के जाल की तरह।···चारोंओर एक महा अंधकार! सब वाष्प! प्रकृति पुरुष···अण्ड-पिण्ड। मिट्टी और मनुष्य के शुभचिन्तकों की एक छोटी-सी टोली अँधेरे में टटोल रही है। अँधेरे में वे आपस में टकराते हैं। ··वेदान्त···भौतिक सापेक्षवाद···मानवतावाद! हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याघ्र के तीर से जख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले? यह अँधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूँजती है, पवित्र वाणी। फिर कैसा भय? विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है।" यही कारण है कि प्रशान्त कहता है, "मैं फिर काम शुरू करूँगा। यहीं, इसी गाँव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूँगा। ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले। कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये होठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ···।" यह लेखक के स्वस्थ दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है, जो ऊपर से आरोपित नहीं है। प्रशान्त के माध्यम से उसने कर्म पर बल दिया है और यह बताने का प्रयत्न किया है कि कोई व्यवस्था निष्क्रियता से नहीं, सक्रियता से ही परिवर्तित हो सकती है। इसके साथ ही लेखक का यह भी उद्देश्य रहा है कि शोषण का अन्त कोई शक्ति नहीं करेगी, कोई कानून या सरकार नहीं। उसके लिए शोषित लोगों को स्वयं तैयार होना होगा और अपने अधिकारों की रक्षा करनी होगी। यदि वे स्वयं अपने को नहीं पहचानेंगे तथा अपना शोषण होने देंगे, तो इस स्थिति से बचने का कोई विकल्प ही नहीं है। इसके लिए उसने किसी क्रान्ति की बात नहीं की है, केवल जागरण का सन्देश दिया है।

इस उपन्यास में मेरीगंज गाँव धीरे-धीरे जागने की प्रक्रिया में ही गतिशील होता है। बनते सम्बन्ध टूट रहे हैं, टूटते सम्बन्ध नए रूप धारण कर रहे हैं। गाँव की जिन्दगी में जहाँ नयापन आ रहा है, वहीं एक विक्षुब्ध-विषाक्त वातावरण भी निर्मित हो रहा है। जहाँ पहले संस्कृति थी, मनुष्य का मनुष्य पर विश्वास था, वहीं आज मूल्यहीनता, विश्वास की कमी तथा ईर्ष्या-द्वेष इस अभाव को भर कर रहा है। पहले जीवन का एक नैतिक धरातल था, अब कोई नैतिक मानदण्ड नहीं रह गया है। जहाँ पहले चुपचाप अन्याय सहन करते जाते थे, वहाँ अब लोग जागरूक होते जा रहे हैं और कोई अन्याय सहन करने को तैयार नहीं है। होरी

आज के गांव में है, पर उसे शोषण से बचाने वाले अनेक गोवर आज के गाँवों में सक्रिय हो गए हैं, 'मैला आंचल' में यही दर्शाया गया है। इसकी एक अन्य विशेषता यह है कि यह सामाजिक चिन्तनधारा से तो जुड़ा ही हुआ है, यह वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं से भी असम्पृक्त नहीं है। राजनीतिक उपन्यासों की सबसे बड़ी खराबी, विशेषतः हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में यह है कि लेखक अपने को तटस्थ नहीं रख पाता और किसी-न-किसी मतवाद का शिकार बन जाता है और किसी राजनीतिक विचारधारा का पक्षधर। यह प्रवृत्ति लेखक की कला एवं दृष्टि पर इतनी हावी हो जाती है कि मानवीयता की बात तो दूर, संवेदनशीलता तक जाती रहती है। जहां इससे बचने की कोशिश की जाती है, वहाँ उपन्यास केवल रोचक किस्से बनकर रह गए हैं (जैसे, गुरुदत्त के उपन्यास) या अखबार की दिलचस्प रिपोर्टिंग (जैसे, यशपाल के उपन्यास) या केवल चटखारे ले-लेकर विवरण मात्र दे देना (जैसे, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास)। जब यह भी नहीं होता, तो वह मतवादों की संकीर्ण-तंग गलियों से गुजरने लगता है (जैसे, यशपाल, अमृतराय या राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास)।

वस्तुतः हिन्दी में राजनीतिक उपन्यासों की कोई स्वस्थ परम्परा नहीं है और जिन दूसरे उपन्यासों में राजनीति का समावेश हुआ भी है, वहाँ उसका बहुत कलात्मक समन्वय नहीं हो पाया है। रेणु की विशेषता यह रही है कि 'मैला आँचल' में उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ा संतुलित चित्रण किया है। न किसी को ऊपर उठाने की कोशिश की है, न किसी को सायास नीचे गिराने की। वस्तुतः जिस घुटनभरी जिन्दगी की कशमकश उन्होंने चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण इतना घुल-मिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता। रेणु की निर्वैयक्तिकता एवं तटस्थता ने उसे और भी गहरा रंग दिया है। वे कहीं भी मताग्रही नहीं प्रतीत होते। उन्होंने वास्तव में एक व्यापक मानवतावाद की स्थापना करने की चेष्टा की है। कोई भी राजनीतिक विचारधारा मनुष्य की अवहेलना करके, मानव-मूल्यों की उपेक्षा करके तथा मानवीयता का तिरस्कार करके न तो जीवित रह सकती है और न मानव-मन को स्पर्श ही कर सकती है। रेणु ने 'मैला आँचल' में यही सिद्ध करने की चेष्टा की है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज सामाजिक एवं राजनीतिक विघटन केवल इसीलिए बढ़ रहा है क्योंकि सभी राजनीतिक जनता से दूर जा पड़े हैं और अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं क्षुद्रता के संकीर्ण दायरों में पनप रहे हैं।

'मैला आंचल' की इन विशेषताओं के बावजूद सबसे बड़ी सीमा पात्रों का निर्वाह है। यह सच है कि इस उपन्यास में रेणु कोई भी ऐसा पात्र नहीं दे सके हैं, जो होरी ('गोदान'), मृणाल ('त्यागपत्र'), शेखर ('शेखर : एक जीवनी') या परमात्मा बाबू ('सुबह अँधेरे पथ पर') की तरह अपने युग या समाज का जीवन्त प्रतीक बन सके और अविस्मरणीय रूप में हमारे मन पर छाया रहे।

बावनदास तथा प्रशान्त में इसकी बड़ी सम्भावनाएँ थी, लेकिन लेखक समस्याओं एवं परिस्थितियों में इतना उलझकर रह गया है कि इसका उसे अवकाश ही नहीं मिला है। इन पात्रों के माध्यम से वह कथानक के बिखराव को समेटकर एकरसता भी उत्पन्न कर सकता था, पर पता नहीं क्यों उसने यह नहीं किया है। सारा कथानक न्यूज-रील की भाँति इतनी तेजी से घूमता रहता है कि कोई दृश्य अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ पाता। इसमें प्रवाह की तीव्रता इसकी विशेषता भी है, सीमा भी। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। लोकभाषा के परिचय से स्थानीय रंग उभरता है और उपन्यास में अधिक आत्मीयता आती है, पर एक विशेष सीमा के बाद इसका अतिशय प्रयोग खटकने लगता है और कथानक की स्वाभाविक गति बाधित होती है। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद 'मैला आँचल' ने हिन्दी उपन्यासों को एक नया मोड़ दिया है, इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता और यही उसकी उपलब्धि भी है।

○ ○ ○